स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली

स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली
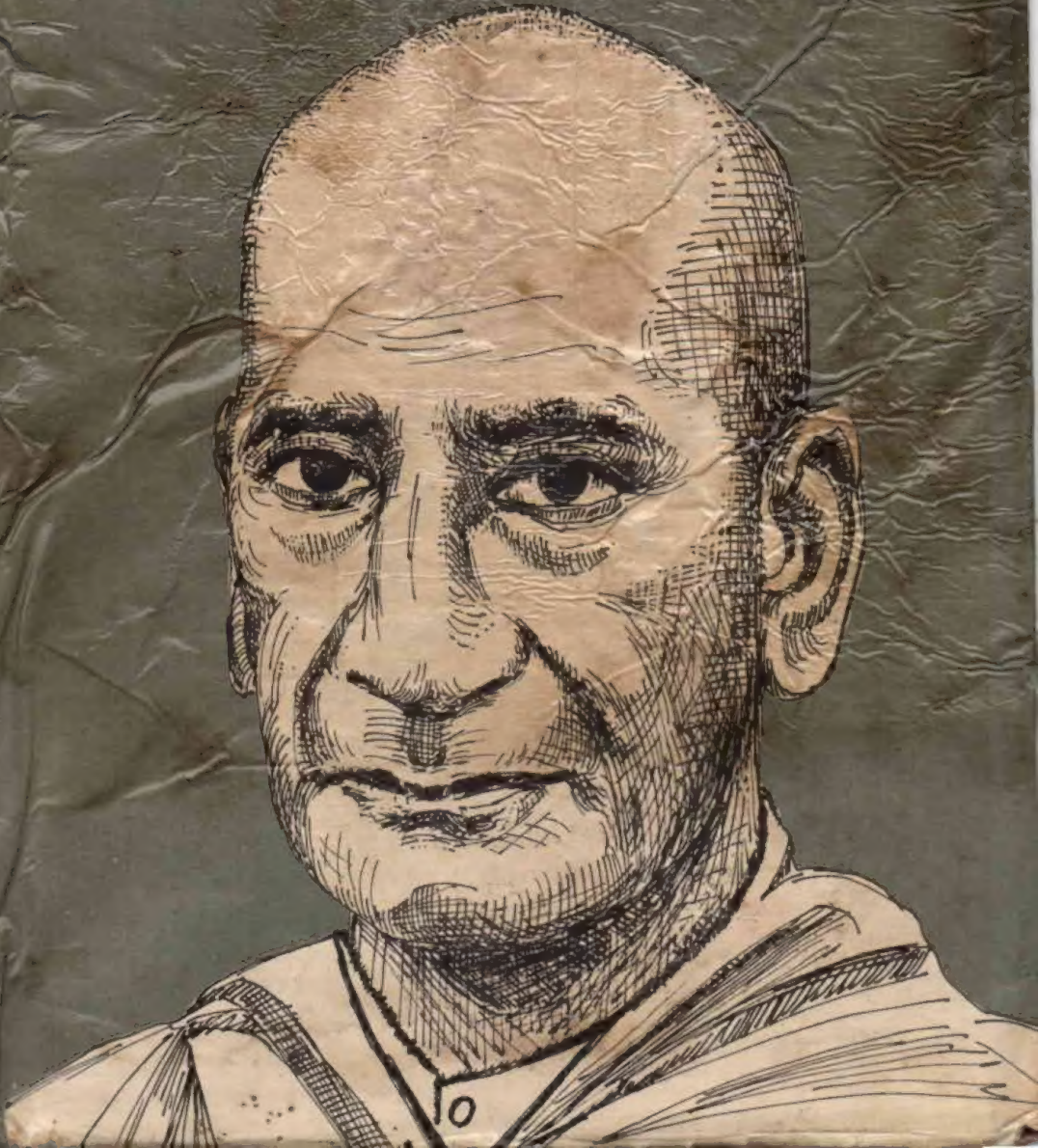
श्रद्धानन्द ग्रन्थावली: ग्यारह खण्डों में

राष्ट्र पुरुष श्रद्धानन्द ने भारत में धर्म, समाज, संस्कृति तथा शिक्षा के क्षेत्र में चौमुखी क्रांति का सूत्रपात किया था। उन्होंने स्वयं को कल्याण मार्ग का एक ऐसा पथिक बताया जो ऋषि दयानन्द के दिव्य जीवन से प्रेरणा लेकर निज के तथा संसार के कल्याण हेतु निरन्तर प्रगति पथ पर आगे बढ़ता ही रहा। स्वामी श्रद्धानन्द जहाँ एक निष्ठावान धर्म प्रचारक, समाज सुधारक, शिक्षा शास्त्री तथा स्वाधीनता संग्राम के अजेय सेनानी थे, वहाँ वे सरस्वती के वरद पुत्र भी थे। उन्होंने हिन्दी, उर्दू, तथा अंग्रेजी में विपुलकाय ग्रंथों का प्रणयन किया है। उनके सभी ग्रथों का प्रामाणिक और अधिकृत संस्करण श्रद्धानन्द ग्रंथावली के ग्यारह खण्डों में प्रथम बार प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें स्वामी जी की स्वलिखित आत्मकथा के अतिरिक्त उनका संस्मरणात्मक साहित्य (बंदी जीवन के विचित्र अनुभव तथा इनसाइड कांग्रेस), वेदाधारित धर्मोपदेश, स्वामी दयानन्द के जीवन और व्यक्तित्व का मूल्यांकन परक साहित्य तथा धर्म समाज के इतिहास की स्मरणीय घटनाओं को लिपिबद्ध करने वाली रचनाएं एक साथ ही उपलब्ध कराई गई है। 'आर्य समाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टर्स ए विण्डिकेशन' जैसे दुर्लभ किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रामाणिक अनुवाद को भी ग्रन्थावली में समाविष्ट किया गया है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के उर्दू में संकलित 'कुलियात संन्यासी' तथा सद्धर्म प्रचारक व अन्य पत्र पत्रिकाओं से उनके लेख व शास्त्रार्थों का संग्रह सम्पादन तथा अनुवाद भी ग्रन्थावली के दो खण्डों में समाया है।

ओ३म्

स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली

खण्ड छह

'वेद और आर्यसमाज' 'मातृभाषा का उद्धार'
'पारसीमत और वैदिक धर्म' 'जाति के दीनों को मत त्यागो'
'मुक्ति सोपान' 'रामायण रहस्य कथा'
'मनुस्मृति की भूमिका'

सम्पादक
डॉ० भवानीलाल भारतीय
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द शोध पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-6

प्रकाशक
विजय कुमार
गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क, दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९८७

मूल्य : ६० रुपये

मुद्रक
अजय प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

सम्पादकीय भूमिका

श्रद्धानन्द ग्रन्थावली के वर्तमान खण्ड में हम स्वामी जी द्वारा लिखित कुछ लघु आकार के किन्तु विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। पर्याप्त समय पूर्व 'आर्यधर्म ग्रन्थमाला' शीर्षक से स्वामी जी ने कुछ ग्रन्थों को लिखकर प्रकाशित किया था। इनमें से पाँच ग्रन्थ जो हमें सुलभ हो सके हैं, उनमें से भी तीन गुच्छक इस खण्ड में दिये गए हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

वेद और आर्यसमाज

यह इस ग्रन्थमाला का छठा पुष्प है। विषय की गुरुता को देखकर ही श्री मुंशीराम ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें एक ओर जहाँ वे स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की वेदविषयक स्थिति को स्पष्ट करना चाहते थे, वहाँ इस बात पर भी जोर देने के इच्छुक थे कि सामान्य आर्यसमाजियों को ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों की प्रामाणिकता को लेकर किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। दयानन्द-रचित सत्यार्थप्रकाश वैदिक सिद्धान्तों का दिग्दर्शक एक प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ तो है, किन्तु उसे आर्यसमाजियों की बाइबिल कहना भूल होगी।

इसी प्रसंग में लेखक ने उन भ्रान्तियों का भी निराकरण कर दिया है, जो यदा-कदा जाने-अनजाने आर्यसमाज में फैलाई जाती रही हैं। उदाहरणार्थ, हमारे कई विद्वानों का आग्रह या दुराग्रह इस बात को सिद्ध करने में रहता है कि स्वामी दयानन्द के नाम से प्रकाशित ग्रन्थों की एक-एक पंक्ति स्वयं दयानन्द की लेखनी से ही लिखी हुई है। परन्तु इस सम्बन्ध में श्री मुंशीराम द्वारा प्रदत्त स्पष्टीकरण पूर्ण तथ्यपरक तथा उनकी निजी गवेषणाओं पर आधारित है। उन्होंने इस विषय का स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है—"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और वेद-भाष्य में संस्कृत-भाग जहाँ ऋषि दयानन्द का लिखाया हुआ है, वहाँ आर्यभाषा का अनुवाद सब भीमसेन और ज्वालादत्तादि पण्डितों का है। वेदांगप्रकाश के तो सारे भाग बनाए ही पण्डितों ने थे और सत्यार्थप्रकाश में भी उन्होंने बहुत हाथ-पैर मारने का प्रयास किया है।" अपने वाक्य के अन्तिम अंश की पुष्टि में लेखक ने आर्यसमाज में मांसाहार-समर्थक पक्ष द्वारा उठाये गये एक ऐतिहासिक विवाद का उल्लेख कर यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार सत्यार्थप्रकाश की पाण्डुलिपि के

एक पृष्ठ के हाशिये पर मांसाहार-समर्थक वाक्य लिख दिये गये, जिन्हें मुंशी समर्थदान की जागरूकता के कारण ही हटाया जा सका था।

मातृभाषा का उद्धार

पंजाब जैसे गैर-हिन्दीभाषी प्रान्त में जन्म लेकर तथा उर्दू-अंग्रेजीप्रधान शिक्षा प्राप्त करके भी श्री मुंशीराम ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के अभ्युत्थान और सार्वत्रिक विकास के लिए जो कार्य किया, वह हमारे राष्ट्रभाषा आन्दोलन के इतिहास का एक गौरवपूर्ण पृष्ठ है। उनकी हिन्दी-सेवाओं को सदा आदर के साथ याद किया जायगा। श्री मुंशीराम ने लोगों की मांग पर तथा उनके यह कहने पर कि हिन्दी का समर्थन करनेवाले मुंशीराम जी अपना साप्ताहिक पत्र 'सद्धर्मप्रचारक' उर्दू में क्यों निकालते हैं, अविलम्ब सद्धर्मप्रचारक को हिन्दी में निकालना आरम्भ कर दिया। उन्होंने इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं की कि ऐसा करने से उन्हें आर्थिक क्षति भी उठानी पड़ सकती है। इसी प्रकार स्वस्थापित गुरुकुल कांगड़ी में जब उन्होंने महाविद्यालय-स्तर की शिक्षा आरम्भ की, तो भौतिकी, जैविक, रसायन आदि विज्ञानों की पढ़ाई का माध्यम भी हिन्दी ही रक्खा तथा राजनीति, विज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास जैसे सामाजिक विषयों की उच्चस्तरीय शिक्षा का प्रबन्ध भी हिन्दी माध्यम से ही किया। उस समय उपर्युक्त विषयों को पढ़ाने के लिए उपयुक्त पाठ्यग्रन्थों का हिन्दी में सर्वथा अभाव ही था, किन्तु श्री मुंशीराम ने गुरुकुल कांगड़ी के ही अनेक विद्वान् उपाध्यायों को प्रेरणा देकर न केवल स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण कराया, अपितु उन्हें गुरुकुल से प्रकाशित भी किया।

श्री मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) की इन्हीं हिन्दी सेवाओं को ध्यान में रखकर १९१३ ई० में भागलपुर में आयोजित चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष-पद उन्हें प्रदान किया गया। अध्यक्षीय भाषण लिखने के लिए यद्यपि उनके पास बहुत कम समय था, तथापि उन्होंने "मातृभाषा का उद्धार" शीर्षक से अपना यह वक्तव्य परिश्रमपूर्वक तैयार किया और यथावसर वह सम्मेलन में पढ़ा भी गया। कालान्तर में यही भाषण आर्यधर्म ग्रन्थमाला की सातवीं भेंट के रूप में १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ। इस विद्वत्तापूर्ण भाषण में वक्ता ने नागरी लिपि की महत्ता, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार किये जाने के औचित्य, भारत की प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी का सामंजस्यपूर्ण समभाव तथा कुछ अन्य समस्याओं का सतर्क विवेचन किया है। यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्त्व की तो है ही, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्थापित किये जाने में हमारी तात्कालिक असफलता के संदर्भ में और भी अधिक प्रासंगिक है।

पारसी मत और वैदिक धर्म

आर्यधर्म ग्रन्थमाला का यह अन्तिम उपहार तुलनात्मक धर्म के विद्यार्थियों के अध्ययन की दृष्टि से लिखा गया है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य श्री मुंशीराम अपने छात्रों को आर्यसिद्धान्त का विषय स्वयं पढ़ाते थे और इसी अध्यापन के दौरान वे छात्रों को धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर जोर देते थे। पारसी मत की वैदिक धर्म से निकटता तो एक सर्वज्ञात तथ्य है। कालान्तर में पं० गंगाप्रसाद ने धर्म का आदिस्रोत (The Fountain of Religion) शीर्षक ग्रन्थ लिखकर उपर्युक्त विषय को और अधिक स्फुट किया था। आलोच्य ग्रन्थ श्री मुंशीराम के Lecture Notes का ही पुस्तकाकार रूप है। महात्मा ने जरथुस्त्र-प्रवर्तित पारसी मत तथा उसके मान्य ग्रन्थ जेंदावस्ता में निरूपित मन्तव्यों की तुलना आर्य सिद्धान्तों से करने के साथ-साथ इसमें अवेस्ता की भाषा से वैदिक संस्कृत की तुलना कर दोनों भाषाओं की समानता को भी स्पष्ट कर दिया है। निश्चय ही इस अध्ययन को प्रस्तुत करने में विद्वान् लेखक ने पारसी मत के पाश्चात्य अध्येता मार्टिन हॉग तथा कतिपय अन्य विद्वानों के ग्रन्थों से भी सहायता ली है। पुस्तक के महत्त्व का आकलन इसी दृष्टि से करना चाहिए कि सत्तर वर्ष पूर्व भी तुलनात्मक धर्म जैसे विषय के एक अंग को हिन्दी में विवेचित करने में श्री मुंशीराम ने कैसी तत्परता प्रदर्शित की थी।

जाति के दीनों को मत त्यागो

श्रद्धानन्द ग्रन्थावली के इस खण्ड में स्वामी श्रद्धानन्द का एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'जाति के दीनों को मत त्यागो' शीर्षक भी दिया गया है। इसमें विद्वान् लेखक ने भारत में ईसाई मत के प्रसार का ऐतिहासिक विवरण तो दिया ही है, स्वमत-प्रचार के लिए रोमन कैथोलिक पादरियों द्वारा अपनाये गये घृणित कारनामों तथा उनकी षड्यंत्रपूर्ण प्रवृत्तियों का भी पर्दाफाश किया है। साथ ही विगत शताब्दी में ईसाई मत ग्रहण करनेवाले दिल्ली के प्रोफेसर रामचन्द्र आदि के मत-परिवर्तन की पृष्ठभूमि को भी उजागर किया गया है। धर्म-प्रचार के लिए ईसाई पादरियों द्वारा प्रयुक्त छल-कपट और धूर्ततापूर्ण हथकण्डों की जानकारी प्राप्त करने के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन भी आवश्यक है।

मुक्ति सोपान

'मुक्ति सोपान' के तीन क्रमिक सोपानों में परम मुक्ति के यथार्थ स्वरूप को स्वामी श्रद्धानन्द जी ने जिस सरलता से दर्शाया है और वेदमंत्रों की व्याख्या के साथ जिस मार्मिक शैली में प्रस्तुत किया है, वह इतनी प्रभावपूर्ण है कि पाठक के मानस पर अपनी शाश्वत छाप छोड़े बिना नहीं रहती।

रामायण रहस्य कथा

स्वामी जी द्वारा महर्षि दयानन्द की जन्मभूमि टंकारा में रामायण पर एक धार्मिक कथा की गई थी, वह भी इसमें दी जा रही है।

गोखले : एक संस्मरण

गोपालकृष्ण गोखले विषयक उनके संस्मरण भी इसी खण्ड में दिये जा रहे हैं।

मनुस्मृति की उपादेयता

गुरुकुल कांगड़ी के पाठ्यक्रम में मनुस्मृति पढ़ाई जाती रही है। उस मूल पुस्तक की विद्वत्तापूर्ण भूमिका स्वामी जी ने लिखी थी। वह भूमिका भी पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

इस खण्ड में प्रकाशित पुस्तकों में से कुछ की प्रतियाँ तो मेरे निजी पुस्तकालय में ही थीं। पारसी मत और वैदिक धर्म की प्रति उपलब्ध कराने के लिए पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का आभारी हूँ।

—भवानीलाल भारतीय

पंजाब विश्वविद्यालय,
चंडीगढ़
भाद्रपद पूर्णिमा २०४४ वि०

आर्यधर्म-ग्रन्थमाला

प्रस्तावना

वैदिक धर्म और उसके मूल सिद्धान्तों पर व्याख्यान देते हुए, मुझे भूमिका रूप से एक ऐसा लघुग्रन्थ लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिससे आर्य-समाज की संस्था में वेदों का ठीक पद ज्ञात हो सके। उसी समय मैंने इस विषय पर, पाँच लेख सद्धर्म्म-प्रचारक में दिए थे जो अब सर्वसाधारण के सामने रखता हूँ।

गुरुकुल विश्वविद्यालय
२६ कार्त्तिक, १९७३
(१० नवम्बर, १९१६)

—मुंशीराम जिज्ञासु

ओ३म्

षष्ठ गुच्छक

वेद और आर्यसमाज

प्रस्तावना—वेद और आर्यसमाज का आधाराधेय सम्बन्ध है। आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द थे, इस संस्था के निर्माता आचार्य वही थे और इसलिए यदि हमें यह जानना हो कि आर्यसमाज की आधारशिला क्या है तो उन्हीं से पूछना चाहिए। उनके मुख्य ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के सातवें समुल्लास के अन्त में वेद विषय पर विचार करते हुए और सर्वमान्य पथप्रदर्शक का वर्णन करते हुए, इस प्रकार लिखा है—

"वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त और छन्दादि ग्रन्थ ऋषि-मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिए किये हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे तो कोई कुछ भी न बना सके, इसलिए वेद परमेश्वरोक्त हैं, इन्हीं के अनुसार **सब लोगों को** चलना चाहिए। और जो कोई किसी से पूछे तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि **हमारा मत वेद** अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उसको मानते हैं।" आचार्य ने वेद को ही जनता का माननीय मत क्यों बतलाया ? क्या वह भी अन्यों की तरह मतवादी थे ?

ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में ही वह लिखते हैं—"जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है···इसीलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।" फिर लिखा है—"यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसा ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ वर्त्तता हूँ·········मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।"

सत्य की ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करनेवाला महानुभाव कभी भी मताग्रही नहीं हो सकता। इसलिए कि वेद हमारे पूर्वजों के समय से धर्म-पुस्तक माने जाते रहे हैं; दयानन्द उसपर विमोहित न था। उठते, बैठते, सोते, जागते उसे इसलिए वेदों का स्मरण न होता था कि वे भारतवर्ष में चिरकाल से स्वरसहित गाये जाते थे। ऋषि दयानन्द की वेदों पर श्रद्धा का प्रेरक कारण और ही था। ग्यारहवें समुल्लास की भूमिका में वह लिखते हैं—"यह बात सिद्ध है कि पाँच सहस्र वर्षों के पूर्व वेद मत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था क्योंकि **वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं**……।" फिर सप्तम समुल्लास में लिखा है—"जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध-गुण-कर्म-स्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुण वाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत, अन्य नहीं; और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हों वह ईश्वरोक्त।" यहाँ ऋषि दयानन्द ने **पुस्तक** शब्द का प्रयोग संसार में प्रसिद्ध शैली के अनुसार कर दिया है; वास्तव में वह वेद को क्या मानते हैं इस प्रश्नोत्तर से विदित होता है—"(प्रश्न) क्या यह पुस्तक भी नित्य है? (उत्तर) नहीं, क्योंकि पुस्तक तो पत्रे और स्याही का बना है, वह नित्य कैसे हो सकता है! किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध हैं वे नित्य हैं।"

ग्यारहवें समुल्लास की भूमिका में ऋषि दयानन्द फिर लिखते हैं—"वेदों की अप्रवृत्ति होने के कारण महाभारत युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृत्ति से, अविद्यान्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से, मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया। उन सब मतों में चार मत अर्थात् जो वेद-विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सब मतों के मूल हैं, वे क्रम से एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा चला है…।" जब तक वेदरूपी सूर्य का उदय रहा और उसका पूरा प्रकाश पड़ता रहा तब तक किसी भी अन्य प्रकाश की आवश्यकता न थी, परन्तु महाभारत युद्ध के उठाये हुए बादलों की ओट में जब वैदिक सूर्य आ गया, उसी समय मनुष्यों को अपने लिए परिमित प्रकाशों की आवश्यकता हुई। जिस प्रकार रात्रि में अपनी योग्यता तथा शक्त्यानुसार मनुष्य दिया, लैम्प, गैस और विद्युत् के प्रकाश से काम लेते हैं उसी प्रकार इस अन्धकार के समय में मनुष्य-समाज ने अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार मतों तथा सम्प्रदायों की बुनियाद डाली।

वेद के इस उच्च स्थान का समर्थन केवल ऋषि दयानन्द ही नहीं करते। भारतीय होने के कारण सन्देह हो सकता है कि अपने पूर्वजों की सम्मति समझकर ही दयानन्द ने वेद को संसार में फैले हुए ज्ञान का स्रोत माना हो, परन्तु उनसे

पहले भी विदेशी निर्पेक्ष[1] विद्वान् यही साक्षी देते रहे हैं। उदाहरण मात्र के लिए यहाँ फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक Louis Jacolliot (लुई जेकॉलियट)[2] की पुस्तक Bible in India में से कुछ उद्धरण दिये जाते हैं जिनसे सिद्ध होगा कि ऋषि दयानन्द का विश्वास निराधार नहीं है। पृ० ५० पर जेकॉलियट ने लिखा है—

"In point of authenticity, the Vedas have incontestible precedence over the most ancient records. These holy books which, according to the Brahmans, contain the revealed word of God, were honoured in India long before Persia, Asia minor, Egypt and Europe, were colonized or inhabited."

प्रमाणता की दृष्टि से बहुत ही पुराने लेख-पत्रों पर भी वेदों का प्राचीनत्व निर्विवाद है। ये पवित्र पुस्तकें, जो ब्राह्मणों के मतानुसार परमात्मा की विकसित वाणी हैं, भारतवर्ष में उस समय से बहुत पहले सम्मानित थीं जबकि अभी फारस, लघु एशिया, मिश्रदेश तथा यूरोप में न अधिनिवेश हुआ और न वे बसाए गए थे।

इसी विषय पर प्रसिद्ध संस्कृतज्ञों के अगुआ 'सर विलियम जोन्स' लिखते हैं—

"We cannot refuse to the Vedas the honour of an antiquity the most distant."

वेदों को ही अति प्राचीन होने का यश प्राप्त है इससे इन्कार नहीं हो सकता। इसीलिए महाशय जेकॉलियट लिखते हैं—

"India is the world's cradle: thence it is that the common mother in sending forth her children even to the utmost west, has in unfading testimony of our origin bequeathed us the legacy of her language, her laws, her Morale, her literature, and her religion. Traversing Persia, Arabia, Egypt, and even forcing their way to the cold and cloudy north far from the sunny soil of their birth, in vain they may forget their point of departure, their skin may remain brown or become white from contact with snows of the west, of the civilizations founded by them splended kingdoms may fall, and leave no trace behind but some few ruins of sculptured columns, new people may rise from the ashes of the first; new cities flourish on the site of the old, but time and ruin united fail to obliterate the ever legible stamp of origin."

---

१. निष्पक्ष

२. फ्रेंच उच्चारण के अनुसार इसे 'जाकोल्यो' कहा जाएगा। —सम्पादक

भारतवर्ष संसार का पंघूड़ा[1] है। वहीं से सबकी माता ने अपने बच्चों को दूर-से-दूर पश्चिम भेजा है और अपना उद्भव याद दिलाने के लिए अपनी भाषा, राज-नियम, आचार, साहित्य और धर्म का दायभाग दिया है। वे फारस, अरब और मिस्र में घूम जाएँ, उनसे भी आगे अपनी सूर्य-सुखदा मातृभूमि से दूर सर्द और धुँधले उत्तर में पहुँच जायँ, वे अपने निकास को भुलाने का व्यर्थ यत्न करें या उनकी चमड़ियाँ गंदमी रहें या बर्फ के सम्बन्ध से सफेद हो जाएँ, उन द्वारा स्थापित की हुई सभ्यताओं में से बड़े-बड़े राज्यों का नाश हो जाय और पीछे थोड़े-से टूटे-फूटे विचित्र खम्भों के अतिरिक्त और कुछ शेष न छोड़ जायँ, पुरानी नगरियों के खण्डरात पर नई नगरियाँ बस जायँ, किन्तु समय और नाश मिलकर भी उनपर से उत्पत्ति-स्थान के स्पष्ट ठप्पे को नहीं मिटा सकते।

"The legislator Manu, whose authenticity is incontestible, dates back more than three thousand years before the Christian era; the Brahmans assign him a still more ancient epoch. What instructions for us, and what testimony almost material, in favour of the oriental chronology, which, less ridiculous than ours (based on Biblical traditions) adopts, for the formation of this world, an epoch more in harmony with science."

शासक मनु, जिसका प्रमाण अकाट्य है, का समय ईसाई संवत् से ३ हजार वर्ष पहले का है; ब्राह्मण उसका इससे भी पुराना समय बतलाते हैं। हमारे लिए कैसी शिक्षा है, और पूर्वीय काल-परिचय की प्रणाली के पक्ष में क्या ही पुष्ट प्रमाण है (जो हमारी बाइबिल पर आश्रित काल-परिचय-प्रणाली की अपेक्षा कम उपहास-जनक है)और सृष्टि-रचना के लिए हमारी अपेक्षा बहुत अधिक वैज्ञानिक युग स्वीकार करती है।

The Sowrya Sidanta[2] would retrodate many millions of years and on this subject Halhed the translator of the Shastras, makes the remark, that no people possess annals of an authority so incontestible as those transmitted to us by the ancient Brahmans; and in support of his assertion, mentions a book written more than four thousands years ago which gives a retrospective history of the human race of many millions of years.

This chronology has nothing of exaggeration for Hindoos; on the contrary it logically accords with their belief; which admit the existence of matter from all eternity with God.

---

१. पंजाबी शब्द है। इसका अर्थ है—पालना।

२. 'सूर्यसिद्धान्त' अंग्रेजी की पुरानी वर्तनी के अनुसार।

सूर्यसिद्धान्त लाखों साल पीछे जाता है और इस विषय पर शास्त्रों का अनुवादक हालहड कहता है कि किसी भी जाति के पास इतने अधिक प्रामाणिक ऐतिहासिक वृत्त नहीं हैं, जितने कि पुराने ब्राह्मणों द्वारा हम तक पहुँचाये हुए हैं। और इस स्थापना की पुष्टि में वह चार हजार से अधिक वर्ष पहले लिखी हुई एक पुस्तक का प्रमाण देता है, जिसमें मनुष्य-जाति का लाखों साल पुराना इतिहास दिया हुआ है। यह काल की दीर्घता हिन्दुओं को अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती प्रत्युत उनके विश्वासों के साथ सर्वथा मिलती है, क्योंकि वे परमात्मा के साथ प्रकृति को भी नित्य ही मानते हैं।

"We shall presently, see Egypt, Judea, Greece, Rome, all antiquity, infact, copies Brahminical society in its castes, its theories, its religious opinion, and adopts its Brahmins, its priests, its levites as they had already adopted the language, legislation and philosophy of the ancient Vedic Society whence their ancestors had departed through the world to dessiminate the grand ideas of primitive revelation."

"हम देखेंगे कि मिश्र, जूडिया, यूनान, रोम—सर्व प्राचीन देश—अपने जाति-भेद, अपनी कल्पनाओं, अपने धार्मिक विचारों में ब्राह्मण समाज का ही अनुकरण करते हैं और इसके ब्राह्मणों, इसके पुरोहितों, इसके याज्ञिकों को स्वीकार करते हैं, जिस प्रकार कि पहले से ही उस प्राचीन वैदिक समाज की भाषा, धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र को अंगीकार किया था जिससे (वैदिक समाज) उनके पुरुषा सारे भूगोल में प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान के उच्च विचारों को फैलाने के लिए निकले थे।" जिस समय अभी बालक दयानन्द शायद अक्षराभ्यास ही करने लगा था उस समय फ्रांस का तत्त्ववेत्ता दिव्य दृष्टि से दर्शन करके साक्षी देता है कि सारा ज्ञान भूमण्डल में ब्राह्मण धर्म अर्थात् वेद से फैला और जिस समय उस ज्ञान का विस्तार हुआ उसे भी इसी पुण्य भूमि के ब्राह्मणों ने ही प्रसरण किया।

धर्म वा मत—अपना मत सब मनुष्यों को **वेद** बतलाते हुए, ऋषि दयानन्द ने, मत शब्द का प्रयोग उसके साधारण यौगिक अर्थ (**मन्तव्य**) में किया है; जो मनुष्यमात्र का मन्तव्य है वही उनका धर्म भी है। परन्तु मत शब्द योगरूढ़ि अर्थों में भी प्रयुक्त होता है और उस समय उसके अर्थ **सम्प्रदाय** के होते हैं। ऐसा ऋषि दयानन्द मानते थे, जो नीचे के उद्धरण से सिद्ध होता है—"(प्रश्न) आप सबका खण्डन ही करते आये हो परन्तु आपने अपने धर्म (यहाँ मतवादी ने धर्म शब्द का प्रयोग मत के अर्थों में किया है) में सब अच्छे हैं, खण्डन किसी का न करना चाहिए..................(उत्तर) धर्म सबका एक होता है वा अनेक? जो कहो अनेक होते हैं तो एक-दूसरे से विरुद्ध होते हैं वा अविरुद्ध? जो कहो कि

अविरुद्ध हैं तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है, इसलिए धर्म और अधर्म एक ही है।" (समुल्लास ११, पृ० ४०६) फिर जिज्ञासु द्वारा सर्व सम्प्रदायों की पड़ताल कराके पृ० ४११ पर लिखा है—"फिर आगे चला तो सब मतवालों ने अपने को सच्चा कहा.........उनके परस्पर एक-दूसरे का विरोध देख विशेष निश्चय किया कि इनमें कोई गुरु करने योग्य नहीं क्योंकि एक-एक के झूठ में नौ सौ निन्यानवे गवाह हो गए......ऐसा जान......उस सत्य के विज्ञानार्थ वह......हाथ जोड़, अरिक्त-हस्त होकर वेदवित् ब्रह्मनिष्ठ, परमात्मा को जाननेहारे, गुरु के पास जावे...... जब वह ऐसे पुरुष के पास जाकर बोला कि महाराज! अब इन सम्प्रदायों के बखेड़े से मेरा चित्त भ्रान्त हो गया है क्योंकि जो मैं इनमें से एक का चेला हो जाऊंगा तो नौ सौ निन्यानवे से विरोधी होना पड़ेगा.........इसलिए आप मुझको उपदेश कीजिये जिसको मैं ग्रहण करूँ। (आप्त विद्वान्) ये सब मत अविद्याजन्य विद्या-विरोधी हैं।......देख! जिस बात में ये सहस्र एकमत हों वह वेद मत ग्राह्य है और जिसमें परस्पर विरोध हो वह कल्पित, झूठा, अधर्म अग्राह्य है। (जिज्ञासु) इसकी परीक्षा कैसे हो? (आप्त) तू जाकर इन-इन बातों को पूछ, सबकी एक सम्मति हो जायेगी। तब वह उन सहस्रों की मण्डली में खड़ा होकर बोला कि सुनो सब लोगो? सत्यभाषण में धर्म है वा मिथ्या में? सब एकस्वर होकर बोले कि सत्यभाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहारादि में धर्म है वा अविद्या-ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, असत्य व्यवहार, छल-कपट, हिंसा, परहानि करने आदि कर्मों में? सबने एकमत होके कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म। तब जिज्ञासु ने सबसे कहा कि तुम इसी प्रकार सब जने एकमत हो सत्य धर्म की उन्नति और मिथ्या मार्ग की हानि क्यों नहीं करते?......(मत वाले) एकमत कभी नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्यों के गुण, कर्म, स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। (जिज्ञासु) जो बाल्यावस्था में एक-सी शिक्षा हो, सत्य-भाषणादि धर्म का ग्रहण और मिथ्या-भाषणादि अधर्म का त्याग करें तो एकमत अवश्य हो जाय। और दो मत अर्थात् धर्मात्मा-अधर्मात्मा सदा रहते हैं वे तो रहें परन्तु धर्मात्मा अधिक होने और अधर्मी न्यून होने से संसार में सुख बढ़ता है और जब अधर्मी अधिक होते हैं तो दुःख। जब सब विद्वान् एक-सा उपदेश करें तो एकमत होने में कुछ भी विलम्ब न हो...... आप्त के पास गया। उसने कहा कि महाराज! तुमने मेरा उद्धार किया, नहीं तो मैं भी किसी के जाल में फँसकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता......।"

ऊपर के लम्बे उद्धरण को पढ़ने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द धर्म और मत में स्पष्ट भेद करते हुए, सर्वसाधारण को सम्प्रदाय-रूपी मतों के जाल से छुड़ाकर एक सत्य (वैदिक) धर्म में प्रविष्ट कराना ही अपना तथा अपने

स्थापन किये हुए (आर्य) समाज का मुख्य उद्देश्य समझते थे। उनकी दृष्टि में वेद ही आर्यसमाज का मूलाधार था; अन्य सब नियम गौण तथा उसी (वेद) की रक्षा तथा प्रचार के लिए थे। यही तो कारण है कि आर्यसमाज के दश नियमों में जहाँ उन्होंने "वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, सब आर्यों का परमधर्म" बतलाया है वहाँ किसी अन्य पुस्तकविशेष वा व्यक्तिविशेष के पीछे चलना आवश्यक नहीं जतलाया। उनकी सारी पुस्तकों को पढ़ जाइए, कहीं भी वेदों का स्थान किसी अन्य ग्रन्थ को दिया नहीं मिलता। आर्ष-ग्रन्थों के पठन-पाठन पर बल देते हुए भी 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' में लिखते हैं—"२. चारों वेदों (विद्या-धर्मयुक्त, ईश्वर-प्रणीत, संहिता मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूँ, वे स्वयं प्रमाण-रूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं।"

जब वेद ही आर्यसमाज के सर्वस्व हैं और वही आर्यों की दृष्टि में सारे संसार के पथदर्शक हैं तो आर्यसमाज के अन्दर दयानन्द की क्या स्थिति है?

दयानन्द वैदिक धर्म के आचार्य हैं—ऋषि दयानन्द वैदिक धर्म के आचार्य थे, केवल यही नहीं, इस समय भी वही आचार्य हैं। इस समय आचार्य शब्द भारत के शिक्षक-समुदाय को बहुत खटकता है। अवैदिक सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों की धींगा-मुश्ती को देखकर, अपने चेलों को झूठन तक खिलाते हुए अवलोकन करके शिक्षित दल की दृष्टि में 'आचार्य' शब्द का मान सर्वथा घट गया है। परन्तु जब इस पद के शब्दार्थ पर ध्यान दें और इसके विषय में आर्ष-ग्रन्थों से आन्दोलन करें तो पता लगता है कि यह पद बड़ा ही पवित्र है। संसार की स्थिति और उन्नति के लिए आचार्यों की बड़ी भारी आवश्यकता है।

मनु महाराज आचार्य का लक्षण निम्नलिखित करते हैं—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥२।१४०॥

"जो द्विज, शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके, कल्प और रहस्य के साथ, वेद पढ़ाता है उसे **आचार्य** कहते हैं।"

निरुक्त में लिखा है—**कस्मदाचार्य आचारं ग्राहयत्या चिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमति वा।**[1] आचार्य कौन है? जो ब्रह्मचारी को आचार की शिक्षा देता है, तत्त्वों का उपदेश करता है या बुद्धि को विधिपूर्वक बढ़ाता है।

परन्तु आचार क्या वस्तु है? यह प्रश्न है। आचार की महिमा मन्वादि धर्म-शास्त्रों में बहुत की गई है। आचार और धर्म एकार्थवाची शब्द ही हैं। मनु

---

१. निरुक्त

भगवान् कहते हैं—"**आचारः परमो धर्मः।**"[1] आचार ही परम धर्म है। जो संसार को धारण कर रहा है वा जिसे धारण करना संसार का कर्त्तव्य है—वह धर्म है। अर्थात् जो धर्म है वही आचार है। पन्थाई वा साम्प्रदायिक गुरु लोग भी आचार का ही उपदेश देते हैं, परन्तु उनके मत में आचार वह है जो साम्प्रदायिक गुरु के मुंह से निकले। उनका तो यह सिद्धान्त है—"**गुरु विसनू गुरु गोरख बरमा, गुरू पारवती माई।**" इनसे भिन्न वैदिक आचार्य जिस आचार का उपदेश करेगा उसके विषय में मनु का कथन है कि उसका आधार वेद और वेदानुकूल स्मृति पर है—**आचारः परमोऽधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च॥**[2] तब जो गुरु शिष्य को न केवल ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड का शिक्षण ही करे, प्रत्युत शिष्य को तदनुकूल चलाता हुआ ब्रह्म के समीप पहुँचावे, वही आचार्य कहलाने का अधिकारी है।

अब जिस प्रकार व्यक्तिविशेष ब्रह्मचारी को शिक्षा देनेवाला उसका आचार्य कहलाता है और बड़े शिक्षणालय के सर्व ब्रह्मचारियों का एक आचार्य होता है, इसी प्रकार जब-जब वैदिक धर्म का लोप होता है तब-तब ही उसका पुनः प्रकाश करनेवाले आचार्य आते हैं और अधर्म का नाश करके धर्म की पुनः स्थापना करते हैं। इसीलिए कहा है—

आम्नायतत्वविज्ञाना च्चराचरसमानतः
यमादि योगसिद्धत्वावाचार्य इति कथ्यते॥
स्वयमाचरते शिष्यानाचारे स्थापयत्यपि।
आचिनोतिहि शास्त्रार्थमाचार्य्यस्तेन कथ्यते॥

जब संसार में अविद्यान्धकार फैल जाता है, उस समय वाणी द्वारा किया उपदेश सुनने को जनता तैयार नहीं होती। उस समय जो महानुभाव वैदिक सिद्धान्तों को समझकर उनपर स्वयं आचरण आरम्भ करते हैं उन्हीं के पीछे चलने को शुद्ध भावयुक्त जनता तैयार होती है। इसलिए जो स्वयं वेदानुकूल आचार रखता हुआ अपने अनुयायियों को भी उसी के अनुसार चलाने की शक्ति रखता हो उसी को आचार्य कह सकते हैं। आधुनिक कोषों में भी उदाहरण के लिए केवल द्रोणाचार्य तथा श्री शंकराचार्य के ही नाम मिलते हैं। किसी आधुनिक साम्प्रदायिक गुरु का नाम नहीं आता क्योंकि ये लोग आचार का वेद के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं समझते।

श्री स्वामी शंकराचार्य के पश्चात् ऋषि दयानन्द ही वैदिक धर्म के आचार्य हुए हैं। स्वमन्तव्यामन्तव्य का प्रकाश करते हुए ऋषि दयानन्द ने अपने मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

---

१. अध्याय १।१०९

२. वही

"सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य, सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी, इसीलिए उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं...अब जो वेदादि सत्य शास्त्र और **ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनिपर्यन्तों के माने** हुए ईश्वरादि पदार्थ, जिनको कि मैं भी मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मेरा कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना वा मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।...यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता.........।"

आचार्य का लक्षण यहाँ ऋषि दयानन्द ने स्वयं बतला दिया है। आचार ही परम धर्म है। परन्तु—यह आचार है, यह अनाचार है—इसकी कसौटी क्या है? जो धर्म वेद और वेदानुकूल स्मृतियों से अविरुद्ध है वह आचार, और जो वेदविरुद्ध अधर्म है वह अनाचार। इस व्यवस्था को संसार में पुनः स्थापन वा दृढ़ करने का साहस और प्रयत्न जो करे, वही आचार्य कहलाने का अधिकारी है। आचार्य का आदेश इसलिए प्रामाणिक नहीं कि उसने अपनी बुद्धि का सिक्का भोले-भाले मनुष्यों पर जमाकर उन्हें वशीभूत कर लिया है, प्रत्युत इसलिए कि पूर्व आचार्यों की न्यांई वैदिक ज्ञान की ओर ही वह निर्देश करता है और अपने चरित्र से सिद्ध करता है कि—**धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।**[1] धर्म की जिज्ञासा रखनेवालों के लिए परम प्रमाण वेद ही है।' इसीलिए ऋषि दयानन्द ने अपने दूसरे मन्तव्य में लिखा है कि जो "...महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं उनको परतःप्रमाण **अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन है उनका अप्रमाण करता हूँ।**" ऋषि दयानन्द ने यहाँ स्पष्ट कह दिया कि उनके कथन वा लेख भी वहीं तक प्रामाणिक समझने चाहिएँ जहाँ तक कि वे वेदों के अनुकूल हैं और जिस प्रकार ब्रह्मादि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में जो कुछ उन्हें वेदविरुद्ध दिखाई देता है, उसका वह प्रमाण नहीं करते, इसी प्रकार उनके लेखों वा कथन में जो कुछ वेदविरुद्ध प्रतीत हो उसका प्रमाण करना भी वैदिक-धर्मियों के लिए आवश्यक नहीं। तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऋषि दयानन्द के मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश की स्थिति क्या है?

आर्यसमाज में सत्यार्थप्रकाश का स्थान—राजकर्मचारियों ने, ईसाई पादरियों और गुप्तचरों की रिपोर्टों पर, सत्यार्थप्रकाश को "आर्यसमाज की बाइबल" (The Bible of the Arya Samaj) की उपाधि दी है, और है भी ठीक यही। "बाइबल" के अर्थ हैं पुस्तक के, और पुस्तक बना है पुस्त् (पोसयति-ते) से जिसके अर्थ आप्टे के कोष में लिखे हैं—To bind, tie (बाँधना, गूँथना)। प्रत्येक सम्प्रदाय

---

१. मनुस्मृति २।१३

के धर्मग्रन्थ का नाम पुस्तक (बाइबल, कुरान, ग्रन्थ—एकार्थवाची शब्द ही हैं) केवल इसीलिए नहीं कि उसे ग्रन्थित करके उसकी जिल्द बाँधी गई है, प्रत्युत इसलिए भी कि साम्प्रदायिक आचार्यों के आदेश उस मत के अनुयायियों को एक-दूसरे के साथ जोड़ते हैं।

सत्यार्थप्रकाश का आर्यसमाज में वही स्थान है जो ईसाई चर्च में इंजील (Bible) का, मुहम्मदी मत में कुरान का तथा खालसा पंथ में ग्रन्थसाहब का। यह व्यवस्था बृटिश राज्य की ओर से भी दी जा चुकी है। जब सन् १६०८ ई० में पंजाब के गुप्तचर दल ने रिपोर्ट की थी कि "जब तक सत्यार्थप्रकाश को जब्त नहीं किया जाता तब तक वे अमन के जिम्मेवार न होंगे," उस समय ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने पांच विचारशील उच्च पदाधिकारियों को इस विचार के लिए नियत किया था। उन महानुभावों ने सत्यार्थप्रकाश का भली प्रकार अनुशीलन करके व्यवस्था दी कि जब तक गवर्नमेण्ट बाइबल, कुरानादि का प्रचार रोकने का ज़िम्मा नहीं उठाती तब तक सत्यार्थप्रकाश को हाथ लगाना अन्याय होगा, क्योंकि इस ग्रन्थ का आर्यसमाज में वही पद है जो बाइबल का ईसाइयों में। सत्यार्थप्रकाश पुस्तक है, इसके ग्रन्थकर्त्ता को हम जानते हैं, वह आर्यसमाज के आचार्य थे और इसलिए अपने सम्प्रदाय के आचार-संगठन के लिए उन्होंने यह ग्रन्थ रचा। अतः जो मान एक सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थ का होना चाहिए, उसका अधिकार सत्यार्थ-प्रकाश को भी है; परन्तु इससे बढ़कर उसका मान करना मनुष्यों को धर्म के आदर्श से गिराना है।

बाइबल और कुरान के मुकाबिले में सत्यार्थप्रकाश की स्थिति कुछ ऊँची है। बाइबल ईसामसीह का लिखा हुआ नहीं, उसके शिष्यों ने उसके काम की समाप्ति के वर्षों बाद अपनी-अपनी स्मरणशक्ति पर निर्भर करके उसके जीवन की घट-नाओं और उसके उपदेशों को एकत्र किया था। यही व्यवस्था कुरान, ग्रन्थसाहब इत्यादि की है। परन्तु दयानन्द ने अपना ग्रन्थ स्वयं लिखवाया और छपाई के समय उसके कुछ फार्मों के प्रूफ भी देखे, इसीलिए उनके ग्रन्थ पर उस प्रकार का व्याघात दोष नहीं लग सकता, जिस प्रकार अन्य मतों सम्बन्धी धर्मग्रन्थों पर। लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि जो परस्पर-विरुद्ध तथा असम्भव लेख सन्त मैथ्यू, सन्त ल्यूक, सन्त जॉनादि ने लिखे हैं, उनके लिए मसीह जिम्मेवार है। शायद मसीह के सामने ये लेख निकलते तो वह स्वयं इनका संशोधन कर देता। तात्पर्य केवल यह है कि जहाँ सम्भव है कि इंजील, कुरानादि में बहुत-से भाव उन सम्प्रदायों के आचार्यों के मन्तव्यों के विरुद्ध घुस गये हों वहाँ सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में ऐसी सम्भावना कम है।

क्या सत्यार्थप्रकाश निर्भ्रान्त ज्ञान है?—तब क्या सत्यार्थप्रकाश को धर्म-पथ का निर्भ्रान्त मार्गदर्शक समझें? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकर्त्ता ही ठीक दे सकते हैं,

हम इतर पुरुष इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दे सकते। ईसा तो शायद ऐसा कुफ्र का दावा न करता परन्तु उसके अनुयायियों ने उसे "शब्द" ब्रह्म का ही पद प्रदान कर दिया है। परन्तु ऋषि दयानन्द ने अपने अनुयायियों को भ्रम में नहीं डाला। उन्होंने स्पष्ट माना है कि धर्म का निर्णायक तो ईश्वरीय ज्ञान वेद है, वह तो केवल अपनी योग्यता और बुद्ध्यानुसार उस सच्चे प्रकाश की ओर निर्देश मात्र करने-वाले हैं। ऋषि भूमिका में ही लिखते हैं—"इस ग्रन्थ में जो कहीं-कहीं भूल-चूक से अथवा शोधन तथा छपाने में भूल-चूक रह जाय उसको जानने-जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायगा और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका वा खण्डन-मण्डन करेगा उसपर ध्यान न दिया जायगा। हाँ, जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य-सत्य समझने पर उसका मत सगृहीत होगा।"

कैसे सरल शब्द हैं! अपने से भूल-चूक की संभावना भी स्वीकार करते हैं और शोधने-छपवाने की अशुद्धियों को भी ठीक करने के लिए हर समय तैयार हैं। यह किसलिए? इसलिए कि वह सत्य वैदिक ज्ञान फैलाने आये थे, न कि अपनी महिमा और यश फैलाने की सकाम आकांक्षा से। मेरी अपनी सम्मति तो यह है कि ईसादि महापुरुष भी ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार और उसी को पुजवाने के लिए ही आये थे और उनके अनुयायियों ने उनके असली उद्देश्य को न समझकर अपने आचार्यों की पूजा की स्थापना कर दी। सन्त जॉन की पुस्तक का आरम्भ ही बतलाता है कि मसीह 'शब्द' का प्रचार करने आया था। वह शब्द क्या है?—

In the beginning was the Word, and the Word was with God, and the Word was God. Thd same was in the beginning with God.

"आरम्भ में 'शब्द' था और शब्द परमेश्वर के साथ था और शब्द ही परमेश्वर था, वही आरम्भ में परमेश्वर के साथ था।"

ईसा ने शब्द ब्रह्म के प्रचार के लिए ही जन्म लिया था, उसके अनुयायियों ने उसी को ब्रह्म बना डाला। ऊपर के इंजीली उद्धृत लेख को पढ़कर सिखों के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह की श्रद्धामयी वाणी समझ में आ जाती है जहाँ उन्होंने यह दिखलाकर कि जिन महापुरुषों को परमेश्वर ने संसार को ब्रह्मपूजा का मार्ग दिखलाने के लिए भेजा था उन्होंने उसके स्थान में अपनी ही पूजा शुरू करा दी। अपने विषय में लिखा है—"मैं हूँ परम पुरुष को दासा।"[1]

परन्तु स्वामी दयानन्द ने भ्रमयुक्त कोई वचन ही नहीं कहा। उन्होंने स्पष्ट

१. पूरा पद्य इस प्रकार है—
जो नर मोहि ईश्वर उच्चरहिं। सो नर घोर नरक मँह परहिं॥
मैं हूँ परम पुरुष को दासा। आयो देखन जगत तमासा॥

शब्दों में लिख दिया कि सारे संसार का मानवीय धर्म-पथ-दर्शक वेद है, ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त आचार्य उसीका प्रचार करते रहे और इसलिए जैसे उनका भी वेदविरुद्ध लेख प्रमाण नहीं हो सकता वैसे ही मेरा भी लेख यदि वेदविरुद्ध हो तो, उसे न मानो। ऐसे स्पष्ट लेखों की कुछ अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता न थी परन्तु स्वार्थवश निर्बल मनुष्य बार-बार सचाई को भूल जाते हैं और इसलिए ज्ञान-नेत्रों पर, उनके अपने डाले हुए पर्दों के बारम्बार हटाने का यत्न करना पड़ता है।

सिद्धान्त की ओट में स्वार्थ-सिद्धि—आर्यसमाज में जो नित्य नये बखेड़े खड़े हो जाते है उनका कारण अधिकत: स्वार्थ और अज्ञान ही है। अज्ञान को दूर करके भाइयों के पारस्परिक द्वेष को दूर भी किया जा सकता है, परन्तु स्वार्थ ऐसे ज्ञान के मार्ग में बड़ा भारी कंटक है। उस स्वार्थ को भी ज्ञान की किरणों द्वारा छिन्न-भिन्न किया जा सकता है परन्तु उसके मार्ग में सिद्धान्तों का ढकोसला रुकावट पैदा करता है। सिद्धान्त बिना तो कोई भी दार्शनिक,धार्मिक सम्प्रदाय खड़ा नहीं रह सकता—उसपर मेरा कटाक्ष नहीं। आर्यसमाज में स्वार्थियों को सिद्धान्तों की उस समय सूझती है जब अपने किसी ऐसे भाई को नीचा दिखाना हो जिसके साथ किसी कारण से उनका द्वेष हो गया है। वह उपदेशक जो पौराणिक पंडितों के इस चैलेन्ज का, कि वे सत्यार्थप्रकाश की अशुद्धियों पर शास्त्रार्थ करेंगे, यह उत्तर देता है कि हम वैदिक हैं और वैदिक सिद्धान्तों का मूल वेद द्वारा समर्थन करेंगे। जब अपने साथ न सहमति रखनेवाले आर्य भाई से बदला लेना चाहता है तो उसमें यह छिद्र निकालता है कि उसने ऋषि दयानन्द के किसी अर्थ के अतिरिक्त एक शब्द के और अर्थ कर दिये। सत्यार्थप्रकाश में ऐतिहासिक तथा अन्य साधारण घटनाओं पर जो कुछ भी छप गया है, यदि उसी विषय पर आन्दोलन करके कोई भाई अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करे तो उसे गिरा हुआ समझा जाता है। फिर ऋषि दयानन्द क्या मानते थे और उनके शब्दों का क्या अर्थ है, यह भी ऐसे भाई स्वयं ही निर्णय करते हैं; दूसरे को उसमे ननुनच करने का अधिकार नहीं देते।

केवल द्वेष वा स्वार्थ ही इस प्रकार की स्थापनाओं के कारण नहीं होते, कभी-कभी धर्म में पूर्ण श्रद्धा का अभाव भी ऐसी निर्बलता का कारण होता है। सोलह वर्ष हुए जब ऋषि दयानन्द के लेखों के निर्भ्रान्त होने वा न होने पर 'कल्चर्ड और महात्मा पार्टियों" में विवाद चल रहा था तो हमारे कल्चर्ड भाई अपने प्रतिपक्षियों पर यह दोषारोपण करते थे कि वे स्वामी दयानन्द को वेदवत् निभ्रन्ति मानते हैं। यह दूसरी बात है कि 'महात्मा पार्टी' के सभ्य आक्षेप को अपने ऊपर अन्याय समझते थे क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा केवल यह थी कि आचार्य दयानन्द का लेख, योगी होने के कारण, उस समय तक माननीय है जब तक कि वैसा ही कोई योगी पुरुष

उसे वेदविरुद्ध न सिद्ध कर दे; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हमारे कल्चर्ड भाई दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश तथा वेदभाष्य में भूलें अवश्य मानते थे। परन्तु जब उसी समय उनके एक नेता को शास्त्रार्थ में खड़ा होना पड़ा और पं० गोपीनाथ पौराणिक की ओर से प्रश्न हुआ कि उनके विपक्षी सत्यार्थप्रकाश में भूल मानते हैं वा नहीं तो उत्तर मिला—"हम सत्यार्थप्रकाश का एक-एक शब्द ठीक मानते हैं।" यह अत्युक्ति हमारे भाई के मुंह से केवल झूठी लोकलज्जा ने ही कहलवाई। उन्होंने समझा कि यदि वह अपनी दार्शनिक युक्ति से काम लेंगे तो विपक्षी 'निगुरा' कहकर ही उन्हें मूर्खमंडली की दृष्टि में गिराकर पराजित कर देगा। सारांश यह कि सत्यार्थप्रकाश के एक-एक शब्द का समर्थन अविद्यावश, स्वार्थ और झूठी लोकलज्जा में फँसकर ही किया जाता है। इसलिये अत्यन्त आवश्यक है कि द्वेष, पक्षपात और लोकलज्जा के झूठे भय को भुलाकर सत्यार्थप्रकाश को वही पद (साम्प्रदायिक स्मृति का) प्रदान किया जावे जो उसका वास्तव में अधिकार है।

सत्यार्थप्रकाश की वास्तविक स्थिति—वेद के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध में कोई भी भूल नहीं, यह आर्यसमाज और उसके नेता आचार्य का मुख्य मन्तव्य है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए निर्भ्रान्त है। सत्यार्थप्रकाश मनुष्यकृत है और इसलिए उसमें भूल की संभावना है। प्रथम तो यही निश्चित नहीं है कि सत्यार्थप्रकाश में वही सब छपा है, जो ऋषि दयानन्द ने लिखवाया था। जहाँ छापे की अशुद्धियाँ प्रत्येक संस्करण में दिखाई देती हैं वहाँ कई स्थानों में लिखे हुए, ऋषि दयानन्द के हस्ताक्षरसहित पुस्तक में प्रत्यक्ष संशोधन करनेवाले पण्डितों का हस्तक्षेप दिखाई देता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और वेदभाष्य में संस्कृत-भाग जहाँ ऋषि दयानन्द का लिखाया हुआ है वहाँ आर्य भाषा का अनुवाद सब भीमसेन और ज्वालादत्तादि पण्डितों का है। वेदांगप्रकाश के तो सारे भाग बनाये ही पण्डितों ने थे और सत्यार्थप्रकाश में भी उन्होंने बहुत हाथ-पैर मारने का प्रयत्न किया था। मेरी इन प्रतिज्ञाओं का समर्थन उस पत्रव्यवहार पर दीर्घ दृष्टि डालने से होता है जो मैंने सम्वत् १९६६ में छपवाकर प्रकाशित किये थे। उस पत्रव्यवहार से यहाँ तक सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द के शोधे हुए पत्रों में भी भीमसेनादि परिवर्तन करके कुछ-का-कुछ छपवा देते थे। इसे सिद्ध करने के लिए एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा। व्याकरण के स्त्रैणतद्धित विषयक ग्रन्थ का एक लेख भीमसेन ने ऋषि दयानन्द के पास देखने को भेजा। वह पत्रव्यवहार के पृ० ५० से ५३ तक छपा है। उसको बड़े संशोधनों के पश्चात् ऋषि दयानन्द ने छपने को लौटा दिया। वह पृष्ठ ५४ से ५६ तक दिया गया है। इसपर ऋषि दयानन्द का नोट, प्रबन्धकर्त्ता वैदिक प्रेस के नाम, बड़ा द्योतक है—"जो कोई नोट वा विज्ञापन खंडन-मंडन और धर्मा-धर्म विषयों का ज्ञापक हो वह हमको दिखलाये बिना कभी न छापना चाहिए। वह

मेरे पास भेजा सो बहुत अच्छा किया। जो दिखलाये बिना छाप देते तो हमको इसके समाधान में बहुत श्रम करना पड़ता। भीमसेन जो व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़ा है, उतना ही उसका पाण्डित्य है। अन्यत्र वह बालक है। इसको इस बात की खबर भी नहीं है कि इस लेख से क्या-क्या कहाँ विरोध होकर क्या-क्या विपरीत परिणाम होंगे। इसलिए यह नोट जैसा शोधकर भेजा है वैसा ही छपवाना।" आज शोक से देखा जाता है कि ऋषि दयानन्द का संशोधित नोट भी अन्य परिवर्तनों सहित छपा !

यंत्रालय के संशोधकों की कुटिलता का एक नमूना—पुराने आर्य पुरुषों को, जिन्होंने आर्यसमाज के घरेलू युद्ध के आरम्भ से ही सब घटनाओं को विचार-दृष्टि से देखा है, विस्मृत नहीं हुआ होगा कि जब नवम्बर सन् १८९२ ई० के वार्षिकोत्सव पर लाहौर में, धर्मचर्चा के समय रायबहादुर मूलराज एम० ए० ने मांसभक्षण का समर्थन करते हुए कहा था कि मांसभक्षण को ठीक समझते हुए भी वह आर्यसमाज के सभासद् रह सकते हैं, उस समय उन्होंने अपने चेले शंकरनाथ[1] द्वारा पुराने सत्यार्थप्रकाश और पुरानी संस्कार-विधि का भी प्रमाण दिलवाया था और साथ ही शंकरनाथ ने यह भी दावा किया था कि श्री स्वामी दयानन्द जी ने नये सत्यार्थ-प्रकाश में भी मांसभक्षण का मंडन किया था, परन्तु उसे पण्डितों ने कटवा दिया। उस रमणीय धर्मचर्चा की रिपोर्ट आर्यसमाज के वृद्ध पितामह श्री लाला जीवनदास जी ने छपवाई थी, जिसमें से पण्डित शंकरनाथ की वक्तृता और उसका भक्त रैमल जी की ओर से उत्तर ज्यों-के-त्यों छापने से मेरा आगे आनेवाला लेख समझ में आ जायगा—

"इसके बाद पण्डित शंकरनाथ ने उठकर जो तकरीर (वक्तृता) की उसका खुलासा यह है (३) पिछले साल जब अजमेर में परोपकारिणी सभा का जलसा हुआ था तो यह बात जाहिर हुई थी कि स्वामी जी ने नये सत्यार्थप्रकाश के मसौदे में मांस खाने की इजाजत लिख दी थी। मगर चूँकि छापने का काम कई वैष्णव लोगों के हाथ में था इसलिए वह तहरीर छापी नहीं गई।

"इसके बाद भक्त रैमलदास जी ने (जो वैदिक यन्त्रालय के मैनेजर रह चुके हैं) उठकर कहा कि पं० शंकरनाथ ने जो अजमेर का हाल बयान किया है, उसकी निस्बत मैं कुछ कहना चाहता हूँ, क्योंकि मैं उस मौके पर अजमेर में मौजूद था। भक्त साहब ने जो बाद में तकरीर की उसका खुलासा यह है— (१) नये सत्यार्थ-प्रकाश के मसौदे में जो मांस विषय की तहरीर है वह मन्त्र (मूल) में सिर्फ़ हाशिए पर है और क़लम से काटी हुई, और न वह तहरीर स्वामी जी के अपने हाथ की है। और यजुर्वेदभाष्य के मसौदे में भी एक मौक़े पर इसी क़िस्म की कटी हुई तहरीर

१. कालान्तर में स्वामी शंकरानन्द के नाम से प्रसिद्ध संन्यासी।

हाशिए पर दर्ज है; जिससे साफ़ पाया जाता है कि जिस तरह मृतक पितरों के श्राद्ध की हिदायत बाज़ खुदग़र्ज़ों ने पहले सत्यार्थप्रकाश में दर्ज कर दी या करा दी थी (जिसका खण्डन स्वामी जी को एक नोटिस के जरिये करना पड़ा) इसी तरह शायद बाज़ मांसाहारी पुरुषों ने, मौका पाकर, मांस का विषय अपने मुफ़ीद मतलब नये सत्यार्थप्रकाश और यजुर्वेद के मसौदों में दर्ज कराकर कटवा दिया होगा, ताकि इससे उनको अपने पक्ष की पुष्टि में एक प्रमाण मिल जाय; वरना क़यास नहीं चाहता कि स्वामी जी को दोनों पुस्तकों में मांस का विषय लिखना ऐसे मौक़े पर याद आया जबकि उनके मन्त्र में जगह की गुंजाइश न रही और हाशिए पर लिखना पड़ा.........''

यह विवाद मेरे सन्मुख हुआ था। उस वर्ष पहली बार चुनाव में प्रधान पद मुझे दिया गया था। तत्पश्चात् मांस विषय पर कॉलिज पार्टी की ओर से बहुत बल दिया जाने लगा और मुझे उनके विरोध से आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब तथा आर्य सिद्धान्तों की रक्षा के लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ा। इसी रक्षा का काम करते हुए शायद सन् १८९८ ई० के अगस्त मास में पहली बार मैं अजमेर पहुँचा था। लाला वज़ीरचन्द तथा मास्टर आत्माराम मेरे साथ थे। बाबू रामविलास जी से सत्यार्थप्रकाश की असली हस्तलिखित पुस्तक (Manuscript) देखी। वह हस्तलिखित पुस्तक ऋषि दयानन्द की हस्तलिखित न थी। लेख अन्यों का था, परन्तु कहीं-कहीं संशोधन ऋषि दयानन्द के हाथ का किया हुआ था और प्रत्येक पृष्ठ की समाप्ति पर हस्ताक्षर ऋषि के थे, किन्तु इसके साथ ही बहुत स्थानों में पं० भीमसेन के हाथों से संशोधन हुआ था। मैंने दशम समुल्लास खोलकर मांस का विषय निकाला तो हस्तलिखित पुस्तक के पृष्ठ १८२ के हाशिए पर कुछ लिख-कर काटा दिखाई दिया। मैंने उसके सम्बन्ध में सारी इबारत अक्षरशः बारीक काग़ज ऊपर रखकर नक़ल कर ली थी और उसका वर्णन आगे करता हूँ। आवश्यक तो यह था कि उस लेख का ज्यों-का-त्यों फ़ोटो सर्वसाधारण के सामने रक्खा जाता, परन्तु मेरी आर्थिक अवस्था ऐसा करने की आज्ञा नहीं देती, इसलिए जो कुछ वहाँ, जिस क्रम से, दिया हुआ है वह यहाँ दर्ज करता हूँ। एक पंक्ति में जितना लेख वहाँ है उतना ही यहाँ भी देकर जो साधारण संशोधन है वह ब्रेकेट्स (Brackets) में दे दूँगा :—

"सत्यार्थप्रकाश समु० १०

चाहे (खाय चाहें) कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें (वा जला देवें), अथवा कोई मांसाहारी खावे।

तो भी संसार की कुछ हानि नहीं (होती")

इतने लेख में भी कुछ विचारणीय बातें हैं जिनकी ओर दृष्टि डालने से ही पण्डितों की कुटिलता का पता लगेगा। खाय चाहें ये शब्द ब्रैकेट में कटे हुए हैं।

किसने कटवाये यह आगे चलकर पता लगेगा, क्योंकि मुन्शी समर्थदान के पत्र से ज्ञात होगा कि जब पहले प्रबन्धकर्त्ता समर्थदान को ऋषि दयानन्द ने हस्तलिखित पुस्तक दी थी तो खाने की आज्ञायुक्त लेख न था। ज्ञात होता है कि यह तथा हाशिए का लेख ऋषि की आज्ञा मँगाकर मनीषी समर्थदान ने ही काट दिया था। जितना लेख मैं दे चुका हूँ उसके पश्चात् नीचे दिया लेख है जिनकी संगति ऊपर के लेख के साथ-साथ ठीक हो जाती है—"**किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है**" इस लेख के आरम्भ में ही, किन्तु शब्द से पहले इस प्रकार का चिह्न है ($^{\angle}_{7}$) और हाशिए पर नीचे दिया लेख कई परिवर्तनों के साथ पं० ज्वालादत्त के हाथ का इस प्रकार है—

"प्रश्न—सब मांस भक्ष्य वा अभक्ष्य है। (उत्तर) अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः—जो ग्राम में कुक्कुट और सूवर तथा मांसाहारी सब पशुपक्षी तिर्यक् जो पेट से चलते हैं अशुद्धाहारी मत्स्यादि हैं वे सब अभक्ष्य और इनसे भिन्न शुद्धाहार जांगल सब भक्ष्य हैं; परन्तु यह बात राजवर्गी मनुष्यों के लिए है अन्य के लिए नहीं। (प्रश्न) ग्राम के कुक्कुट आदि अभक्ष्य और वनस्थ भक्ष्य हैं इसमें क्या युक्ति है? (उत्तर) ग्रामस्थ कुक्कुट आदि उपकारक, अशुद्धाहारी अभक्ष्य और जंगलवासी हानिकारक, शुद्धाहारी भक्ष्य हैं।"

निर्पक्षपाठक स्वयं देखें कि इस लेख के साथ ऋषि दयानन्द की दी अगली इबारत का क्या सम्बन्ध हो सकता है; और इस हाशिए की इबारत की भाषा तथा युक्ति ऐसी पोच है कि उसका ऋषि दयानन्द के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

उस समय मुझे, और अन्य भाइयों को भी, यही सन्देह रहा कि शायद मनीषी समर्थदान जी ने राय मूलराज के काबू आकर यह लेख लिखकर काट दिया है। मेरा विचार भी उस समय भक्त रैमल जी के साथ मिलता था और इसलिए म० समर्थदान के लेखों के साथ उपर्युक्त लेख का मिलाया भी गया। परन्तु वह लेख मनीषी के लेख से भिन्न प्रतीत हुआ और मेरे लिए यह लेख पहेली ही रहा। यह पहेली उस समय बूझी गई जब मैं वैदिक यन्त्रालय का अध्यक्ष बनाया गया और ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार ठीक करते हुए मुझे निम्नलिखित पत्र मिला :—

वैदिक यन्त्रालय
१३। ७। ८२ प्रयाग

श्री स्वामी जी की सेवा में

श्री० महाराज नमस्ते

निवेदन यह है कि वेदभाष्य में जो मांसभक्षण का विधान आया था उसको तो आपने निकाल दिया था और मुझको भी आज्ञा दी थी कि मांस का विधान न आवे

इस प्रकार से छाप दो सो मैंने छाप दिया था। अब सत्यार्थप्रकाश के भक्ष्याभक्ष्य का प्रकरण पाया—इसमें भी आपने मांस खाने की आज्ञा स्पष्ट दी है।

प्रथम, जब पुस्तक लिखा गया था तब तो मांस की आज्ञा नहीं दी, पीछे से शोधते समय आपने दी है, ऊपर से आपने बनाया है इससे मेरी शक्ति नहीं कि मैं इसको काट दूं इसलिए आपसे निवेदन किया। अब जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा किया जाय। आपने ऐसी आज्ञा दी है कि जिन पशुओं को क्षत्रिय लोग खेतों की रक्षा के लिए मारें वा अन्य ऐसे कारण मारें तो उनका मांस खावो तो कुछ दोष नहीं है। परन्तु यह जड़ ऐसी है कि जिसके कारण से लोग अच्छी प्रकार मांसा-हारी हो जायेंगे। क्योंकि बुरे काम के लिए थोड़ा-सा भी सहारा मिल जाय तो मनुष्य स्वार्थ-वश होकर बढ़ा लेता है। जो किसी प्रकार से मांस की आज्ञा मिल गई तो लोग अनेक मार्ग निकाल लेंगे। इसलिए आप जो बात ग्रन्थ में छपवाना चाहें सो कृपा करके प्रथम विचार कर लिया करें तो उपकार विशेष हो। इस विषय में जैसी आपकी आज्ञा हो लिखें।

थोड़े-थोड़े काल में विचार का बदलना हानिकारक होता है। उपद्रवी पशुओं का मारना तो ठीक है परन्तु इनका मांस खाना सदैव के लिए प्रवृत्ति करता है फिर तो निरुपद्रवी भी बेचारे मारे जाएंगे, जैसी कि आजकल की गति देखने में आती है। बुराई का मूल थोड़ा-सा ही होता है परन्तु पीछे तो वटवृक्षवत् बड़ा विस्तार कर लेती है।

बुरे कामों का बारम्बार निषेध करने पर भी लोग कर लेते हैं और अच्छे को सहस्र वार भी उपदेश करने से भी नहीं करते। मांसाहार में यदि दोष है तो उसका विधान किञ्चिन्मात्र भी नहीं होना चाहिए। जो किया जायगा तो इसकी प्रथा विशेष होगी। मांस के साथ मदिरा भी लगी है, जो दोनों की प्रवृत्ति हुई तो सब उन्नति गिर जाएगी और विपरीत फल उत्पन्न होगा। फिर जैसा आप उचित समझें वैसा करें। सत्यार्थप्रकाश का एक फार्म तो और छपेगा, पीछे से आपका पत्र आवेगा तब छपेगा। कृपा करके पत्र शीघ्र दीजिए।

यह पत्र मैंने कार्यालय से पृथक् लिखा है। इसमें नम्बर नहीं डाला है क्योंकि कार्यालय के पत्रों की नकल रामचन्द्र करते हैं और ये हम लोगों के विचार से सर्वथा पृथक् हैं। किन्तु विरुद्ध कहिये। इस पत्र का विषय ऐसा खानगी है कि विरोधियों को प्रकट होने से बड़ी हानि होती है।

आर्यों के आचार्य का यंत्रालय, आर्यों के द्रव्य ही से बना और नौकर सब अनार्य रखे जायें, यह भी एक काल की विचित्र गति का परिचय है। आर्यों के पैसे और सम्पत्ति का दर्द अनार्यों को कहाँ तक होता है इसको भी विचारशील सोच सकते हैं। कृपा करके सत्यार्थप्रकाश के विषय में तत्काल आज्ञा दीजिये।

आपका आज्ञाकारी
समर्थदान मैनेजर

मनीषी समर्थदान का ऊपर दिया पत्र पढ़कर मैंने ऋषि के पत्रव्यवहार की तिथि-क्रम से पड़ताल की। तब मांसवाला हाशिए का लेख निस्सन्देह पं० ज्वालादत्त का लिखा हुआ प्रतीत हुआ। पं० ज्वालादत्त के कई पत्र मिले जिनके साथ हाशिये के अक्षर मिल गये। इसीलिए 'ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार' छापते हुए मैंने उस पुस्तक की भूमिका के पृ० ४२-४३ पर लिखा था—

"पण्डित ज्वालादत्त के पत्रों से केवल यही विदित नहीं होता है कि ऋषि दयानन्द के नाम से जो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं उनमें बहुत-कुछ हाथ अन्य पण्डितों का था, जिसके कारण उन ग्रन्थों में अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं; बल्कि यह पता लगता है कि इन लोगों के परस्पर के राग-द्वेष तथा अन्तरीय कुटिल भावों के कारण भी उस महान् आत्मा के उद्देश्य को बहुत-कुछ हानि पहुँचती रही है। पं० ज्वालादत्त ने योग्यता कहाँ से सम्पादन की उसका पता ४१९ पृष्ठ से लगता है—"अब मामा जी ने लिखा है कि तुम्हारा महाभाष्य हम भेज देंगे। गलती जो आपने निकाली मैं स्वीकार करता हूँ, यह मेरा दोष है......" मुंशी समर्थदान से इनकी बनती ही न थी और दिन-रात जले-भुने हुए रहते थे। इस असन्तोष के कारण इन्होंने और क्या अनर्थ करना चाहा था उसका वर्णन तब करूँगा जब मुझे शेष पत्र-व्यवहार छापने का अवसर मिलेगा। इन लोगों की लीला का कुछ परिचय राय-बहादुर पं० सुन्दरलाल के पत्र से मिलता है जो पृ० ४२३ से ४२६ तक छपा है।" नीचे कुछ उद्धरण देता हूँ जिससे पं० ज्वालादत्त और पं० भीमसेन की लीला का पता लगेगा—

(क) "यह न लिखना चाहिए कि अमुक मनुष्य कम चोर है वा हरामखोरी करता है क्योंकि ऐसे अपशब्द सुनने से उसकी प्रीति आपसे हट जाती है" (पृ० ६१) और पं० भीमसेन भी कहते हैं कि "हमारे पास काम बहुत बढ़ गया है सो यदि आपकी आज्ञा हो तो ज्वालादत्त को फिर बुला लें, १५) महीना लेगा, पर उसको आपकी आज्ञा बिना बुला नहीं सकते" (पृ० ६५) पं० ज्वालादत्त अपनी करतूतों के कारण पहले निकाले गए थे, जब फिर पं० सुन्दरलाल की सिफारिश पर बुलाये गए तो वह करतूत की जिसका वर्णन मनीषी समर्थदान के पत्र में आया है। इसकी पुष्टि में पं० सुन्दरलाल की १ जून १८८२ ई० वाली चिट्ठी से होती है जहाँ लिखा है—"दूसरे पं० की अति आवश्यकता है। ज्वालादत्त को मैंने लिखा था सो आने को राजी तो है पर तनखाह के वास्ते पैर फैलाता है—न मालूम अपनी ही इच्छा से वा भीमसेन के इशारे से। पं० ज्वालादत्त का कार्ड आपके पास भेजता हूँ, जैसी इच्छा होय आप लिख भेजें। जो मासिक ज्वालादत्त को देंगे वही भीमसेन को भी देना पड़ेगा।"

ऊपर के लम्बे उद्धरण नीरस-से तो अवश्य प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके बिना यह ज्ञात होना कठिन था कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को बिगाड़ने का पौराणिक

संस्कृतज्ञों ने कितना यत्न किया। यदि ऋषि दयानन्द के छपे ग्रन्थों का हस्त-लिखित मूल पत्रों से मिलान किया जाय तो न जाने उनमें कितना भेद निकलेगा।

ऊपर लिखा तो एक कारण है जिससे सत्यार्थप्रकाश के एक-एक अक्षर की ज़िम्मेवारी आर्य पुरुष नहीं ले सकते। परन्तु छापे की अशुद्धियों, लेखक तथा संशोधक पण्डितों की अयोग्यता और कुटिलता के अतिरिक्त एक बात और भी है। वेदमन्त्रों पर तो ऋषि दयानन्द ने ध्यानावस्थित हो, योगसमाधि में प्रवेश करके विचार किया; इसलिए जिन मन्त्रों पर ऐसा विचार हुआ उनका तात्पर्य भी बड़ी स्पष्ट रीति से प्रकाशित हुआ, परन्तु जिन मन्त्रों के अर्थ ऋषि की भाष्यशैली को देखकर ज्वालादत्त, भीमसेनादि प्रभृतियों ने किया, उनमें बहुत-सी त्रुटियाँ रहनी स्वाभाविक ही थीं।

ऋषि के वेदभाष्य का स्थान—वेदांगप्रकाश में जो अशुद्धियाँ दीखती हैं वे पण्डितों की हैं; सत्यार्थप्रकाश में भी अशुद्धियों की सम्भावना है। ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का संस्कृत-भाग प्रायः अशुद्धियों से मुक्त है, परन्तु आर्यभाषा-अनुवाद में पण्डितों की अयोग्यता का फिर से परिचय मिलता है। तब वेद-भाष्य की दशा उन ग्रन्थों से भी अधिक शोचनीय होगी। भूमिका तो ऋषि के जीवन में ही छप चुकी थी, सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दश समुल्लास भी उनके सामने छप गए थे। परन्तु वेद-भाष्य का बड़ा भाग उनकी मृत्यु के चिरकाल पीछे तक छपता रहा। उसमें भी केवल संस्कृत-भाग ऋषि दयानन्द का लिखवाया हुआ है। उसमें कई स्थानों पर पण्डितों ने गड़बड़ की और भाषार्थ में इतना साहस करने लगे थे कि यदि धर्मवीर पण्डित लेखराम उनकी कुटिलता का प्रकाश न करते तो ऋषि दयानन्द के स्पष्ट मन्तव्यों के विरुद्ध बहुत-कुछ छप जाता। सारांश तथा तात्पर्य मेरे सारे लेख का यह है कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ, उनके वेद-भाष्य-सहित, वेदार्थ की कुंजी हैं, वैदिक धर्म के मर्म को प्रकाशित करनेवाले हैं, संसार से अविद्यान्धकार को दूर करने में सहायक हैं, परन्तु फिर भी न ही हमारे लिए **परम प्रमाण** हैं और न ही **वेद** हैं। **वेद** ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त सब ऋषि-मुनि **अखिल धर्म का मूल मानते आये हैं।** ऋषि के ग्रन्थ हमें इसलिए प्रिय हैं कि वे वेदार्थ के दर्शक हैं, परन्तु परम प्रमाण फिर भी वेद ही रहेगा। और ये सब ग्रन्थ वहाँ तक ही प्रामाणिक समझे जायँगे जहाँ तक कि वेदाज्ञा के अनुकूल उपदेश देते हैं।

आचार्य फिर भी ऋषि दयानन्द ही रहेंगे—तब प्रश्न होगा कि दयानन्द का आचार्यत्व कैसे स्थिर रहेगा? सन्देह हो सकता है कि बिना आचार्य के कोई सम्प्रदाय स्थिर नहीं रह सका और इसलिए आर्यसमाज को भी स्थिरता न होगी। इस प्रकार की शंकाएँ अविवेकी हृदयों के अन्दर उठती हैं। एक बड़ा लम्बा पुरुष आँख उठाकर चारों ओर देखता है और प्राकृतिक विचित्र घटनाओं का

वर्णन इर्दगिर्द खड़े बौने पुरुषों के लिए करता है। उन बौनों में से कुछ उसको सेवा से प्रसन्न कर लेते हैं और वह उन्हें अपने कन्धे पर उठाकर उन विचित्र दृश्यों के दर्शन कराता है। यदि कन्धे पर चढ़े बौनों के हृदय शुद्ध हैं तो वे लम्बे बड़े पुरुषों से भी कुछ आगे देख लेते हैं। परन्तु ऐसा होने से क्या उस बड़े पुरुष का गुरुत्व नष्ट हो जाता है ? बड़ा महानुभाव बड़ा ही रहेगा। बौना नीचे उतर-कर फिर बेबस हो जायगा। महानुभाव की फिर भी ऊँची ही दृष्टि रहेगी। यदि दयानन्द से शिक्षा पाये, उसकी भाष्य-प्रणाली के नियमों से दीक्षा लेकर कोई शुद्ध हृदय आर्य वेदार्थ में कुछ आगे चल सकता है तो उसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह दयानन्द से बड़ा हो गया, वा दयानन्द का गुरुत्व घट गया। दयानन्द के ऊँचे विशाल कन्धे पर चढ़, कइयों ने अविद्याग्रस्त होकर यह समझ लिया था कि जिस ऊँचाई से वे वेद-तत्त्व का दर्शन कर रहे हैं वह उन्हें बिना सहायता के प्राप्त हुई है। इसीलिए जब उन्होंने स्वतन्त्र उड़ारी लगानी आरम्भ की तो धम्म से पृथ्वी पर आ गिरे और फिर पुराने अन्धकार में व्याकुल हाथ-पैर मारने लगे। दयानन्द हमें जंजीरों में बंधवाने नहीं आया था, वह हमें मानसिक दासत्व से छुड़ाने आया था। निर्बलहृदय, अविश्वासी पुरुष डरते हैं कि यदि किसी वेद-मन्त्र का भाष्य किसी आर्य पुरुष द्वारा अधिक उत्तमता से प्रकाशित हो गया तो दयानन्द की गौरव-हानि हो जायगी और आचार्य-बिना सम्प्रदाय की इतिश्री हो जायगी, परन्तु वे भूल जाते हैं कि दयानन्द ने जन्म ही सम्प्रदायों की समाप्ति करने के लिए लिया था। आर्यसमाज को दयानन्द ने सम्प्रदाय नहीं बनाया था; आचार्य-पद के लिए दयानन्द ने अपने-आपको संसार के सामने पेश नहीं किया था; संसार की प्यासी आत्माओं ने आत्मिक शीतल अमृत पान करने के लिए स्वयं उसे अपना आचार्य स्वीकार किया था। तब वे मनुष्य दयानन्द के अनुयायी होने का दावा कैसे कर सकते हैं, जो उसके आदेश और उपदेश के विरुद्ध आचरण करते हैं ?

क्या आर्यसमाज सचमुच एक नया सम्प्रदाय है ? आर्यसमाज की आधार-शिला क्या सम्वत् १९३२ वि० को मुम्बई में ही रक्खी गई थी ? आर्य और समाज दोनों शब्द प्राचीन हैं, फिर उसका सम्बन्ध कैसे नया हो सकता है ? आर्यसमाज सृष्टि के आदि से ही संस्थापित है। आर्यसमाज कोई सम्प्रदाय नहीं। परमेश्वर की परम पावनी वाणी वेद और उसके पवित्र उपदेशों की रक्षा के लिए समय-समय पर आचार्य होते हैं और धर्म को सम्प्रदायों की संकुचित परिधि से पुनः स्वतन्त्र करा जाते हैं। आर्यसमाज युग-युग और शताब्दि-शताब्दि में स्थापित होते रहे हैं और समयानुकूल धर्म की रक्षा करके फिर आगे आनेवाले समाज के लिए अपना आदेश छोड़ जायेंगे। तब व्यक्तियों के समूहों की ओर दृष्टि डालना और उन्हीं में लिप्त रहना ऋषि-सिद्धान्त के विरुद्ध है।

ऋषि का जीवन हमें क्या उपदेश देता है ? वेद के पवित्र प्रकाश पर मोहित हुआ दयानन्द व्यक्तियों, सम्प्रदायों और मनुष्य-समाजों की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखता। मुनिवर गुरुदत्त ने ठीक कहा था कि वेद के प्रकाश पर मस्त दयानन्द संसार की कृत्रिम छवि की ओर आँख उठाकर देखता भी न था। दयानन्द का गौरव इसमें नहीं है कि हम वेद को उसपर न्योछावर कर दें। जिसे दयानन्द का शिष्य कहलाना है उसके लिए न केवल वेद के अतिरिक्त और सब पढ़ा-लिखा भुलाने की ही (पं० गुरुदत्त के शब्दों में)आवश्यकता है, प्रत्युत दयानन्द के दीर्घ स्कन्ध पर चढ़कर अपने-आपको, तथा दयानन्द को भी भुलाने की आवश्यकता है। हाँ, आचार्य दयानन्द के मिशन की पूर्ति के लिए, स्वयं आचार्य के व्यक्तित्व को भी भूल जाने की आवश्यकता है, जिससे वेद-सूर्य के प्रकाश पर किसी प्रकार की छाया न पड़े।

वेद ही संसार का सर्बस्व है—भारतवर्ष का, संसार का सर्वस्व वेद ही है। जिस Logos (शब्द-ब्रह्म) की ढूंढ में ईसाई मत के आचार्य निमग्न रहे, जिस "खुदा के जाती नाम" (परमेश्वर के निज नाम) इसी आजिम की चाह में मुहम्मदी दरवेशों ने संसार से मुंह मोड़ा, उसकी व्याख्या यदि मिलती है तो वेद में। प्राचीन ऋषि आह्लादपूर्वक नाद करते हैं 'सर्वे देवा यत्पदमामनन्ति' उस अनहद नाद को स्पष्ट करनेवाला, अन्धकारमय जगत् के एक ही पथदर्शक वेद को इसीलिए ऋषि दयानन्द ने आत्मिक सूर्य बतलाकर संसार को उससे प्रकाश लेने का आदेश दिया और उसीका पठन, (श्रवण) मनन और निदिध्यासन संसारभर के श्रेष्ठ पुरुषों का परम धर्म बतलाया है।

प्रस्तावना

चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन भागलपुर में हुआ था। श्री पण्डित मदनमोहन मालवीय जी के तार पर मुझको जाना पड़ा। व्याख्यान लिखना तो एक ओर रहा, विचारने को भी भागलपुर पहुँचकर केवल तीन-चार घण्टे ही मिले। व्याख्यान का सारांश समाचारपत्रों में छपा था। उन सबको अपने नोटों के साथ रखकर, मैंने अपना व्याख्यान फिर से लिखा और मन्त्री स्वागतकारिणी सभा के नाम भेज दिया। सम्मेलन की उस बैठक का वृत्तान्त बड़ी देर से निकला और फिर भी मेरी वक्तृता में अशुद्धियाँ बहुत रह गई थीं। उसी (मार्गशीर्ष शुक्ला ६ सं० १९७० को दिये व्याख्यान) की शाब्दिक अशुद्धियाँ दूर करके अब इस ग्रन्थ-माला में उसे छपाया जाता है।

—मुंशीराम जिज्ञासु

ओ३म्

सप्तम गुच्छक

मातृभाषा का उद्धार

अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽहम् ॥ यजु० २०/२४

स्वागतकारिणी सभा के सभापति महोदय, तथा मातृभूमि की शोभा को उज्ज्वल करनेवाले भ्रातृगण !

आज मेरे लिए बड़ा सौभाग्य का दिन है। जिस मातृभाषा की सेवा की धुन मुझे वर्षों से लगी हुई थी, जिस मातृभाषा की सार्वभौम जागृति के बिना मैं अपनी जननी जन्मभूमि का पुनर्जीवन असम्भव-सा समझ रहा हूँ, उसकी उन्नति में दिन-रात लगे हुए आप महानुभावों से मिलने का, वर्षों की निरन्तर आकांक्षा के पश्चात्, मुझे आज अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिए अपने जीवन में आज का दिन बड़े सौभाग्य का समझता हूँ।

अपने प्रधान निर्वाचित होने पर आश्चर्य—जब मेरे पास स्वागतकारिणी सभा के उपप्रधान महाशय का तार पहुँचा कि मैं चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रधान चुना गया हूँ, तब मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। जो मान आप महानुभावों ने मुझे प्रदान किया है उसके विशेषत: दो ही कारण हुआ करते हैं—ऐसे व्यक्ति में या तो विद्याबल हो या राजबल का आश्रय, और यहाँ दोनों का अभाव—"नहिं विद्या नहिं बाहुबल नहिं खरचन को दाम।" फिर समझ में न आया कि मैं क्यों इस उच्च पद का अधिकारी समझा गया हूँ। किसी अंश में यह आश्चर्य अब तक है और बना रहेगा, किन्तु जब मैंने श्री पण्डित बालकृष्णजी भट्ट से पुराने साहित्य-सेवियों को अपने से विद्याहीन व्यक्ति को अपनाते सुना तो मेरे चुनाव का कारण कुछ-कुछ समझ में आया।

आज प्रात: मैं इसी प्रश्न पर विचार कर रहा था। बहुत विचार के अनन्तर जो बात मेरी समझ में आई वह यह है—संसार में सब कहीं मनुष्य-समाज के संगठन के लिए चार भाग आवश्यक हैं। वे चारों विभाग ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र नामों से विख्यात हैं। ब्राह्मण चाहे जितना वाणी द्वारा जात्योद्धार करें, क्षत्री अपने बाहुबल से चाहे जितनी भी राष्ट्र की रक्षा करें, और वैश्य चाहे जितना धन

द्वारा जाति की सम्पत्ति बढ़ाने का यत्न करें, परन्तु शूद्र के बिना वर्णव्यवस्था की पूर्ति नहीं हो सकती। मनुष्य-शरीर में जो उपयोग पाद (पैर) का है वही वर्ण-व्यवस्था में शूद्र का है।

सम्मेलन को, ब्राह्मणरूपी मस्तिष्क से कई बार सहायता मिल ही चुकी है और बाहुबल की इसे उपेक्षा ही रही, वैश्यरूपी गुरु से धन की सहायता मिली है और मिलती रहेगी; अब कार्य की पूर्ति के लिए सम्मेलन को शूद्र की सेवा की आवश्यकता है। भारत के अवनति (अर्थात् राक्षस वंश के राजत्व) काल को ले लीजिए। उस समय भी मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र को नीच शूद्र वानरों की सहायता से ही काम करना पड़ा था। यदि आदर्श सेवक हनुमान की सहायता न मिलती तो सूर्य-वंशावतंस राम भी कदाचित् दुष्ट रावण के नाश करने में कृतकार्य न होते। उसी मार्ग का आप लोगों ने भी अवलम्बन कर मुझे अपनाया है। आपकी इच्छा है कि जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य के होते हुए भी पैररूपी शूद्र की आवश्यकता बनी रहती है उसी प्रकार साहित्य सम्मेलन के काम को असली सूरत देने के लिए आपने मुझ-ऐसे शूद्र पर कृपादृष्टि की है।

सद्धर्मप्रचारक का काम

अभी मेरे मित्र बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने साप्ताहिक पत्र सद्धर्मप्रचारक की कथा छेड़ी थी। वैशाख सम्वत् १९४६ में, जब इस समाचारपत्र का जन्म हुआ तो यह फारसी लिपि और उर्दू भाषा में निकलता था। आरम्भ से ही मेरा विचार इसे आर्य भाषा में परिवर्तित करने का था और इसीलिए मैं उसकी भाषा में संस्कृत तथा आर्यभाषा के शब्दों का अधिक प्रयोग क्रमशः करता रहा था। वह भाषा देवियाँ भी समझ जाती थीं और प्रचारक का सम्पादन भी ऐसे प्रकार से होता था जिससे देवियों को उसे पढ़ने में तनिक भी संकोच न हो। उसके लेखों में तो क्या, विज्ञापनों तक में कोई अश्लील बात नहीं आने पाती थी। इस ओर अन्य समाचारपत्रों के चलानेवालों को भी अवश्य ध्यान देना चाहिए।

जब १८ वर्षों तक शनैः-शनैः भाषा में परिवर्तन होता गया, और उर्दू के जुबाँ-दानों के इस ताने की भी मैंने कुछ परवाह न की कि मैं एक विचित्र मनमानी भाषा की बुनियाद डाल रहा हूँ—तब मैंने विज्ञापन दिया गया कि यदि २००० में से ५०० ग्राहक भी हिन्दी प्रचारक को खरीदने के लिए तैयार हों तो भाषा मे एकदम परिवर्तन कर दिया जायगा। यह तो शोक की बात है कि उस समय ५०० ग्राहक भी न मिले परन्तु मैंने परमेश्वर पर भरोसा करके १९ वर्ष की समाप्ति से पहले ही सद्धर्मप्रचारक को आर्यभाषा में निकालना आरम्भ कर दिया और आज उसी पत्र की ग्राहक-संख्या २५०० से अधिक है।

वास्तव में उर्दू के लिए मेरे मन में कोई द्वेष का भाव नहीं, परन्तु भारत-

सन्तान होने के कारण आर्यभाषा की सेवा करना मैं अपना परम धर्म समझता हूँ। महाशयो ! मैं यह भली प्रकार जानता हूँ कि मैं गुरुता-पूर्ण प्रधान पद के योग्य नहीं हूँ; मुझसे कहीं अधिक प्रसिद्ध और श्रेष्ठ साहित्य-सेवी आपके सम्मुख उपस्थित हैं। तो भी अपने जिस पवित्र भाव से प्रेरित होकर मुझे अपनाया है उसके लिए मैं आपका बारम्बार धन्यवाद करता हूँ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उद्देश्य

सभी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नियमावली में इन सब का भली प्रकार वर्णन है। मैं उसके नियम धारा १ को पढ़ देता हूँ—

(१) इस सम्मेलन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

(क) हिन्दी साहित्य के सब अंगों की उन्नति का प्रयत्न करना।

(ख) देवनागरी लिपि का देश भर में प्रचार करना और देशव्यापी व्यवहारों और कार्यो को सुफल करने के लिए हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न करना।

(ग) हिन्दी को सुगम, मनोरम और लाभदायक बनाने के लिए समय-समय पर उसकी शैली के संशोधन और उसकी त्रुटियों और अभावों को दूर करने का प्रयत्न करना।

(घ) सरकार, देशी राज्यों, पाठशालाओं, कालेजों, विश्वविद्यालयों और अन्य संस्थाओं, समाजों, जनसमूहों तथा व्यापार, जमींदारी और अदालत के कार्यों में देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का उद्योग करते रहना।

(च) हिन्दी के ग्रन्थकारों, लेखकों, पत्रसम्पादकों, प्रचारकों और सहायकों को, समय-समय पर, उत्साहित करने के लिए पारितोषिक, प्रशंसापत्र, पदक, उपाधि आदि से सम्मानित करना।

(छ) उच्च शिक्षाप्राप्त युवकों में हिन्दी का अनुराग उत्पन्न करने और बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना।

(ज) जहाँ आवश्यकता समझी जाय वहाँ पाठशाला, समिति तथा पुस्तकालय स्थापित करने और कराने का उद्योग करना तथा इस प्रकार की वर्तमान संस्थाओं की सहायता करना।

(झ) हिन्दी-साहित्य के विद्वानों को तैयार करने के लिए हिन्दी की उच्च परीक्षाएँ लेने का प्रबन्ध करना।

(ट) हिन्दी भाषा के साहित्य की वृद्धि के लिए उपयोगी पुस्तकें तैयार करना।

(ठ) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के उद्देश्यों की सिद्धि और सफलता के लिए अन्य जो उपाय आवश्यक और उपयुक्त समझे जायें, उन्हें काम में लाना।

इस उद्देश्यमाला का सार यह है कि हमारे सम्मेलन का मुख्य कर्त्तव्य (१) देवनागरी लिपि का देशभर में प्रचार करना और (२) हिन्दी भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रयत्न करना है। मेरी सम्मति में पहले मुख्य कर्त्तव्य का नियमित वर्णन किसी अंश में संकीर्णता प्रकट करता है। मेरा मन तो यह साक्षी देता है कि देवनागरी लिपि का प्रचार भारतवर्ष ही नहीं वरन् सारे संसार में किया जाना अत्यावश्यक है। आपने बड़ी दूरदर्शिता से इस उद्देश्य को अभी भारत में ही सीमा-बद्ध रक्खा है, परन्तु वास्तव में देवनागरी लिपि का प्रचार भारत-विभिन्न देशों में भी होना चाहिए।

इसका अनुभव मुझे अपने लड़कों की शिक्षा प्रारम्भ करते समय हुआ। मैंने देखा कि वे देवनागरी लिपि द्वारा आर्यभाषा बड़ी सरल-सुगमता से सीख गये। मैं भारतीय वर्तमान शिक्षापद्धति को पहले से ही दोष-युक्त समझता था, किन्तु जब अपने पुत्रों को अंग्रेजी पढ़वाने लगा तो उसके दोष और भी विस्पष्ट हो गये। इंगलिश के अध्यापक ने बतलाया—"Why हुवा ह्वाई" लड़कों ने शंका की—"मास्टर जी ! यह तो डब्ल्यू, एच, वाई हुआ, ह्वाई कैसे हो सकता है ?" मास्टरजी ने फिर कहा—"Knowledge हुआ नालेज" लड़कों ने फिर शंका की—"मास्टर जी ! यदि कनोउ लेडजी कहिए तब भी कुछ बन सके, यह नालेज कैसा हुआ ?" मैं दूसरे कमरे में बैठा सुन रहा था। मुझे मास्टर जी की दशा पर दया आई और उनको लड़कों के पंजे से छुड़ा दिया। यद्यपि पहले से भी मैं आर्यभाषा का पक्ष-पाती था परन्तु उस दिन प्रत्यक्ष रूप से मेरे हृदय पर यह सचाई अंकित हो गई कि बिना देवनागरी लिपि को भाषा सीखने का साधन और आर्य भाषा को विद्यो-पार्जन का माध्यम बनाए भारतीय जनता में सुशिक्षा का प्रचार नहीं हो सकता। सच पूछिये तो उसी दिन गुरुकुल की बुनियाद रक्खी गई और मेरे उपर्युक्त भाव और विचार का प्रतिफल ही गुरुकुल है।

देवनागरी लिपि की प्रशंसा

केवल हम आर्यों की संतान ही नहीं कर रहे, इसके महत्त्व की साक्षी हमको बाहर से भी मिलती है। एक लिपि-विस्तार-परिषद् के एक अंग्रेज उपप्रधान ने एक वार अपनी वक्तृता में कहा था कि देवनागराक्षरों का सारे भूमण्डल में प्रचार होना चाहिये क्योंकि इसके सदृश सर्वांग-पूर्ण दूसरी कोई लिपि नहीं। उसी परिषद् के (यदि मेरी स्मरणशक्ति मुझे धोखा नहीं देती) एक मुसलमान उपप्रधान (महा-शय जस्टिस शरफुद्दीन जज हाई कोर्ट, कलकत्ता)ने अपनी वक्तृता में कहा था कि भ ारतवर्ष में मुसलमानों को "कुरान शरीफ" भी देवनागराक्षरों में ही छपवानी चाहिये।

भारत में जितनी भी प्रान्तीय लिपियां प्रचलित हैं वे प्राय: इसी लिपि की

अपभ्रंश मात्र हैं, और इसीलिए बड़े उच्च साहित्य के स्वामी वंगदेशीय विद्वान् भी बंगीय साहित्य की पुस्तकों को देवनागरी अक्षरों में छपवाने लग गये हैं। सभ्यगण ! ये सब चिह्न बतला रहे हैं कि देवनागरी लिपि का प्रचार यदि सर्व भूमण्डल में न हो तो अपनी मातृभूमि भारतवर्ष में शीघ्र ही होने वाला है।

अब मैं इस सम्मेलन के दूसरे कर्त्तव्य की ओर आता हूँ। सम्मेलन का दूसरा उद्देश्य है—

हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न

बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र का संगठित होना ऐसा ही दुस्तर है जैसा बिना जल के मीन का जीवन। जिस समाज के सभासदों के पास एक-दूसरे के हार्दिक भावों को समझने का कोई एक साधन नहीं, उसका संगठन दृढ़ कैसे हो सकता है ? भारतवर्ष के राजनैतिक नेताओं ने भी यह तो मान लिया है कि एक राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता; परन्तु इस विषय में अभी तक मतभेद है कि कौन-सी भाषा, राष्ट्रभाषा बन सकती है। मेरी सम्मति यह है कि—

आर्य भाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती है

मैंने कई बार, "आर्यभाषा" शब्द का प्रयोग किया है। जिसे आप "हिन्दी" कहते हैं उसे मैं आर्यभाषा कहकर पुकारता हूँ। इसका मुख्य कारण तो यह है कि आपके ही एक पूर्व माननीय सभापति के कथनानुसार इस भाषा की बुनियाद उस समय पड़ चुकी थी, जब यह देश हिन्दुस्थान नहीं वरन् आर्यावर्त्त कहलाता था। फिर इस भाषा को हम केवल हिन्दुओं की ही भाषा नहीं बनाना चाहते, प्रत्युत सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं, जिसमें जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई सभी सम्मिलित हैं; इसलिए मैं इसे आर्यभाषा कहकर पुकारता हूँ।

मैंने यह सिद्धान्त स्थापन किया कि आर्यभाषा ही हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है। इस प्रतिज्ञा के सामने आते ही आजकल का राजनैतिक दल चौंक उठता है। जिस इंगलिश भाषा द्वारा ही आज तक अपने अधिकार माँगते रहे, जिसे इंगलिश भाषा द्वारा ही उनकी जगाई हुई 'अलख' का उत्तर मिलता रहा, जिस इंगलिश में ही वे धुआँधार स्पीचें दे सकते हैं—क्या उस इंगलिश के विना देश का उद्धार सम्भव है ? यह उनकी समझ मे ही नहीं आ सकता, तब

क्या इंगलिश हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है ?

गत शाही दरबार पर मैं दिल्ली 'सद्धर्मप्रचारक पत्र' के सम्पादकीय अधिकार से गया था। प्रेस कैम्प में ही मैंने डेरा किया था। मद्रास के एक प्रसिद्ध

अंग्रेजी दैनिक के सम्पादक से एक दिन मेरी, राष्ट्रभाषा के विषय में, बातचीत हुई। मद्रासी सम्पादक महाशय का आग्रह था कि अंग्रेजी ही हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है। उनका मत था कि संस्कृत तो मृतप्राय भाषा है और अन्य कोई भाषा व्यापक नहीं हो सकती। अंग्रेजी ने ही "इण्डियन नेशनल कांग्रेस" को सम्भव बनाया है और इसलिए उसी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहिए। जब मैंने संस्कृत की ज्येष्ठ पुत्री आर्यभाषा का नाम लिया तो उन्होंने उत्तर में मेरी समझ पर आश्चर्य प्रकट किया। उन्होंने कहा "कौन (educated) शिक्षित पुरुष आपकी बात को सुनेगा ?" मुझे उनकी बातचीत से ज्ञात होता था कि वह अंग्रेजी-पढ़ों के अतिरिक्त अन्य किसी को राष्ट्र का अंग ही नहीं समझते। दूसरे दिन आप कहार को भंगी समझकर अपनी इंगलिशमय तेलुगू में उसे सफाई करने की आज्ञा दे रहे थे। कहार कभी लोटा लाता तो कभी मिस्टर की धोती की ओर दौड़ता, कभी कुछ और कभी कुछ करता; किन्तु मिस्टर एडिटर अधिक से अधिक खिसियाते जाते। इतने में नित्य कर्मों से निवृत्त होकर मैं बाहर निकला। मिस्टर एडिटर भागे हुए मेरे पास आए और कहा—'यह मूर्ख मेरी बात नहीं समझता, इसे समझा दीजिए कि यह शीघ्र ही टट्टी साफ कर दे।' मैंने हँसकर उत्तर दिया—"अपनी प्यारी राष्ट्र-भाषा में ही समझाइये।" मिस्टर सम्पादक कुछ लज्जित तो हुए और मैंने कहार को मेहतर बुलाने के लिए भेज दिया। परन्तु एडिटर महाशय ने फिर मुझसे उस विषय में बातचीत न की।

जो लोग अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षपाती हैं वे भूल जाते हैं कि अपने देश में कठिनाई से ५०० में एक अंग्रेजी-पढ़ा मिल सकेगा। क्या शेष करोड़ों स्त्री-पुरुष राष्ट्र के अंग नहीं ? और जब वे बाहर रह गये तो राष्ट्र का निर्माण क्या हुआ ? सज्जनो ! उपर्युक्त विचार के पश्चात् क्या कोई कह सकता है कि इंगलिश इस देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है ?

प्रसंगवशात् एक बात यहाँ और कहना चाहता हूँ। अंग्रेजी-पढ़े राजनैतिकों के मुख से दिन-रात स्वतन्त्रता और अधिकार की पुकार हम सुनते हैं। पोलिटिकल अधिकारों के लिए वे अहर्निश आसमान सिर पर उठाए रहते हैं। मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या वे अधिकार प्राप्त करने के योग्य भी हैं ? साहित्य के क्षेत्र में हमें पूरी स्वतन्त्रता है, फिर क्या कारण है कि हिन्दी साहित्य का भण्डार खाली पड़ा है ? हमारा साहित्य गन्दे विज्ञापनों और अश्लील लेखों से कलंकित हो रहा है, उस कलंक को धोने की चेष्टा क्यों नहीं की जाती ? इसका कारण क्या यह नहीं है कि हम अपनी स्वाभाविक मातृभाषा को भूले हुए हैं ?

एक और कारण है, जिससे इंगलिश को हम अपनी राष्ट्रभाषा नहीं बना सकते। भाषा का मनुष्य-समाज की सभ्यता पर बड़ा असर पड़ता है। वाणी की महिमा वर्णन करते हुए वेद में आया है—

"सा विश्वायु: सा विश्वकर्मा सा विश्वधामा:"[१] और सचमुच वाणी (भाषा) जातियों के जीवन का साधन होती है। हमारा राजनैतिक दल दिन-रात स्वराज्य के गीत गाता रहता है। असम्भव को सम्भव कल्पना करके मान लीजिए कि हमारी न्यायशीला, दयालु सरकार भारत देश को स्वाधीनता प्रदान कर दे, तब मैं अपने राजनैतिक दल से पूछता हूँ कि वह राष्ट्र क्या कहलायगा ? जिस सभ्यता का देश में प्रचार होगा, निःसन्देह राष्ट्र का संगठन भी उसी के अनुसार होगा। अवश्य ही वह राष्ट्र भारतीय न होगा। क्योंकि परभाषा के द्वारा विचार उठने से जहाँ सभ्यता विदेशी होगी, वहाँ राष्ट्र भी भारतीय न रहेगा। तब सभ्यगण ! वह स्वराज्य हमारे किस काम का होगा ?

आर्य सभ्यता के विशेष तीन चिह्न

हैं—(१) अहिंसा, (२) मातृशक्ति का सत्कार और (३) ब्राह्मण-प्राधान्य।

यह देश सदा से अहिंसा-प्रधान देश रहा है। मनुष्यों की गिरावट के समय में भी यदि हिंसा का प्रचार हुआ तो धर्म की आड़ लेकर ही हुआ। जब वाम मार्ग का भयानक प्रचार हो चुका था, उस समय की एक गाथा इस जाति के स्वाभाविक लक्षण को बड़ी स्पष्टता से प्रकाशित करती है। बिहार प्रान्त में गौतम बुद्ध की कथा प्रत्येक बाल, युवा और वृद्ध को मालूम है। क्षत्री राजकुमार देवदत्त तीक्ष्ण तीर से वेध कर घायल पक्षी को नीचे गिरा देता है। सिद्धार्थ उसी पक्षी को परमेश्वर की सृष्टि का एक अंग समझकर हृदय से लगा लेता और उसका पालन-पोषण करता है। देवदत्त अपने शिकार को ढूँढता हुआ वहाँ आ निकलता है। इन दोनों भाइयों का विवाद परस्पर बड़ा ही शिक्षाजनक है। देवदत्त का पक्ष है कि पहले घायल करने से पक्षी उसकी सम्पत्ति है। सिद्धार्थ का उत्तर है कि घायल को छाती से लगा उसकी मरहम-पट्टी करने के कारण अब वह पक्षी उसका हो चुका। न्याय के लिए दोनों राजदरबार में जाते हैं। वहाँ से व्यवस्था मिलती है कि मारनेवाले की अपेक्षा बचानेवाले का अधिकार अधिकतर है।

आर्यसन्तान ! क्या अहिंसा धर्म के इस उच्च आदर्श को गँवाकर हमारी जातीय स्थिति रह सकेगी ?

आर्यसभ्यता का दूसरा चिह्न देवियों का उचित सत्कार है। आज हमपर यह दोषारोपण किया जाता है कि भारत-निवासियों में स्त्रियों की उचित प्रतिष्ठा नहीं की जाती, उनका सत्कार नहीं होता। यह लांछन कहाँ तक ठीक है, इसकी विवेचना का यह समय नहीं। यह वही पवित्र भूमि है जहाँ पिता से पहले माता का नाम लिया जाता था, जहाँ प्रजा राजा के नाम से पहले रानी का नाम लिया करती थी। गत दिल्ली दरबार के समय महारानी मेरी को जहाँ महाराजा पंचम जार्ज के पश्चात् स्थान मिला था, वहाँ राम से पहले सीता और कृष्ण से पहले

राधा का नाम यहाँ सदैव से लिया जाता है। यह है भेद पाश्चात्य सभ्यता और प्राचीन आर्य सभ्यता में। यह देश शक्तिपूजा-प्रधान देश रहा है। यद्यपि शक्ति-पूजा के बिगाड़ ने इस अभागे देश को रसातल में पहुँचा दिया है, फिर भी देवियों का जो सम्मान आर्यसभ्यता का प्रधान अंग रहा है, उसको भुलाकर हम ऐसा राष्ट्र निर्माण नहीं कर सकते जिसे भारतीय राष्ट्र के नाम से पुकारा जा सके। आर्यसभ्यता का विदेशी सभ्यताओं से इस अंश में वही भेद है जो मनुष्यत्व का पशुत्व से हो सकता है।

आर्यसभ्यता का तीसरा चिह्न "ब्राह्मणत्व का प्राधान्य" है। इस समय सच्चे ब्राह्मणों के अप्राधान्य के कारण ही संसार बड़े-बड़े कष्ट भोग रहा है। अमेरिका में Mighty Dollar (प्रबल लक्ष्मी) की धूम है। धन की कामना ही वहाँ की बड़ी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी हड़तालों की प्रेरक है। इस समय भारत के राज-सचिव भी धन-सम्बन्धी पूछताछ में ही अपना दिमाग लड़ाते रहते हैं। जिन्हें स्वयं धन की याचना हो, वह धन-सम्बन्धी व्यवहारों में निरपेक्ष कैसे हो सकते हैं? किन्तु किसी जमाने में इसी देश के अन्दर सुशासन के समय मुनिवर वसिष्ठ लक्ष्मी और सर्व सांसारिक वैभव को लात मारकर, निष्काम भाव से एकनिष्ठ हो राज्यप्रबन्ध में भाग लेते थे। जहाँ इंगलैण्ड के धर्मगुरु, लॉर्ड बिशप, राज्यारोहण के पश्चात् शाहंशाह पंचम जार्ज के सम्मुख अति विनीत भाव से अपना मस्तक नवाते हैं वहाँ विश्वामित्र के आने पर आर्यराज्य के प्रधान सूर्य, महाराजा दशरथ, अपना सिंहासन छोड़कर, शिर झुकाये हुए उनके स्वागत के लिए दौड़ते हैं। यह है भेद हमारी और विदेशी सभ्यता का! ये तीनों सभ्यता के चिह्न बिना मातृभाषा की उन्नति करने और उसे अपनाने के स्थिर नहीं रह सकते। ऋषि-सन्तान! अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने से हम एकराष्ट्र न हो सकेंगे; ऐसा करने से बना हुआ भारत का राष्ट्र श्मशान की भस्म-तुल्य होगा। तब प्रश्न उठता है कि—

क्या उर्दू भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है?

तीन वर्ष व्यतीत हुए, प्रयाग (अल्लाहाबाद) नगर में हिन्दू-मुसलमानों की सन्धि कराने के लिए एक कान्फ्रेंस बैठी थी। उसमें मुझे भी बुलाया गया था। उस कान्फ्रेन्स का हाल गुप्त रखने का ही निश्चय हुआ था, परन्तु जब उस समिति के कई सभ्यों ने असलियत को दबाकर कई बातें प्रकाशित की हैं, तो मैं भी उस समय के एक विचार को समयोपयोगी समझकर आपके सामने रखता हूँ। एक मुसलमान भाई ने हिन्दी-उर्दू का प्रश्न छेड़कर कहा था कि जब तक हिन्दू लोग उर्दू को ही "हिन्दोस्तान" की राष्ट्रभाषा न मान लें और जो बल हिन्दी के लिए लगाते हैं, वह लगाना छोड़ दें, तब तक सच्ची सुलह नहीं हो सकती। उस

मुसलमान भाई ने दावा किया था कि उर्दू ही भारतवर्ष की व्यापक भाषा है; जितने हिन्दुस्तानी उर्दू बोलने और समझनेवाले हैं, उतने हिन्दी समझनेवाले नहीं हैं। उस समय जो उत्तर उस मुसलमान भाई को मैंने वहाँ दिया था, वही यहाँ दोहराता हूँ। जिस बिहार प्रान्त में हम सब इस समय एकत्रित हैं उसकी राष्ट्रभाषा क्या हिन्दी के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा को कह सकते हैं ? पंजाब की लिपि जहाँ देवनागरी का अपभ्रंश है, वहाँ गुरुमुखी, अर्थात् सिक्खों के दस गुरुओं के मुँह से निकली हुई भाषा भी आर्यभाषा का ही अपभ्रंश है। आपको यह सुनकर शायद आश्चर्य होगा कि पंजाब के पटवारियों के पुराने रजिस्टर प्रायः हिन्दी में लिखे हुए हैं। इसका कारण यह है कि पंजाब के पहले सरकारी बन्दोबस्त में सब काम करनेवाले संयुक्तप्रान्त से गये थे। पंजाब में उर्दू का राज होते हुए भी वहाँ के घरों की बोली प्रायः हिन्दी से ही अधिक मिलती-जुलती है। संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध के विषय में तो निस्सन्देह होकर कहा जा सकता है कि वहाँ की मुख्य व्यापक भाषा हिन्दी ही है।

प्रयाग के जिस सन्धि-सम्मेलन की ओर मैं निर्देश कर चुका हूँ, उससे तीन दिन पहले ही नागपुर में All India Moslem League का जलसा हुआ था। उस जलसे में मध्यप्रदेश के चीफ कमिश्नर आनरेबल मिस्टर (वर्तमान सर) रेजिनल्ड क्रैडक ने निमन्त्रित होकर अपनी वक्तृता में मध्यदेश के मुसलमानों को सम्मति दी थी कि वे सब उर्दू के साथ-साथ हिन्दी भी सीखें, क्योंकि मध्यदेश की ९५ प्रति सैंकड़ा प्रजा की मातृभाषा हिन्दी है। फिर राजपूताने को लीजिए। प्रसिद्ध पृथ्वीराजरासो का रचयिता महाकवि चन्दरबरदाई जिस प्रान्त में उत्पन्न हुआ हो, उसमें दूसरी भाषा के प्रचार का विचार करना भी पाप है।

सभ्यगण ! आपने देख लिया कि बिहार, संयुक्तप्रान्त, पंजाब, राजस्थान तथा मध्यप्रदेश के सर्वसाधारण तक की तो बोली ही हिन्दी है। अब अन्य बड़े प्रान्तों को लीजिए। मुम्बई प्रान्त में भाषा-भेद के विचार से विशेषतः दो जातियाँ बसती हैं—(१) गुजराती और (२) महाराष्ट्री। यह तो स्पष्ट ही है कि मराठी लिपि देवनागराक्षरों से लगभग सर्वथा मिलती है, और गुजराती भी देवनागरी का केवल रूपान्तर ही है। जब यह हाल है तो गुजरात और महाराष्ट्र, दोनों प्रांतों में उर्दू की अपेक्षा हिन्दी स्वभावतः ही अधिक समझी जानी चाहिए। परन्तु मेरा अनुभव यह है कि एक महाराष्ट्री के लिए गुजराती की अपेक्षा हिन्दी समझना सुगम है। गत वर्ष मुझे मुम्बई प्रान्त के नासिक गुरुकुल जाने का अवसर मिला। उस गुरुकुल में शिक्षा का माध्यम गुजराती रक्खा गया है। मैंने उक्त गुरुकुल की प्रबन्धकारिणी सभा के मन्त्री से निवेदन किया कि वह आर्यभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनावें। मन्त्री महाशय ने उत्तर दिया कि महाराष्ट्री लड़कों को भी पढ़ाना है और उनमें कम आर्यसमाजी हैं, इसलिए उनके माता-पिता एक बेमेल

भाषा को पढ़ाना स्वीकार न करेंगे। उसी दिन मैं पाण्डव गुफा देखने पहाड़ी पर गया। मेरे साथ उसी गुरुकुल के एक गुजराती अध्यापक थे। जब मैंने उनको मन्त्री जी का उत्तर सुनाया, तो उन्होंने सम्मति दी कि मराठे गुजराती की अपेक्षा हिन्दी बड़ी सुगमता से समझते हैं। उन्होंने हमारे टाँगावाहक से, जो मराठा था, गुजराती में कुछ प्रश्न किये; गाड़ीवान कुछ समझा नहीं। फिर अध्यापक जी ने मुझे हिन्दी में वही प्रश्न करने को कहा। मेरे प्रश्न करते ही हमारे मराठी गाड़ीवान ने समझकर उत्तर अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में दिये जो मेरी समझ में आ गए। सारे मुम्बई प्रान्त में हिन्दी समझी जाती है।

बंगदेश का तो कहना ही क्या है! यदि बंगीय साधुभाषा के ग्रन्थों को देवनागराक्षरों में छाप दें तो हिन्दी के विद्वान् उनको भली प्रकार समझ सकेंगे; और उर्दू के मुकाबिले में संस्कृत-मिश्रित हिन्दी तो बंगाल के कोने-कोने में समझी जा सकती है। कलकत्ता के प्रसिद्ध कविराज योगेन्द्रनाथ सेन महोदय गतवर्ष गुरुकुल के मेले पर आये थे। उस समय उन्होंने आर्यभाषा सम्मेलन में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में वक्तृता दी थी। उन्होंने कहा था कि नेपाल के महाराजा ने अपने एक सम्बन्धी के इलाज के लिए उन्हें बुलाया; यह बंगाली बोलें और वह नेपाली, एक को दूसरे की बात समझ में न आवे; तब हिन्दी की शरण ली गई और परस्पर का वार्तालाप समझ में आने लगा।

सिंध और पंजाब के सीमाप्रान्त प्रदेशों के विषय में सन्देह हो सकता है कि कदाचित् चिरकाल तक यवन-संसर्ग के कारण उनकी भाषा सर्वथा बिगड़ गई होगी; परन्तु वहाँ की बोलियों में से जो परस्पर बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं कुछ शब्द सुनकर ही आपको निश्चय हो जायगा कि उन प्रान्तों पर भी संस्कृत का प्रभाव ही अधिक रहा है।

सिंधी, डेरावाली	संस्कृत	हिन्दी
खीर	क्षीर	दूध
घिन	घिण्	घृणा
जमात्रा	जामात्र	दामाद
बेला	वेला	बेला, समय
थल	स्थल	भूमि
शींह	सिंह	शेर, सिंह
त्रीमत	स्त्री	स्त्री
भज्ज	भज्जन	टूटना
मूंझ	मूर्छा	मूर्छा
कीता	कृत	किया

पपीली	पिपीलिका	चींटी
आखना	आह्	कहना
दंदुवण	दन्तधावन	दँतवन

कहाँ तक कहा जावे ! सिन्धदेश में व्याख्यान देकर मैंने देख लिया था कि "फारसी-आमेज़ उर्दू" की अपेक्षा "संस्कृत-मिश्रित हिन्दी" को सिन्धी अधिक सुगमता से समझते हैं।

अब शेष मद्रास प्रान्त रह जाता है; सो जिस देश में संस्कृत शास्त्रों का प्रचार रहा है और जहाँ के निवासी इस समय संस्कृत साहित्य के पुनरुद्धार के लिए इतना प्रयत्न कर रहे हैं, वहाँ तैलंग, तमिल तथा करनाटकी इत्यादि के अतिरिक्त यदि कोई अन्य भाषा समझी जा सकती है, तो वह हिन्दी ही होगी, उर्दू नहीं।

भारतवर्ष के सर्व प्रान्तों में से पंजाब तथा सीमाप्रान्त प्रदेश ही उर्दू प्रधान-देश समझे जाते हैं। पंजाब का शिक्षित दल पहले-पहल अंग्रेजी में पत्रव्यवहार किया करता था; अब केवल अंग्रेजी का ही नहीं प्रत्युत उर्दू का स्थान भी आर्य-भाषा ले रही है। यह सचाई शोक से माननी पड़ती है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन सी महत्त्वपूर्ण संस्था में पंजाबी उचित योग नहीं देते। पंजाब पर, ऐसी जातीय संस्था से अलग रहना, एक बड़ा भारी धब्बा है। परन्तु हिन्दी प्रचार में पंजाब किसी प्रान्त से भी पीछे नहीं है। प्यारे मिश्रबन्धुओं ने अपने हिन्दी के इतिहास-ग्रन्थ में आज से कुछ पूर्वकाल को हिन्दी साहित्य की दृष्टि से, दयानन्दकाल लिखा है।[1] उस आर्य (मातृ) भाषा के सच्चे सेवक, गुजराती होने पर भी हिन्दी के पक्ष-पाती, आर्यसमाज के प्रवर्तक दयानन्द की कृपा से अब पंजाबियों के हृदयों पर हिन्दी ने अपना अधिकार जमा लिया है। आर्यसमाज के पुरुषार्थ का फल यह है कि स्त्रियों में केवल आर्यभाषा का ही प्रचार है। गुरुकुल के गत वार्षिकोत्सव पर लगभग ४०००) की हिन्दी पुस्तकें बिकीं; उनमें से, अनुमान किया गया था कि ३०००) की पुस्तकें केवल देवियों ने खरीदीं; क्या यह थोड़ी बात है? आर्यसमाज के पुरुषार्थ का ब्राह्मसमाज पर भी प्रभाव पड़ा है। जिस ब्राह्मसमाज के धर्मोप-देशों में इंजील को प्रधानता थी, वहाँ अब उपनिषदों और अन्य आर्यग्रन्थों से उपदेश के लिए पुस्तकें ढूँढी जाती हैं। आर्यभाषा का प्रचार ब्राह्मसमाज में भी बढ़ता जाता है। यही नहीं, अब तक पंजाबी साहूकारों के बहीखातों में मुँडकटे, लण्डे का प्रचार था। अब अमृतसर, जालन्धरादि नगरों में बहुत-से साहूकारों ने अपनी बहियाँ हिन्दी भाषा और देवनागरी अक्षरों में लिखनी शुरू कर दी हैं। तब क्या यह जागृति के चिह्न नहीं हैं?

---

१. मिश्रबन्धुविनोद–भाग ३

सज्जनो ! ऐसी उन्नत अवस्था में भी एक-दो घटनाएँ हमारी मातृभाषा के भविष्य को काले बादलों से आच्छादित कर लेती हैं। दिल्ली प्राचीन इन्द्रप्रस्थ पाण्डवों का गढ़—इस समय ब्रिटिश गवर्नमेंट की राजधानी बन रही है। उस राजधानी, उस पाण्डवों के गढ़ और पृथ्वीराज की महिमा के केन्द्रस्थान में, हिन्दी का एक भी साप्ताहिक पत्र नहीं है। उर्दू के साप्ताहिक वहाँ दैनिक हो गए, आधा दर्जन से अधिक उर्दू के साप्ताहिक पत्र हैं, दो उर्दू के दैनिक हैं और एक नया उनमें मिलनेवाला है। यह सब उर्दू के पत्र केवल मुसलमानों के प्रबन्ध तथा सम्पादन में निकलते हैं, इसीलिए दिल्ली राजधानी में मुसलमान लोकमत ही बड़ी तेजी से फैलकर गूँज रहा है। परन्तु आर्यभाषा, हिन्दू जाति की मातृभाषा तथा देशभर की राष्ट्रभाषा, हिन्दी का साप्ताहिक, सद्धर्म-प्रचारक के अतिरिक्त, एक भी समाचारपत्र नहीं है। वहाँ एक दैनिक की अत्यन्त आवश्यकता है। सच, बालकों की कमी नहीं, कार्यकर्त्ता अप्राप्त नहीं, केवल धन की आवश्यकता है। यह नहीं कि धन का इस जाति में अभाव है। हिन्दू जाति और धन का अभाव ! ये दोनों शब्द पर्यायवाची हो नहीं सकते। कमी है तो हिन्दू जाति के नेताओं की जातिभक्ति में। लाहौर के एक रायबहादुर करोड़पति ने अपने पुत्र के विवाह पर सवा लाख रुपया व्यय करने का विचार किया है। इतने धन से दिल्ली में दो अच्छे दैनिक निकल सकते हैं। दिल्ली के एक लाखोंपति रायबहादुर ने अपने पुत्र के विवाहोत्सव के लिए २०,०००) संकल्प कर छोड़ा है। यही धन यदि दैनिक पर लगाया जावे तो अपनी जाति को राजधानी में एक सच्चा सेवक मिल सकता है। परन्तु वहाँ तो जात-बिरादरी तथा अपने हाकिमों के क्षणिक आमोद-प्रमोद की परवाह है; जाति चाहे किसी गड्ढे में पड़े, इसकी कुछ चिन्ता नहीं।

मातृभाषा के प्रचार के साधन

अनगिनत हैं। उनमें से केवल कुछ प्रधान साधनों की ओर संक्षिप्त निर्देश ही कर सकूँगा।

प्रथम—(क) मातृभाषा का प्रचार संस्थाओं के द्वारा करना चाहिए। इनमें से आर्यसमाज का तो एक नियम ही है कि प्रत्येक आर्यसमाजी अवश्य आर्यभाषा पढ़े। इस नियम का पालन दृढ़ता से कराया जावे। जिन आर्यसमाजों का सारा पत्रव्यवहार आर्यभाषा द्वारा नहीं होता उनपर लोकमत का दबाव डाला जाय। भारतवर्ष भर की धर्मसभाओं में भी मातृभाषा का प्रचार बलपूर्वक कराया जावे। इनके अतिरिक्त जितनी भी संस्थाएँ हैं, उन सबमें, हिन्दी का ही व्यवहार हो तो शीघ्र ही अन्य भाषाभाषी भी हिन्दी जानने की आवश्यकता को अनुभव करने लग जायेंगे।

(ख) देश के सब हिन्दू साहूकार प्रतिज्ञा करें कि अपना बहीखाता हिन्दी में ही रक्खेंगे।

(ग) आर्य रियासतों का ध्यान इस ओर खिंच चुका है। महाराजा बीकानेर के अपने निर्भ्रम दृष्टान्त से, अन्य रियासतों को भी उर्दू-फ़ारसी के स्थान में हिन्दी का प्रचार करने के लिए उत्साह मिल रहा है। जिन रियासतों में इस समय भी उल्टी गंगा बहाने का प्रयत्न हो रहा है वहाँ लोकमत का दबाव डालकर उस प्रथा के रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

द्वितीय—ग्रन्थकारों, लेखकों तथा सम्पादकों को प्रोत्साहित करना; इसमें अभी बहुत कमी है। हिन्दी में समाचारपत्रों का सम्पादन आज किन हाथों में है? जहाँ बंगदेश के सब प्रसिद्ध इंगलिश के लेखकों ने वंग साहित्य के भण्डार को उच्चदशा में पहुँचाने का प्रयत्न किया, वहाँ आर्यभाषा के समाचारपत्रों के सम्पादन का भार लेना हमारे ग्रेजुएट लज्जास्पद समझते हैं। बंगाल में रमेशचन्द्र दत्त-सा इंगलिश साहित्य का विद्वान् अपनी मातृभाषा के साहित्य को पुस्तकों द्वारा उन्नत करना अपना कर्त्तव्य समझता है, परन्तु हमारी राजनैतिक नौका के माँझी श्री पण्डित मदनमोहन मालवीय जी हिन्दी में पुस्तकें लिखने के लिए समय नहीं निकाल सकते।

फिर जो थोड़े-बहुत माता के सपूत उसकी सेवा में लगे हुए हैं, उनका उत्साह बढ़ानेवाला कोई नहीं। एक ग्रंथकर्त्ता का उत्साह कैसे बढ़ सकता है जब एक पुस्तक को खरीदकर ५० जने उससे ही अपना काम पूरा कर लेते हों। यह मानसिक प्रतिज्ञा प्रत्येक हिन्दू को करनी चाहिए कि हिन्दी की कोई पुस्तक भी वह दूसरे से उधार लेकर न पढ़ेगा; अपनी पुस्तक मोल लेकर पढ़ेगा।

तृतीय—स्थान-स्थान पर हिन्दी पाठशाला तथा हिन्दी पुस्तकालय स्थापित करने चाहिएँ। इस अंश में अन्य सभ्य देशों की तरह "प्रवाही पुस्तकालयों" (Travelling Libraries) से बड़ा लाभ पहुँच सकता है। छोटे-छोटे ग्रामों के निवासियों के लिए भी मानसिक शक्तियों के विकास का इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं है।

एक बात इस सम्बन्ध में बड़ी ही आवश्यक है। आप आर्यभाषा को अपनी राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं। इसी के लिए आप प्रयत्न कर रहे हैं; परन्तु मैं शोक से देखता हूँ कि इस समय तक अधिक बल अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद पर ही दिया जा रहा है। आज तक हिन्दी में कोई अपूर्व कल्पनायुक्त मौलिक ग्रन्थ मैंने नहीं देखा। आर्यभाषा ही क्यों, भारतवर्ष की किसी प्रान्तीय भाषा में भी कोई मौलिक विचारपूर्ण ग्रन्थ नहीं दिखाई देता। ऐसा प्रतीत होता है कि, भारतवर्ष में, इस गिरी हुई परंतु प्राचीन जाति में, मूल सिद्धान्तों के विचार की शक्ति ही नहीं रही। भागलपुर आते हुए मैं मार्ग में लखनऊ उतरा था, वहाँ श्रीमान् सर जेम्स मेस्टन (संयुक्तप्रान्त

के लाट साहेब) के यहाँ मेरी डॉक्टर फिशर (Dr. Fisher) महाशय से भेंट हुई। यह बड़े प्रसिद्ध शिक्षक और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय (Cambridge University) के वाइस चांसलर (Vice-Chancellor) हैं; भारतवर्ष में (Public Service Commission) के सभासद् बनकर आये हुए हैं। उन्होंने मुझे बतलाया कि अपने जीवन में उन्होंने सैकड़ों भारतनिवासी विद्यार्थियों को पढ़ाया। उनका अनुभव था कि भारतीय विद्यार्थी कठिन-से-कठिन विषय पर आंगल विद्यार्थियों का मुक़ाबिला कर सकते हैं; परन्तु स्वतन्त्र विचार की शक्ति उनमें नहीं है। उन्होंने मुझसे इसका कारण पूछा; मैंने उत्तर में कहा कि यदि वह मेरे साथ गुरुकुल चलें तो मैं इसका कारण दिखा सकूँगा; बतलाने से क्या लाभ! वह कारण क्या है? कारण यह है कि हमारे देश में इस समय

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा

नहीं है। क्या इस अभागे देश के अतिरिक्त सभ्य संसार में और कोई देश भी है जहाँ शिक्षा का माध्यम मातृभाषा के अतिरिक्त कोई विदेशी भाषा हो? जब हमारे बालक पढ़ते अंग्रेज़ी में, सोचते अंग्रेज़ी में, गणित, पदार्थविद्या आदि सीखते विदेशी भाषा में, तो उनके अन्दर मौलिक विचार की शक्ति कैसे जीवित रह सकती है? यदि किसी अंग्रेजी विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम फ्रेंच भाषा को करने वा किसी जर्मन विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी करने का प्रस्ताव पेश हो तो उसको पागल समझा जायगा; परन्तु भारतवर्ष एक विचित्र देश है, जहाँ हिन्दू बालकों के लिए शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी बनानेवालों को देश-हितैषी तथा बुद्धिमान् समझा जाता है।

मैं पहले कह चुका हूँ कि जिस भाषा द्वारा शिक्षा होगी उसी की सभ्यता के दास विद्यार्थी बनेंगे। तब प्यारे सज्जनो! यदि तुम्हारी सन्तान आचार, व्यवहार तथा विचार में विदेशी बन जायगी तो अपनी स्वदेशी की घोषणा क्या निरर्थक न हो जायगी?

परन्तु यहाँ एक बड़ी भारी रुकावट बतलाई जाती है। कहा जाता है कि जब हिन्दी में शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकें नहीं हैं तो उसे शिक्षा का माध्यम कैसे बनाया जावे? जब मैंने प्रस्तावित हिन्दू विश्वविद्यालय के एक प्रधान सञ्चालक को बल-पूर्वक कहा कि हिन्दू विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी का होना विचित्र हास्यास्पद बात होगी तो उन्होंने अपनी समझ में एक अकाट्य युक्ति दी; उन्होंने कहा "महाशय! पुस्तकें कहाँ से आवेंगी?" मैंने उत्तर दिया "जब स्वामी राम-तीर्थ अमेरिका में उतरे तो उनके पास कुछ धन न था। चुंगीवाले ने २५ डालर (७५ रुपये) देखने को माँगे; यहाँ २५ फूटी कौड़ियाँ भी न थीं। चुंगीवाले ने कहा "आप मस्त फ़कीर मालूम देते हो, इसलिए मैं तो पास कर दूँगा परन्तु इस लक्ष्मी-

पूजक देश में बिना धन के भोजन कहाँ करोगे ?" श्रद्धापुञ्ज स्वामी राम ने बड़े प्रेमभरे शब्दों से उत्तर दिया—"प्यारे ! तू मुझे खिलावेगा।" अमेरिकन चुंगी-वाला इस उत्तर से चकित हो गया और सचमुच उसी ने स्वामी राम को भोजन दिया। प्रिय महाशय ! मैं वही उत्तर आपको देता हूँ। पुस्तकें कहाँ से आवेंगी ? पुस्तकें आप उत्पन्न करेंगे। स्वामी रामतीर्थ के उत्तर का तो अमेरिकन चुंगीवाले (Custom officer) पर यह प्रभाव पड़ा कि उसने उन्हें उसी समय भोजन कराया, परन्तु सभ्यगण ! मेरे कृपालु भाई पर मेरे कथन का कुछ भी प्रभाव न पड़ा; नहीं तो क्या आज तक वह एक भी शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक तैयार न करते ?

गणित, पदार्थविद्या, इतिहास, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, दर्शन इत्यादि किसी देश वा भाषाविशेष की सम्पत्ति नहीं है। इंगलिश साहित्य का निर्भर तो निस्सन्देह आंगल भाषा पर है परन्तु डारविन, हक्सले, टिण्डल, स्पेन्सरादि के विचार इंगलिश भाषा के दास नहीं; वे सारे संसार की सम्पत्ति हैं।

गुरुकुल में अब तक अनुवादरूप से भी शिक्षा-सम्बन्धी बहुत-सी पुस्तकें आर्य भाषा में तैयारी हो चुकी हैं। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में जहाँ मौलिक आन्दोलन हो रहा है और उसका प्रथम भाग छप चुका है,[१] वहाँ गुरुकुल के अन्य उपाध्यायों ने रसायन, भौतिकी, वनस्पति, विद्युत्, विकासवाद, सम्पत्ति-शास्त्र तथा इतिहासादि-विषयक अनेक पुस्तकें छपवाकर मुद्रित कर दी हैं।

आर्यजाति के भूषणो तथा भारतवर्ष के सपूतो ! आर्य सभ्यता की रक्षा का पवित्र कार्य तुम सबको सौंपा गया है। जब तक प्राचीन आर्यों की सभ्यता का पुनरुद्धार न होगा तब तक भारतीय राष्ट्र का निर्माण असम्भव है, और प्राचीन आर्य सभ्यता के पुनरुद्धार का एकमात्र साधन मातृभाषा ही हो सकती है। जिस भाषा द्वारा मनुष्य सोचता है, उसी में वर्णित सभ्यता का अनुगामी बनता है। यह देश औदार्य और श्रद्धा का आदर्श रहा है। यही नहीं कि यहाँ "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" का व्यवहार व्यापक रहा है, प्रत्युत नर-नारी, बाल-वृद्ध 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्' रूपी वैदिक शिक्षा को अपने हृदय पर अंकित किये रहते रहे हैं। तुम्हारा यह उदारभाव संस्कृत तथा आर्य-भाषा की गोद में पहले से ही सुरक्षित रह सकता है। उठो ऋषि-सन्तान ! बहुत सो चुके ! देवनागरी लिपि का सारे देश में प्रचार करो, आर्यभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाओ, और मातृभाषा का तन, मन और धन से उद्धार करो। तब फिर से एक राष्ट्र का निर्माण होगा और पुनः वृद्ध भारत, स्वस्थावस्था को प्राप्त होकर, देश-देशान्तरों के तप्त हृदयों को अपनी श्रद्धामयी शिक्षा से शान्त करेगा। तब आओ, एकस्वर से बोलें—वृद्ध भारत की जय ! मातृभाषा की जय !!!

---

१. यहाँ प्रो० रामदेवरचित भारतवर्ष के इतिहास भाग १ से वक्ता का अभिप्राय है।—सम्पादक

Ravi Shastri

प्रस्तावना

गुरुकुल विश्वविद्यालय में "आर्य सिद्धान्त" के विद्यार्थियों को, "पारसी मत" पर व्याख्यान देते हुए, जो सारांश उन व्याख्यानों का मैंने लिखवाया था—उसको उचित संशोधनों के पश्चात्, धर्मप्रेमियों के आगे भेंट रखता हूँ। यदि समय मिलता गया और स्वास्थ्य ठीक रहा तो यह सिद्ध करने का प्रयत्न मेरी ओर से होता ही रहेगा कि सारे संसार की पुस्तकों का स्रोत वैदिक धर्म ही है।

इस लघु पुस्तक से न केवल आर्यसमाज के प्रचारक ही लाभ उठा सकेंगे, प्रत्युत सर्वसाधारण भी धर्म का इतिहास जानने में कुछ-न-कुछ सहायता पा सकेंगे।

गुरुकुल विश्वविद्यालय
२४ आश्विन, १९७३

—मुंशीराम जिज्ञासु

ओ३म्

अष्टम गुच्छक

पारसी मत और वैदिक धर्म

प्रस्तावना—पारसियों के मत की धार्मिक पुस्तक, पाश्चात्य विद्वानों में, जिन्दावस्ता के नाम से प्रसिद्ध है। जब तक यूरप में इस पुस्तक का पता नहीं लगा था, तब तक पारसी-मत के असली निकास का स्रोत सर्वसाधारण को विदित न था। बहुत समय तक तो यही ज्ञात न था कि भारतवर्ष में जो पारसी जाति के लोग बसे हुए हैं, वे किसी बड़े पुराने मत के अनुयायी हैं; समझा यह जाता था कि फ़ारस के अर्वाचीन मत की ही यह कोई शाखा है।

पारसी-मत का इतिहास—पारसी-मत का वर्णन पहले-पहल यहूदियों की धर्मपुस्तक "तौरेत",[1] अध्याय ३६, आयत ३ में आया है, जहाँ पैगम्बर जेरीमाया ने सम्राट् नैबुकैंडनेज़र के जेरुसेलम में प्रवेश करते हुए लिखा है कि उसकी सवारी के साथ एक व्यक्ति Rag Mag भी था (Rag का अर्थ है—प्रधान पुरुष, और Mag का—Magi। उस समय पारसी-मत के पुरोहितों की जाति को Magi कहते थे) और यहूदियों के प्रधान तीर्थ 'जेरुसेलम' को विजय करके प्रवेश के समय Magi के सर्दार का साथ होना जतलाता है कि नेबुकैडनेज़र (बैबीलोनिया के सम्राट्) ने पारस (फ़ारस) को विजय करके उसके प्राचीन धर्म के आचार्य को भी साथ ले लिया था। यह घटना ईसा से ५८८ वर्ष पूर्व हुई थी। फिर मालूम होता है कि ५०० ई० पू० (B.C.) तक बैबीलन के राजदर्बार में Magi का अधिकार रहा था।

Bible में इनका वर्णन फिर केवल पैगम्बर एज़ी-कायल, अ० ८, आ० १६ में आता है। वहाँ लिखा है कि कुछ यहूदी अपने मंदिर के द्वार की ओर पीठ करके, अपना मुख पूर्व को किये, सूर्य की पूजा करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उस समय भी पारसी मूर्तिपूजक न थे।

ईसाइयों की New Testament (अंजील) में भी वर्णन इस प्रकार है कि जब

---

१. Bible का पूर्वार्द्ध—Old Testament (तौरेत) उत्तर भाग—New Testament (अंजील)

ईसा उत्पन्न हुआ तो उसे देखने के लिए विद्वान् पुरुष पूर्व से आये। वहाँ Magi शब्द है—

"Now when Jesus was born in Bethlehem of Judaea in the days of Herod the king, behold, there came wise men (Magi) from the east to Jerusalam."

इतिहास में, सबसे पूर्व, पारसी-मत का वर्णन यूनानी ऐतिहासिक 'हिरोडोटस' ने किया है। उसका समय ४०० ई० पू० है। इसकी पुस्तक के ८१-८२ अध्याय में पारसियों के कर्मकाण्ड का बहुत-सा विधान किया हुआ है। उससे मालूम होता है कि पारसियों में उस समय भी मूर्तिपूजा न थी, परन्तु पशु का बलिदान देने लग गये थे। आगे पारसियों की धर्मपुस्तक का आन्दोलन करते हुए पता लगेगा कि आदि में इनके यहाँ मांसभक्षण तथा हिंसा का निषेध था, जिससे परिणाम यह निकलता है कि भारत में वाममार्ग के प्रचार होने के पश्चात् भी आर्यों के धर्म-सम्बन्धी विचार पारसियों में जाते रहे।

हिरोडोटस के पश्चात् ४०० ई० पू० में टिशियस, ३५० ई० पू० में डीनन, ३०० ई० पू० में थियोपाम्पस, २५० ई० पू० में हर्मीप्पोस ने भी पारसियों (Magi जाति के लोगों) के मत के विषय में बहुत लिखा है; परन्तु उनकी पुस्तकें बहुधा नहीं मिलतीं, और प्राप्त भाग भी शृंखलाबद्ध नहीं है। प्राचीन यूनानी ग्रन्थों से यह पता लगता है कि सिकन्दर का गुरु अरस्तू (Aristotle) भी पारसी-मत के विषय में बहुत-कुछ जानता था। रोमन ऐतिहासिकों में से "प्लूटार्क" ने भी पारसी-मत का वर्णन किया है। भूगोल विद्या के आविष्कर्ता "स्ट्राबो" ने ६० ई० पू० में अपनी भूगोल-पुस्तकों में Magi के मत का वर्णन करते हुए लिखा है— "चाहे किसी भी देवता को बलि देनी हो, पारसी लोग सबसे पूर्व अग्नि का आवाहन करते हैं जिसे (अग्नि को) उनकी यज्ञशाला में छिलका उतारी हुई लकड़ी से भोजन दिया जाता है, तथा उसको कभी बुझने नहीं दिया जाता है। वे उसपर घी डालते हैं तथा तेल भी। यदि कोई पुरुष उसमें मुर्दा वा कोई अन्य अपवित्र पदार्थ डालता है तो उसे मृत्युदण्ड देते हैं; अग्नि को धौंकनी से सुलगाते हैं।"

सन् १८० ईसवी में प्रसिद्ध यूनानी यात्री "पौसेनियस" ने भी पारसियों के 'होम' का वर्णन किया है, जहाँ यज्ञकुण्ड, समिधा और घृताहुतियों के अतिरिक्त किसी हिंसादि का वर्णन नहीं है। फिर ५०० ईसवी में ऐतिहासिक एमेथियस ने पारसी-मत का कुछ विस्तृत वर्णन किया है।

इसने बतलाया है कि फ़ारस के रहनेवालों ने अपने पुराने धर्म को छोड़कर 'जरथुश्त्र' को अपना पैगम्बर मान लिया और उसका समय फारस के बादशाह "कैखुसरो' के साथ जतलाया है। यूनानी लेखकों की, पारसी-मत के विषय में क्या सम्मति रही है, इससे उस मत के स्रोत का भी पता लगता है। यूनानी लेखक,

'डमेशियस' ने अपनी पुस्तक मूल-सिद्धान्त नामी में लिखा है—

"Magi तथा सारी आर्यजाति 'यूडिमौस' के लेखानुसार, कोई अवकाश को तथा कोई काल को, मूलकारण समझते हैं जिसमें से कि उत्पन्न होकर स्वच्छ देवता और दुरात्मा एक-दूसरे से जुदा हुए हैं, व जैसे कि अन्य कहते हैं—प्रकाश और अन्धकार—इन दोनों आत्माओं के प्रादुर्भूत होने से पूर्व।"

इसी प्रकार यूनानी लेखक थियोडोरस ने यही सिद्ध किया है कि जरथुश्त्र का मत फ़ारस का प्राचीन मत नहीं। पारसी मत के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार आरम्भ के ईसाइयों में भी फैले हुए थे जिन्होंने 'ईरान' के सासानी सम्राटों के समय, आर्मिनियन लेखकों के आधार पर पारसियों के मत का वर्णन कर, उसका खण्डन किया है। इनके लेखों से यह भी मालूम होता है कि उस समय पारसियों के दो भेद भी हो गये थे। उनमें से पश्चिम में रहनेवालों का नाम Magi अर्थात् माघव था, और पूर्व में रहनेवालों का नाम जेण्डिक था।

मुसलमान लेखकों ने भी, मुहम्मदियों के फारस पर विजय पाने के पश्चात् ही, पारसी-मत पर लिखना आरम्भ कर दिया था। अरब के प्रसिद्ध यात्री तथा ऐतिहासिक 'मसऊदी' ने पारसियों की धर्म-पुस्तकों के विषय में लिखा है—"प्रथम पुस्तक जो जर्दुश्त ने बनाई "अवस्था"[1] थी; यतः पारसी उसे समझ नहीं सकते थे, अतः जर्दुश्त ने उसका भाष्य किया और उसका नाम 'जन्द'[2] रक्खा, फिर उसने इस भाष्य की भी टीका बनाकर उसका नाम "पजन्द" रक्खा। जर्दुश्त की मृत्यु के बाद पारसियों ने उसकी भी टीका बनाई, जिसमें ऊपर वर्णित पुस्तकों पर विशेष टिप्पणी कर "यजदाह" नाम रक्खा।"

मसऊदी की सम्मति में जरथुश्त्र का समय ईसा पूर्व ६१० सम्वत् था। सन् ११५३ ईसवी में प्रसिद्ध मुहम्मदी लेखक "शाहरास्तानी" का देहान्त हुआ, उसकी सम्मति Magi जाति के विषय में बहुत अच्छी थी। जहाँ अन्य मुसलमान लेखक Magi को मूर्तिपूजक और ब्राह्मणों की तरह सितारों की पूजा करनेवाले समझते थे, वहां शाहरास्तानी उनको एक ईश्वर-पूजक बतलाकर यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों की श्रेणी में ही सम्मिलित करता था। यही लेखक बतलाता है कि पारसियों का एक भाग पुनर्जन्म को भी मानता था। एक बात मुसलमान लेखकों में विचित्र मालूम होती है। अन्तिम मुहम्मदी लेखकों ने अपने लेखों तथा कोशों में भी 'जर्दुश्त' अपने पैगम्बर "इब्राहीम" का ही दूसरा नाम बतलाया है। परन्तु संसार के इतिहास में यह कोई नई बात नहीं। जब कहीं किसी जाति ने अपने धार्मिक विचार किसी पूर्व जाति से लिये तो उस जाति के

---

१. अवेस्ता

२. ज़ेंद

प्रवर्तक को अपनी जाति का सुधारक ही समझ लिया। आगे आन्दोलन करने पर पता लगेगा कि मुसलमानों ने अपने धार्मिक विचार प्राय: पारसियों से लिये हैं अतएव उस मत के सुधार के पैगम्बर को इब्राहीम ही बतलाया है।

पारसी-मत में यूरोपियन खोज—भारतवर्ष में आने से पूर्व यूरोपियन जातियाँ पारसी-मत के विषय में कुछ नहीं जानती थीं; मुसलमानों के अत्याचार से तंग आकर जरथुश्त्र के अनुयायियों ने भारतवर्ष में आकर उदार आर्य-जाति की शरण ली। उनको यहाँ निवास करने की आज्ञा देते हुये ३ शर्तें कराई गई—

१—यह कि वे सब हथियार रख देवें।

२—यह कि अपनी पोशाक बदल लें। इसीलिए वर्तमान बम्बई के पारसियों की टोपी हिन्दुओं की पगड़ी के बंधेज से मिलती है।

३—गो-वध न करें।

इस समय सारे संसार में पारसियों की संख्या एक लाख पाँच हजार से अधिक नहीं है (लगभग इतनी है) जिनमें से भारतवर्ष में १,००,०९६ बसते हैं। इनमें बम्बई प्रान्त तथा बड़ौदा में रहनेवालों का जोड़ कुल संख्या का ९/१० भाग है। शेष १/१० सारे भारतवर्ष में बंटे हुए हैं, जिसमें से उनका विशेष भाग मध्य-प्रदेश, बरार तथा दक्षिण हैदराबाद में रहता है।

पहले-पहल यूरोपियन जातियों को 'पारसी' मत का परिचय भारतवर्ष में हुआ। सबसे पूर्व पारसी-मत की कुछ धर्म-पुस्तकें इंग्लैण्ड में १७वीं शताब्दि ईसवी में लाई गई; परन्तु उनको अद्भुतालय का शृंगार ही बना लिया गया तथा खोल करके किसी ने भी न देखा।

सबसे पहला पुरुष जिसने Magi जाति के सिद्धान्तों का, अपेक्षया, विस्तृत वर्णन किया Oxford का प्रसिद्ध साहित्यसेवी हाइड (Hyde) था। उसने सन् १७०० ईसवी में विविध साधनों द्वारा पारसी-मत के विषय में बहुत-कुछ लिखा है, परन्तु यह सब-कुछ मूल पुस्तकों के आधार पर नहीं है।

यूरप का प्रथम विचारक जिसने पारसियों के मूल ग्रन्थों का आन्दोलन किया फ्रांसिसी विचारक एन्क्विटिल डूपेरन (Anquetil Duperron) था। 'अवेस्ता' के कुछ पत्रे देखकर उसने दृढ़ संकल्प किया कि पारसी-मत के मूल ग्रन्थों को ढूंढ निकालना है। सन् १७५४ में बहुत-सा कष्ट झेलकर वह बम्बई पहुँचा। उस समय जैनियों की तरह पारसी भी अपने मत की पुस्तकें अन्यों को नहीं दिखाते थे, और यूरोपियनों पर तो, उनके विदेशी होने के कारण, विशेष सन्देह था। परन्तु जो काम धर्मानुसार न हो सका उसी में 'एन्क्विटिल' को रिश्वत देकर कृतकार्यता प्राप्त हुई। सूरत के दस्तूर[1] दराब ने पैसे के लालच से इसको अवेस्ता तथा पहलवी

१. पारसियों के पुरोहितों को दस्तूर कहते हैं।

भाषायें सिखाईं। इन भाषाओं में पर्याप्त योग्यता प्राप्त करके मार्च सन् १७५६ ईसवी में एन्क्विटिल ने जेन्दावस्ता का अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया और १७६१ में यूरोप लौटने तक वह अनुवाद करता रहा। उसने पूर्वीय भाषाओं के १८० हस्त-लिखित पुस्तक प्राप्त किये, जिनमें कुछ पारसियों के धर्म-पुस्तक भी थे। यूरप लौटने पर वह सीधा इंगलैंड गया और जो अवेस्ता के हस्त-लिखित पत्रे British Museum में पड़े थे, उनके साथ अपनी पुस्तक का मुकाबिला किया; तब अपनी प्राप्त की हुई पुस्तकें पेरिस की National Library में धर दीं। १० वर्ष के पश्चात्, सन् १७७१ ईसवी में, जेन्द-अवेस्ता का प्रथमानुवाद एन्क्विटिल ने छपाकर मुद्रित किया।

इस ग्रन्थ के छपने पर यूरप के विद्वद्-मंडल में तहलका मच गया; लोगों को नई बात जानने की बहुत आशा बँधी, परन्तु सारा ग्रन्थ पढ़ने पर दार्शनिकों (Philosophers) को बहुत निराशा हुई। जर्मनी के प्रसिद्ध Philosopher Kant ने कह दिया कि सारी जेन्द-अवेस्ता में किसी एक दार्शनिक विचार का गन्ध भी नहीं मिलता, केवल इतना ही नहीं प्रत्युत Oriental Scholars (पूर्वीय विचारकों) में तो झगड़ा आरम्भ हो गया कि एन्क्विटिल का अनूदित ग्रन्थ वास्तविक है वा नहीं। Sir Willian Jones का तो यह हेतु था कि यतः ग्रन्थ में बुद्धि तथा न्याय से कार्य नहीं लिया गया अतः वह जर्दुश्त की बनाई नहीं हो सकती। फ़ारसी कोश का कर्ता Richardson यह युक्ति देता था कि यतः पुस्तक में फारसी भाषा के शब्द नहीं हैं, तथा अरबी के अधिक शब्द है, तथा इसमें बचपन की-सी बातें लिखी हुई हैं, जो प्राचीन पारसिया की समझ पर एक धब्बा है; अतः ग्रन्थ असली नहीं है। इस समय इन युक्तियों में कोई सार नहीं दिखलाई देता, जब पता लग चुका है कि अवेस्ता के प्रत्येक १० शब्दों में ६ वा ७ शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं; और अरबी के शब्दों का उसमें नाम भी नहीं है।

फ्रांस के विचारक तो स्वभावतः एन्क्विटिल के अनुकूल थे, परन्तु सबसे अधिक सहायता Kleuker (क्ल्यूकर) से मिली, जिसने न केवल उनको असली बतलाया प्रत्युत सारे का जर्मन (भाषा) में अनुवाद कर अपनी टिप्पणी भी दी। जर्मनी में उसके पश्चात् पारसी-मत ही क्या, यहूदियों के Old Testament के समझने के लिए भी इसी को प्रयोग में लाया जाता था। इंगलैंड में एन्क्विटिल की पुस्तक को बनावटी समझा जाता रहा तथा उसको ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

५० वर्ष तक इसी प्रकार सन्देह की अवस्था रही जब कि डेन्मार्क के प्रसिद्ध विचारक Rask ने बम्बई आदि घूमकर सन् १८२६ ई० में ज़िन्द भाषा का समय तथा उसकी प्रमाणना[1] पर एक लेख लिखा। उस लघु पुस्तिका में उसने सिद्ध किया

१. प्रामाणिकता।

कि जेन्द-अवेस्ता की भाषा संस्कृत से मिलती है। उस समय लोगों के सन्देह दूर हुए। परन्तु जेन्द-अवेस्ता के ठीक विचारों को तथा उसके शब्दार्थ को ठीक प्रकार प्रकट नहीं किया जा सकता था, क्योंकि अवेस्ता तथा संस्कृत के शब्दों की समानता दिखलाने के लिए उस समय कोई कोश नहीं बना था। इस कमी को भी एक फ्रेंच विचारक ने ही पूर्ण किया। पेरिस के प्रसिद्ध बड़े कॉलिज के Professor Eugene Burnouf ने सबसे पूर्व आधुनिक संस्कृत साहित्य में बहुत योग्यता सम्पादन करके भागवत पुराण का अनुवाद किया। बर्नूफ़ ने अपनी संस्कृत की योग्यता को अवेस्ता की शिक्षा तथा व्याकरण की बुनियाद डालने में लगाया और तब पता लगा कि यद्यपि एन्क्विटिल को जेन्द-अवस्ता की पुस्तक तो ठीक मिली थी, परन्तु संस्कृत न जानने के कारण वह उसका अनुवाद ठीक न कर सका। बर्नूफ़ को, पारसियों की धर्म-पुस्तक "यास्ना" का संस्कृत-अनुवाद 'नेरियोसंघ' का किया हुआ मिल गया; उसी का आधार लेकर इसने यास्ना का फ्रेंच में एक भाष्य लिखा।

पारसियों की अन्य पुस्तकों का भी इसने अनुवाद किया। सन् १८५२ में बर्नूफ़ के मरने पर पारसी-मत का आन्दोलन मध्य में ही रह गया। एन्क्विटिल का अनुवाद बहुत दोषों से युक्त था; फिर भी उसने असली जेन्द-अवेस्ता का पुस्तक यूरोप में प्रचलित किया। बर्नूफ़ का कार्य उससे बहुत बढ़कर था, पर उसको भी पर्याप्त समय आन्दोलनार्थ नहीं मिला। पारसी गाथाओं तक उसकी गति नहीं हुई थी, जिनके छन्द भी संस्कृत से मिलते हैं।

सबसे पूर्व विचारक जिसने अवेस्ता की भाषा, व्याकरण तथा कोश संसार को दिया, Kiel University का प्रसिद्ध Professor Olhausen था। उसने सन् १८२९ ईसवी में वैण्डीडाड के चार अध्याय छपवाये। इसके कार्य की पूर्ति प्रसिद्ध डेनिश स्कॉलर (Danish Scholar Francis Bopp) ने की। इसके पश्चात् बवेरिया की गवर्नमेण्ट ने बहुत-सा धन देकर अपने दो पूर्वीय भाषाओं के विचारकों अर्थात् मार्क जोज़ेफ़ म्यूलर और फ्रेडरिक स्पीगल इस कार्य पर लगा दिए। म्यूलर पेरिस से अवेस्ता तथा पहलवी के मूल ग्रन्थों की नकल करवा लाया, परन्तु स्पीगल ने मूल जेन्द-अवेस्ता को शोधकर सबसे पूर्व छपवाया। फिर वह कोपनहेगन, पेरिस, लन्दन, ऑक्सफोर्ड में भ्रमण करता हुआ, अपनी आवृत्ति छपवाने ही लगा था कि लिपज़िग में प्रोफ़ेसर हरमन ब्राकहस ने एक प्रथम की आवृत्ति, वैण्डीडाड, यास्ना और विस्परद की छापी और साथ ही अवेस्ता का कोश भी छाप दिया। उस समय से जर्मनी में पूर्वीय भाषाओं के अन्तर्गत अवेस्ता की भी गिनती होने लगी।

इसी समय जब स्पीगल जेन्द-अवेस्ता की अपनी आवृत्ति छाप रहा था प्रो० वेस्टरगार्ड ने कोपनहेगन से जेन्द-अवेस्ता के छापने की सूचना दी। उसने भारत

तथा फ़ारस, दोनों ही स्थानों में बहुत-सी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की। वास्तव में पारसी मत की धर्म-पुस्तकों के पुराने लेख पश्चिमीय भारत, उसमें भी विशेषत: गुजरात में, मिलते हैं। परन्तु गुजरात के पारसियों ने वेस्टरगार्ड पर विश्वास न किया, अत: उसको बहुत थोड़ी पुस्तकें मिलीं। स्पीगल की तरह वेन्टरगार्ड ने फारसी व्याकरण तथा कोश बनाने का विज्ञापन दिया था। इन दोनों विद्वानों की पुस्तकों की समालोचना जर्मनी के प्रसिद्ध (Scholar) मार्टिन-हॉग ने भी की थी, परन्तु सबसे उत्तम समालोचना हैनोवर देश के गौटिनजन नगरस्थ विश्वविद्यालय के प्रो० थियोडोल वेनफी ने की। वह स्वयं संस्कृत का उपाध्याय था, अत: उसने संस्कृत से मुक़ाबिला करके यह बतलाया कि जेन्द-अवेस्ता के पहलवी भाषा में अनुवाद की अपेक्षा संस्कृत से सहायता लेने पर अवेस्ता के मन्त्रों का अर्थ ठीक समझ में आ सकता है।

इस समय पारसी मत के विषय में जो हम जानते हैं उसके बड़े भाग का आन्दोलन मार्टिन हॉग ने किया है। यह वार्टिनवर्थ के होहन ज़ौलर्न (Hohen-Zollern) गढ़ के पास आस्टडार्फ में ३० जनवरी १८२८ ई० में उत्पन्न हुआ था। उसका पिता एक साधारण किसान था, परन्तु पुत्र को उसने अच्छी शिक्षा दी। सन् १८४१ ई० में उसने हिब्रू आदि कई भाषाएँ पढ़ ली थीं, और नवम्बर १८४३ में वह पाठशाला में सहायक अध्यापक नियत हुआ। मार्टिन हॉग ने १८४७ में Inspector of Schools को कह दिया कि वह नौकरी छोड़ युनिवर्सिटी में शिक्षा-प्राप्त्यर्थ जावेगा। संस्कृत में वह इस समय अच्छी योग्यता प्राप्त कर चुका था। मार्च १८४८ में वह १२ आने के पैसे जेब में डालकर ट्यूबिनजेन् के विश्वविद्यालय को चल दिया, जहाँ उसके उपाध्यायों ने शीघ्र उसकी योग्यता को पहचान लिया और उसे D.Sc. बना दिया। इसके पश्चात् वह संस्कृत, अवेस्ता तथा पारसियों के धर्म-ग्रन्थों के विषय में आन्दोलन करता रहा, तथा बहुत-से निबन्ध पारसी-धर्म पर छपवाये; परन्तु उसकी इच्छा भारत में पहुँचकर मूल ग्रन्थ देखने की बनी रही। ऋग्वेद संहिता का पाठ उसने केवल अवेस्ता की पहेलियों को बूझने के लिए ही आरम्भ किया था। उसने अपने परिश्रम से जो परिणाम निकाला उसको अपने दूसरे निबन्ध में इस प्रकार वर्णन किया है—

"मेरे आन्दोलन के लिए प्राचीन फारसी भाषा (जिसे सर्वसाधारण पारसी कहते हैं) अधिक लाभदायक थी, परन्तु जेन्द-अवेस्ता की पवित्र भाषा की इस असली भतीजी से सहायता लेनी प्राय: कठिन और अधिक भ्रमोत्पादक है, इसकी अपेक्षा कि अवेस्ता की बड़ी बहिन, वैदिक संस्कृत से सहायता ली जावे।"

हॉग ने दृष्टान्त के लिए कुछ उदाहरण दिये हैं—आधुनिक फारसी में हृदय को दिल कहते हैं, अवेस्ता में उसको ज़रेदय और संस्कृत में उसी को हृदय कहते हैं। मार्टिन हॉग कहते हैं—"हृदय का अपभ्रंश, ज़रेदय समझ लेना कठिन नहीं है।

जब हम देखते हैं कि संस्कृत का 'ह्' प्राय: अवेस्ता में 'ज़' से बदल जाता है, और संस्कृत का 'स' 'ह्' से परिवर्तित होता है, यथा—वैदिक संस्कृत के 'सोम' को अवेस्ता में 'होऽम' कहा है। इसी प्रकार अवेस्ता में 'वर्षा' को 'शरेऽदा' कहते हैं, इसको फारसी में देखना कठिन है, परन्तु वैदिक संस्कृत का 'शरद' इसकी घुण्डी खोल देता है।"

ज़िन्द	फारसी	संस्कृत
कैरीनाउती	कुनद	कृणोति, करोति
आतर्श	आतिश	अथर्

यास्ना गाथाओं का पता मार्टिन हॉग ने लगाया। इसने सबसे पूर्व गाथाओं को भली-भाँति पढ़कर गाथा के ४४वें अध्याय का अनुवाद भी किया, जो १८८८ ई० में "Journal of the German Oriental Society" में छप गया था। मार्टिन हॉग की चिरकाल की आशा तब पूर्ण हुई जब कि सन् १८५८ ई० में बम्बई प्रान्त के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मिस्टर हॉवर्ड ने इन्हें संस्कृत-शिक्षा का अध्यक्ष बनाकर बुलवाया। उस समय प्रो० हॉग का सम्बन्ध बनसेन (Bunsen) आदि बड़े-बड़े विद्वानों के साथ था, पर उन्होंने सर्व-सम्बन्धों को छोड़कर जून १८५८ में भारत को प्रस्थान किया। उन्होंने भारतवासियों के साथ ऐसा अच्छा व्यवहार किया कि वह ब्राह्मण पण्डितों तथा पारसी दस्तूरों—दोनों के विश्वासपात्र बन गये। कर्मकाण्ड की क्रियात्मक शिक्षा को पढ़कर उसका अनुवाद किया, और बड़ी विद्वत्तापूर्वक भूमिका लिखी। १८६६ ई० तक हॉग भारत में रहा, और उस समय सारे भारत में घूमकर जहाँ वेद और अवेस्ता पर व्याख्यान दिये, वहाँ बहुत-से हस्तलिखित पारसियों के धर्म-पुस्तक भी प्राप्त किये। उसने बड़ा अच्छा पुस्तकालय संग्रह किया जिसको अन्त में म्युनिख (Munich) की गवर्नमेंट ने खरीदकर अपने सार्वलौकिक पुस्तकालय में धर दिया। मार्टिन हॉग का देहान्त, वर्षों बीमार रहने के पश्चात् ३ जून १८७६ को हो गया जिस कारण उसके बहुत-से परिश्रम का फल उसीके साथ समाप्त हो गया।

मार्टिन हॉग की मृत्यु के पश्चात् फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक जेम्स डार्मस्टेटर ने 'Sacred books of the East Series' में जेन्द-अवेस्ता का अनुवाद छापना आरम्भ कर दिया, जिसके दो भाग ही छपे थे कि डार्मस्टेटर का देहान्त हो गया। तब उसका काम प्रोफेसर L.H. Mills ने सम्भाला, जिसने कि शेष तीसरा भाग निकालकर जेन्द-अवेस्ता का अनुवाद पूर्ण कर दिया। इसके साथ ही सन् १८८० ई० में पहलवी मूल पुस्तकों का अनुवाद प्रोफेसर E.W. West ने आरम्भ कर दिया था, जो ५ भागों में सन् १७६८ ई० में समाप्त हुआ।

मार्टिन हॉग ने अपने तीसरे निबन्ध में बहुत-से पारसी अनुवादकों का भी

उल्लेख किया है, परन्तु यत: उनकी पुस्तकों की आलोचना यूरोपियन विद्वानों की पुस्तकों में आ चुकी है अत: उसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं। इस साधारण ऐतिहासिक दृष्टि डालने से जहाँ यूरोपियन विद्वानों के परिश्रम की सराहना करनी पड़ती है वहाँ यह स्पष्ट है कि प्राचीन पारसी भाषा को समझने के लिए वैदिक भाषा के जानने की अत्यन्त आवश्यकता है।

पारसी धर्मग्रन्थों की भाषा—पारसियों की मूल धर्म-पुस्तक 'अवेस्ता' है। उसकी भाषा को भी इस समय के पाश्चात्य विचारक 'अवेस्ता' नाम ही देते हैं। 'अवेस्ता' 'विद्' धातु से निकाला जाता है, और उसके साथ 'अ' निपात जोड़कर उसके अर्थ ज्ञान व जानने के किये जाते हैं। जिस 'विद्' धातु से वेद बना है, उसी से पारसी व्याकरण में 'अवेस्ता' बनाया जाता है। 'ज़ेन्द' शब्द 'जन' धातु से बना है जिसके अर्थ जानने व समझने के हैं। इसलिए 'ज़ेन्द-अवेस्ता' से मतलब यह है कि ईश्वरीय ज्ञान को समझानेवाला भाष्य। पारसी भाषाओं को मार्टिन हॉग ने दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम स्वच्छ पारसी भाषाएँ जो कि पूर्वीय ईरान—अर्थात् देश की बक्तरियन शाखा में बोली जाती हैं। इसी भाषा में जेन्द-अवेस्ता के सारे भाग लिखे गए हैं, और यह चिरकाल तक वख्नीरिया में बोली जाती रही है। इस प्रथम भाग की सबसे पुरानी भाषा में गाथाएँ लिखी गई हैं। द्वितीय —इसी भाषा का मध्यकालीन अपभ्रंश। ईसा से पूर्व ३०० वर्ष तक प्रथम भाषा रही। फिर क्रमश: उसका अपभ्रंश होता गया। इस समय तक प्राय: शब्द और उनके अधिक रूप संस्कृत से ही मिलते रहे। उस अपभ्रंश का पूर्व रूप 'पहलवी' में देखने में आता है। यह क्रमश: बिगड़ती हुई आधुनिक फारसी भाषा का रूप धारण करती गई, और इसीसे मिलती हुई कॉकेशस (Caucasius) की भाषा 'आसेटिस' है। उसी से अरेबियन और अफ़गानों की पश्तो भाषा निकली है। इससे मालूम होगा कि अवेस्ता की भाषा का बड़ा गाढ़ सम्बन्ध पहलवी के साथ है और पारसियों की पिछली धर्म-पुस्तकें पहलवी भाषा में ही लिखी गई हैं। मार्टिन हॉग की सम्मति में जैसा गाढ़ सम्बन्ध मध्य-कालीन संस्कृत-साहित्य का वैदिक साहित्य के साथ है वैसा ही जेन्द-अवेस्ता का सम्बन्ध वेदों के साथ है। मार्टिन हॉग लिखते हैं—"वैदिक संस्कृत और अवेस्ता की भाषा के व्याकरण में बहुत थोड़ा भेद है, और जो है, वह भी प्राय: उच्चारण और शब्द-भेद है। कुछ नियमित उच्चारण के भेद और अन्य बोलने की प्रसिद्ध विषेषताएँ ऐसी हैं जिसका ज्ञान होने पर शब्द-विद्यावित् किसी भी 'अवेस्ता' के शब्द को सुगमता के शुद्ध संस्कृत का शब्द बना सकता है। बहुत प्रसिद्ध परि-वर्तनों के दृष्टान्त नीचे दिये जाते हैं—

(१) संस्कृत में प्रारम्भ का 'स' 'ह' बन जाता है—यथा, वेद का 'सोम' अवेस्ता में 'होऽम' हो जाता है, 'सम' का 'हम' बन जाता है,'स' का 'ह:' बन जाता

है, 'सच' का 'हच'। यदि शब्द के मध्य में 'स' आवे तब भी वही परिवर्तन हो जाता है—जैसे 'असु' का 'अण्हु'; सिवाय शब्द के अन्तिम भाग के 'स' ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

शब्द के अन्त का 'श' वैसा ही बना रहता है यदि उसके पूर्व 'अ' न हो। अन्तिम दशा में, यदि 'अ' श के पूर्व हो तब 'अश' का 'ओ' बन जाता है। परन्तु यदि उसके पश्चात् 'च' हो तो भेद नहीं आता, यथा संस्कृत 'असुरा:' का 'अहुरो' बन गया है 'अहुरश' नहीं बना। परन्तु छन्द में 'अहुराश्च' मिलता है।

(२) संस्कृत का 'ह' जब रूपान्तर से उत्पन्न होता है, वह अवेस्ता में कभी नहीं रहता; तथा प्राय: 'ह' 'य' में बदल जाता है, यथा—संस्कृत में 'हि' का 'ज़ि' बन जावेगा। 'हिम' अवेस्ता में 'ज़िम'। हवे संस्कृत, हवेक ज़वे। कभी-कभी अवेस्ता का 'ज़' 'संस्कृत' 'ज' के स्थान में भी आता है, यथा ज़न का जन, फारसी में ज़ादन, वैदिक 'जिह्वा' का 'हिज़्वा' है।

(३) अवेस्ता की संस्कृत शब्दों से समानता करने में प्राय: यह पाते हैं कि अवेस्ता में एक 'अनुस्वार' आता है जो कि संस्कृत में नहीं, जैसा कि 'अण्हु'।

(४) संस्कृत 'श्व:' के स्थान में अवेस्ता के अन्दर 'स्प' हो जाता है, यथा—'अश्व: के स्थान में 'अस्प', ग्रीक में हिप्पस्। संस्कृत में 'विश्व', अवेस्ता में 'विस्प'।

(५) सं० 'ऋत' के स्थान में पूर्वनियमानुसार अवेस्ता का 'आरेत' होना चाहिए, परन्तु उसके साथ ही हम अवेस्ता में अश्व भी उसीका पर्यायवाची पाते हैं; अतएव सं० मर्त्य का मश्य बन जाता है अर्थात् 'ऋत्' का 'अश्य' हो गया इत्यादि।

मार्टिन हॉग ने इसी प्रकार समानता दिखाते हुए बतलाया है—

सं० अवे०	सं० अ०	सं० अ०
अस्यै—अहमे	कस्यै—कहमै	येषाम्—इशाम्
श्वान—स्पान	श्व—स्प	श्वानं—स्यानेन
शुने:—सूने	शूनस—सूनो	श्वास—स्यानो
शुना—सुनाम्	पथिन्—पथान्	पन्थ—पन्त
पथ—पथा	पथ्यनस्—पन्तानो	पथं—पथम्
कृणोमि—किरीनउमी	गमयति—जमयति	गृभ्नामि—गैरिवनामि

अवेस्ता के अन्य भागों की भाषा से, गाथा-पुस्तकों की भाषा का उतना ही भेद है, जितना कि वैदिक साहित्य का संस्कृत-साहित्य से भेद मालूम होता है। परन्तु मार्टिन हॉग की सम्मति में वैदिक और संस्कृत-साहित्य में अधिक सामीप्यता इसलिए रही है कि उनका व्याकरण नियमपूर्वक तथा पूर्ण था। अवेस्ता की भाषा का कोई भी निश्चित व्याकरण नहीं मिलता और न ही उसके नियम पूर्ण थे, इसलिए दोनों में बड़ा भेद पड़ गया। सुननेवालों का कथन है कि गाथाओं

का गान करते हुए पारसी पुरोहित ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानो सामवेद के मंत्रों का गान कर रहे हैं। जहाँ गाथा की भाषा अधिकतः वैदिक भाषा के साथ मिलती है वहाँ अवेस्ता के दूसरे भाग, अर्थात् वैण्डिडाड, यास्ना आदि—यदि कुछ समानता रखते हैं तो अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य के साथ। गाथा में जो कैरीनाउमी शब्द "मैं बनाता हूँ"—इस अर्थ में आता है, वह स्पष्ट वैदिक 'कृणोमि' से निकला हुआ प्रतीत होता है, न कि संस्कृत 'करोमि' से।

दूसरा दृष्टान्त संस्कृत 'मह्य' शब्द का ले सकते हैं। इस शब्द की समानता भी गाथा की 'मयिव्या' (मैव्य) से प्रतीत होती है। इससे एक और कल्पना भी की जा सकती है। वर्तमान पारसी मत में जहाँ गोमांस को पाप तथा घृणित समझा गया है वहाँ यज्ञ में पशुहिंसा का विधान है। गाथाओं के विचार वैदिक समय से गये; उनमें पशुहिंसा का विधान सर्वथा नहीं है। और जिन भागों में पशुहिंसा का विधान है, उसके समय से पूर्व ही भारतवर्ष में वाममार्ग का प्रचार आरम्भ हो चुका था।

जेन्द-अवेस्ता की भाषा का स्रोत वैदिक संस्कृत भाषा को मानने तथा जरथुश्त्र को वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक समझने में मार्टिन हॉग का ही विचार अब तक दृढ़ मालूम होता है। जेन्द-अवेस्ता के अनुवादक, फ्रांसीसी जेम्स डार्मस्टेटर ने मार्टिन हॉग से मतभेद प्रकट करते हुए यह प्रतिज्ञारूप से लिखा है कि 'अवेस्ता' की भाषा और उसके सिद्धान्त वेद से नहीं निकले, प्रत्युत वेद और अवेस्ता दोनों का ही स्रोत कोई तीसरा था। यह सम्मति डार्मस्टेटर ने सन् १८८० ई० में जेन्द-अवेस्ता के प्रथम भाग में दी थी। डार्मस्टेटर सन् १८८३ ई० में जेन्द-अवेस्ता के अनुवाद का दूसरा भाग छपवाकर मर गया था, तब उसके अनुवाद का शेष भाग L.H. Mills ने समाप्त करके १८८७ में छपवाया। मिल्स ने बड़े आन्दोलन के अनन्तर मार्टिन हॉग के सिद्धान्त को ही पुष्ट किया, और बतलाया कि ऋग्वेद के बनने से बहुत पीछे पारसी गाथाएँ बनीं, जिनका समय उसने १५०० ई० पू० स्थिर किया, तथा जरथुश्त्र का समय ५०० ईसा से पूर्व बहुपक्षानुसार निर्धारित किया गया है। अतः मिल्स का मत है कि ऋग्वेद से निकले हुए प्राचीन पारसी धर्म में जो गिरावट हो गई थी उसको दूर करने के लिए जरथुश्त्र ने जन्म लिया; अतएव वह पारसी धर्म का संशोधक था, न कि संस्थापक। तब हम कह सकते हैं कि जो कुछ भी मार्टिन हॉग ने सन् १८७६ ई० तक तैयार करके छपवाया, उसको अशुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न अब तक सर्वथा निष्फल हुआ है। एक डार्मस्टेटर ने ही उसके विरुद्ध आवाज उठाई थी और उसने अपने मतभेद के लिए कुछ पुष्ट प्रमाण और युक्तियाँ नहीं दीं; केवल कथन मात्र ही प्रतिज्ञा लिखी थी। सारांश यह कि अवेस्ता की प्राचीन पारसी भाषा तथा प्राचीन पारसी-धर्म के सिद्धान्त जो गाथाओं में वर्णित हैं, वेद से ही लिये गए थे।

मार्टिन हॉग ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ७६ पर लिखा है—"यदि व्याकरण की स्थापना एक स्वतन्त्र विद्या के रूप में प्राचीन मौबिदों, दस्तूरों (पुजारी, तथा पुरोहितों) में होती जैसी कि संस्कृत-व्याकरण की ब्राह्मणों में थी, और यदि ईरान ने भी पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि-से पुरुष उत्पन्न किये होते जो कि संस्कृत भाषा के धर्म-निर्माता बने, तो हमको (पारसियों के) मूल-मन्त्रों की इस बुरी अवस्था की कम शिकायत करनी पड़ती तथा उनका भाष्य करने में बहुत थोड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता..........ब्राह्मणों के व्याकरण-विषयक परिश्रम का ही परिणाम था कि हम वेदों का आश्चर्यजनक शुद्ध और व्याकरणानुसार मूलपाठ पाते हैं और अन्य आर्ष-ग्रन्थों का भी।"

अवेस्ता की भाषा का प्रथम अपभ्रंश पहलवी भाषा है जिसको पाश्चात्य विचारकों ने जेन्द कहा है। सिकन्दर के समय ईरान तथा भारतवर्ष के सीमा-प्रान्त में यह भाषा बोली जाती थी तथा मनु ने भी भारतवर्ष से परे रहनेवाली पाल्हव जाति का वर्णन किया है।[1]

फारस में यह भाषा सासानियों के समय में बोली जाती थी। यतः जरथुश्त्र के मत का ह्रास होकर उसकी पुनः स्थापना सासानियों के समय में हुई इसलिए जरथुश्त्र के मत की सब पुस्तकें उसी भाषा में लिखी गईं। अवेस्ता के पहलवी अनुवादकों का ही नाम जेन्द है। इसके पश्चात् अरब-निवासियों का आना-जाना ईरान में हुआ और तब से अरबी शब्दों का भी समावेश पहलवी भाषा में होने लगा। अवेस्ता के इस दूसरे अपभ्रंश का नाम फारसी लेखक "इब्नेमुकफ्फा" ने 'ज़्वारिश' रक्खा। पहलवी में उसीका उच्चारण 'हुज़ वारिष' है। जेन्दावेस्ता के पहलवी अनुवाद पर जो टिप्पणी 'हुज़वारिष' में की गई उनका नाम पज़न्द रक्खा गया। बदलने को, लिपि और लेख-शैली तो बदल दी गई, परन्तु उच्चारण ज़्वारिष शब्दों का पहलवी शब्दों की तरह ही होता रहा यथा—ज़्वारिश में रोटी के लिए 'लहमा' लिखा जाता रहा और पढ़ा जाता रहा 'नांद' जो कि पहलवी में रोटी के अर्थ में आता है।

पहलवी साहित्य—पारसियों की धर्म-पुस्तक जो शुद्ध भाषा में है उसको गाथा कहते हैं; संख्या में वे ५ हैं। उनमें ईश्वर की स्तुति तथा प्रार्थना के मन्त्र हैं, और पारसी विचारकों की सम्मति के अनुसार वेद के ईश्वर-विषयक सिद्धांतों से सर्वथा मिलते हैं।

पहलवी में अनूदित तथा भाष्यरूप में पारसी मत के दो प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं—प्रथम वे जिनका आधार अवेस्ता पर है, तथा अवेस्ता के प्रतीकों को

---

१. मनुस्मृति १०/४४

लेकर ही चलते हैं; द्वितीय वे ग्रन्थ जिनका आधार किसी ज्ञात अवेस्ता के मूल मन्त्र पर नहीं।

(१) अवेस्ता-सम्बन्धी पुस्तकों में प्रथम "वैण्डिडाड" है जिसमें ४८,००० शब्द हैं; अवेस्ता के प्रत्येक पद का अनुवाद पहलवी में करके, वेद के भाष्यों की तरह असाधारण तथा कठिन शब्दों पर टिप्पणी है, तथा कहीं-कहीं दूसरों का मत भी उसी प्रकार दिया है जिस प्रकार कि गृह्यसूत्रादि में "इत्येके" पद से दर्शाया जाता है। इसके पश्चात् क्रमश: निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं—

(क) पहलवी यास्ना—३६,००० शब्द (प्रारम्भिक प्रार्थना को छोड़कर)

(ख) पहलवी विश्व-परद—३,३०० शब्द

(ग) हदोखत नस्क—१,५३० शब्द

(घ) विश्तास्प यश्त—५,२०० शब्द

इसके अतिरिक्त अहुर्माज्दयश्त, खुर्शेदयश्त, सुरोश-यश्त हदोख, हप्तान-यश्त, वहराम-यश्त आदि बहुत-से यश्त हैं।

फिर एक विशेष प्रकार के ग्रन्थ हैं जिनको 'न्याइश' कहते हैं, यथा—अतश न्याइश, और इनके अतिरिक्त बहुत-से फुटकर ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन यास्ना में आया है।

(२) अवेस्ता-सम्बन्धी तथा शुद्ध पहलवी ग्रन्थों के मध्य में एक और प्रकार के ग्रन्थ हैं जिनमें ज़ेन्दावेस्ता के उद्धरण तो दिये गये हैं, पर वे अब वर्तमान ज़ेन्दावेस्ता में नहीं मिलते। इनमें प्राय: कर्मकाण्ड का विधान है। इस कोटि के अब तक ३ ग्रन्थ मिले हैं—

(क) निरंगिस्तान—जिसमें ३०,००० शब्द हैं।

(ख) फरहंगे-ओ३म् खदूक—यह अवेस्ता तथा पहलवी शब्दों का कोष है जिसमें ३,३०० शब्द हैं।

(ग) अफ़रीनेदहमान—इसमें २,००० शब्द है।

(३) शुद्ध पहलवी ग्रन्थ बहुत-से हैं, जिनमें पारसी मत-सम्बन्धी सर्व प्रकार के कर्मकाण्ड का विधान और इतिहास भी पाया जाता है; उनमें से इस समय जो विद्यमान हैं, उनकी सूची निम्न प्रकार है—

(क) वजरकेंद दीनी—१६,००० शब्द

(ख) दीनकंड—१,७०,००० शब्द

(ग) दादिस्तानेदीनी—३०,००० शब्द। (इसमें पारसी मत-सम्बन्धी ९२ प्रश्नों द्वारा शंका-समाधान किया गया है, फिर भी यह ग्रन्थ अपूर्ण प्रतीत होता है।)

(घ) शिकण्ड-गुमानी-विजार—१८,००० शब्द

(ङ) बुन्दाहीश—१३,००० शब्द
(च) मिनोके ख़र्द (विद्या, बुद्धि)—१२,००० शब्द
(छ) शायस्तला—शायस्त—१०,००० शब्द (इसमें सब शुद्धि आदि प्रकरणों के अतिरिक्त यज्ञोपवीत का भी प्रकरण है।)
(ज) अर्दाविराफ़ नामक(नामा)—८८०० शब्द (इसमें परलोक का जो दृश्य अर्दाविराफ़ ने देखा उसका वर्णन है।)
(झ) मवीगाने गोश्ते फरियानो—३,००० शब्द
(ञ) बहमन यश्त—४२,००० शब्द

इनके अतिरिक्त इसी कोटि के और बहुत-से छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं जिनमें प्रधान ग्रन्थ 'जामास्प नामक' है। यह 'जामास्प' ईरान के सम्राट् 'गुशतास्प' का पुरोहित था, जिसके राज्य में ईरानी ऐतिहासिकों के लेखानुसार जरथुश्त्र ने एकेश्वर-पूजा तथा अग्नि की स्थापना के प्रचार से मूर्तिपूजा की जड़ समूल उखाड़ दी थी। बहुत-से ग्रन्थ पारसियों ने भारतवर्ष में आने के पश्चात् बनाये हैं, जिनकी गणना इस स्थान में करना उचित नहीं है। परन्तु मार्टिन हॉग ने प्रामाणिक पहलवी शब्द-संख्या को जोड़कर ५,१७,००० बतलाया है।

'अवेस्ता' शब्द के अर्थ 'अव' तथा 'स्ता' धातुओं को मिलाकर (अव=जो, स्ता=स्थिर—जो स्थिर है—भावार्थ जो मूल हो) बनता है, परन्तु मार्टिन हॉग की सम्मति में अवेस्ता को पहलवी अविस्ताक में ढूंढने से विस्त=अर्थात् विद्ज्ञाने धातु से निकला हुआ समझ सकते हैं, इस प्रकार अवेस्ता तथा वेद पर्यायवाची शब्द हो जाते हैं। ज़ेंद शब्द पहलवी 'ज़न्' धातु से बना है जो संस्कृत 'ज्ञ' का अपभ्रंश है। उसके अर्थ भी विद्या के हैं।

यद्यपि, अविस्ताक की पहलवी पुस्तकों के बहुत-से भाग नहीं मिलते तथापि वर्तमान समय की पुस्तकों में उनका वर्णन आने से पता लगता है कि जब सिकन्दर ने एशिया पर चढ़ाई करके भारतवर्ष पर भी धावा किया था तथा आर्य राजाओं से सतलुज (शतद्रु) नदी पर रोका जाकर लौट गया तो मार्ग में प्रचीन ईरान की राजधानी 'परसीपोलिस' में ठहरा तथा मद्य पीकर रात को एक यूनानी वेश्या के भड़काने से ईरान के सम्राटों के पुराने महल को जलवा दिया, जिससे पारसी-मत के बहुत-से ग्रन्थ सदा के लिए जलकर नष्ट हो गये। उनका अन्य ग्रन्थों में प्रमाण दिये जाने से वैसा ही पता लगता है जैसा कि मानव-धर्म-सूत्र के नाम से कोई-कोई सूत्र आर्ष धर्म-सूत्रों में दिखलाई देते हैं।

पारसी धर्म-ग्रन्थ के कर्त्ता—जेन्दावेस्ता का कर्त्ता पारसी-मत का प्रसिद्ध प्रवर्त्तक जरथुश्त्र ही समझा जाता है। इन ग्रन्थों में से, जिसका पुंज जेन्दावेस्ता

कहलाता है, गाथा—ज़िन्द की गा, 'गाने' धातु से बना है अर्थात् जिसमें ईश्वर के गुणानुवाद गाये जावें। 'यास्ना यझ' इस प्रकार यास्ना आत्मिक तथा भौतिक यज्ञों का पूर्ण विधान करता है। विशपरद सृष्ट्युत्पत्ति तथा जरथुश्त्र के परमात्मा से मेल का वर्णन करता है। पारसियों में यह दोनों मार्टिन हॉग की सम्मति में, वही प्रमाणता[1] रखते हैं जो कि आर्यों में वेद को है। जेन्दावेस्ता का तीसरा भाग पारसी-मत में वही स्थान रखता है जो आर्षग्रन्थों में स्मृतियों का है, क्योंकि उनमें विविध पारसी पुरोहितों द्वारा कथित ज्ञान-सम्बन्धी तथा कर्मकाण्ड-सम्बन्धी उपदेश हैं। मार्टिन हॉग की सम्मति में जहाँ यास्ना तथा विशपरद का कर्त्ता जरथुश्त्र को कह सकते हैं वहाँ वैण्डिडाड का कर्त्ता जरथुश्त्र नहीं हो सकता।

पारसी धर्म का उद्भव तथा विकास—यद्यपि पारसी-मत के विषय में मार्टिन-हॉग की मृत्यु के पश्चात् भी यूरोपियन विचारक बहुत-कुछ आन्दोलन करते रहे हैं, और जेम्स डार्मस्टेटर ने किन्हीं अंशों में उसके साथ मत-भेद का भी साहस किया, परन्तु जहाँ अपने मत-भेद के लिए वह कोई प्रबल हेतु नहीं दे सका, वहाँ साथ ही पहलवी शब्द-कोष और जेन्दावेस्ता के अनुवाद के विषय में भी कोई नई बात नहीं बता सका। जेम्स डार्मस्टेटर के काम को समाप्त करनेवाला L.H. Mills बड़े विचार के पश्चात् फिर मार्टिन हॉग के साथ ही सहमत हुआ और उसने अपनी सम्मति दी कि सबसे पुरानी पारसी मत की पुस्तकें गाथायें हैं और वे ऋग्वेद के अधिकतः समीप हैं। उसकी सम्मति में गाथायें ऋग्वेद के २५, वा ३० सूक्तों के लगभग हैं। वह मानता है कि जरथुश्त्र के पूर्व अहुरमज़्द को जगत्-कर्ता मानकर पारसी-मत का आरम्भ हो चुका था और वह मत जरथुश्त्र के जन्म से शताब्दियों पूर्व फारस देश में प्रचरित था। उसका मत है कि अग्नि देवता की पूजा और एक अद्वितीय परमात्मा की भक्ति पारसी पुरोहित-परिवार में पहले से ही चली आती थी, और जरथुश्त्र भी उस पुरोहित-परिवार में उत्पन्न हुआ था।

गाथाओं की भाषा को वह दार्शनिक और वास्तव में गम्भीर बतलाता है तथा वैण्डिडाड आदि को कहानियों का पुंज समझता है। वह लिखता है—

"यदि जेन्द का विद्यार्थी गाथाओं का भली प्रकार मनन करे और तब याश्तों (यास्ना के भागों का नाम) और वैण्डिडाड पर अपना ध्यान फेरे तब वह वास्तव्यता[2] के क्षेत्र से किस्से-कहानियों के क्षेत्र में चला जायगा।"

इसके पश्चात् पहलवी ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद करते हुए E. W. West को भी इसी प्रकार की सम्मति स्थिर करने के लिए बाधित होना पड़ा, अतएव पारसी-मत के विषय में जो कुछ भी जाना जा सकता है उसके लिए मार्टिन हॉग के

---

१. प्रामाणिकता

२. वास्तविकता

ही लेख प्रामाणिक हो सकते हैं। परन्तु मार्टिन हॉग के लेखानुसार पारसी-मत का वर्णन आरम्भ करने से पूर्व 'वेस्ट' के पहलवी Texts के प्रथम भाग से बहमन-यश्त नामी धर्म-पुस्तक से उद्धरण देना आवश्यक है, जिससे पारसी मत का प्रारंभिक इतिहास स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है। जेन्दावेस्ता से पता लगता है कि जरथुश्त्र के पूर्व मज्दमत का भली प्रकार प्रचार था। गौ को वे परम पवित्र देवता मानते थे। पुराणों की तरह जहाँ 'गो' शब्द गौ तथा पृथिवी दोनों अर्थों में आया है, ये लोग दोनों में कुछ भेद नहीं करते थे। जब पापों के भार से धरती डग-मगाई, वा यों समझें कि गो-वध होने लगा, तो गौ 'अहुरमज्द' के पास व्याकुल होकर अपनी रक्षार्थ प्रार्थना करने पहुँची। उस समय अहुरमज्द ने जरथुश्त्र का आवाहन किया और उसको दैत्यों का नाश तथा गोमाता की रक्षार्थ बल-बुद्धि दी। कहानियों से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम यह है कि ईरान देश में सबसे पूर्व गाथाओं का प्रचार था, और वहाँ कम-से-कम पुरोहित-कुल के लोग एकेश्वर-वादी थे। फिर पुरोहितों के आलस्य तथा प्रमाद के कारण मूर्तिपूजा का प्रचार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहितों के एक कुल का नाम 'स्पितामा' था और पुरोहित प्रायः सब जरथुश्त्र कहलाते थे। अहुरमज्द अर्थात् सृष्टिकर्ता दयालु, न्यायकारी की पूजा को छोड़कर ईरान के सम्राट् तक दैत्यों के पूजक बन गये, जिन्हें वे देव कहते थे। उन दिनों ईरान में "कय" नामी राजपरिवार का शासन था। 'कय' संस्कृत के 'कवि' शब्द से बना प्रतीत होता है और कय-कुल के सम्राट् कयखुसरो ने बुराई के प्रतिनिधि सम्राट् 'जोहाक' से राज्य छीना था। यह एक प्रकार का देवासुर-संग्राम हुआ था। वेद में जो कवि के अर्थ तत्त्ववेता के हैं, वे ही अर्थ शायद पारसियों में भी लिये गये थे। कय-राजपरिवार के सम्राट् गुश्तास्प (विश्‌तास्प) के समय में जरथुश्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। फारसी कवि फिरदौसी ने लिखा है कि एक दिव्य पुरुष हाथ में अग्निकुण्ड लिये हुए प्रकाशित हुआ, और सम्राट् गुश्तास्प से कहा कि 'परमेश्वर अहुरमज्द ने सच्चे धर्म की पुनःस्थापनार्थ मुझको भेजा है। मुर्दों को जलाना तथा गाड़ना बन्द कर दो, अग्नि में कोई अप-वित्र पदार्थ न पड़ने पावे, क्योंकि वह परमेश्वर के स्वरूप का स्थानापन्न है।' गुश्तास्प ने इस सुधारक ऋषि को स्वीकार किया और जो जेन्दावेस्ता की पुस्तक उसने भेंट की उसका प्रचार सारे सभ्य संसार में अपने पुत्र असफंदियार से करवाया।

अब मार्टिन हॉग के आधार पर पारसी मत का संक्षिप्त सार दिया जाता है—

पारसी मत का ब्राह्मण मत के साथ सम्बन्ध—जरथुश्त्र के मत की उत्पत्ति का हाल जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जरथुश्त्र के मत की ब्राह्मणी मत के साथ क्या समानता है।

(१) देव नामों की समानता—मार्टिन हॉग की कल्पना यह है कि जब ऋग्वेद संहिता के पहले भागों में असुर शब्द बुरे अर्थों में नहीं आता, प्रत्युत आत्मिक जीवन का सूचक है, और इसका बुरा प्रयोग ऋग्वेद के अन्तिम सूक्तों तथा अथर्ववेद में ही आया है तो इस परिणाम पर पहुँचना अनुचित नहीं कि मज्दधर्म के संस्थापक आर्य उस समय भारत से पृथक् होकर गये जबकि वहाँ के देव (विद्वान् लोग) अपने आदर्श से गिर चुके थे। अतएव उस समय के पारसी पुरुषाओं ने देव नाम को घृणित बना अपना नाम असुर धरा और उन्हीं असुरों का स्वामी अर्थात् पूज्य देव जरथुश्त्र हुआ। इन्द्र जो वेद का देवता है पारसी मत में 'दैवानां दैव' है अर्थात् राक्षसों का राक्षस। इन्द्र से दूसरा 'मित्र' वेद का देव जिन्द में मिथ् बन जाता है। अर्यमन् का एरियामन् जिन्द में हो जाता है। भग का गब, अर्यमति का अर्यमपतति, नाराशंस का नैर्योसंघ, वायु का वायु ही रहता है, वृत्रघ्न का जिन्द में वीरयघ्न बन जाता है। वेद के ३३ देव (त्रयोत्रिंशित् देवाः) जिन्द में ३३ रतु अर्थात् प्रधान शक्तियाँ बन जाता है।

(२) जातीय नायकों के नाम तथा उनकी कहानियों में समता यथा—संस्कृत यमराज का अवेस्ता के 'यिमक्षिपिता' (जमशेद) इत्यादि।

(३) कर्मकाण्ड में समानता—जेन्दावेस्ता में पुरोहित के लिए 'अथर्व' शब्द आता है। इष्टि के लिए ज्यों-का त्यों इष्टि शब्द है। आहुति-आज्भुति; होता-जोटा। पारसियों में पुरुष तथा स्त्री दोनों का ही यज्ञोपवीत संस्कार होता है। ज्योतिष्टोम के स्थान में पजिष्ण (इजष्म) इत्यादि।

(४) प्रायश्चित्त के नियम तथा गृहस्थधर्म की समानता और खगोल सम्बन्धी सम्मतियों की समता—

मार्टिन हॉग ने आन्दोलन[1] बहुत ठीक किया है और शब्दों की समता भी भलीभाँति दर्शाई है। उनकी कल्पनाओं में केवल एक ही भूल है। वह वैदिक धर्म में ईश्वर विषय के विचार वे ही समझते हैं जो कि मेक्सम्यूलर आदि ने उसके गले मढ़ दिए हैं अर्थात् वेदों में एकेश्वर-पूजा (Theism) के स्थान में बहुशक्ति-पूजा (Henotheism) के चिह्न देखते हैं। मार्टिन हॉग का विचार है कि जब ब्राह्मणों में सुरापानादि की प्रथा चली, उस समय जो वैदिकधर्मी उनसे बिगड़कर चले आये, उन्होंने प्राचीन वैदिक मर्यादा की ईरान में स्थापना करते हुए, परमात्मा के लिए तो 'असुर' नाम स्वीकार किया (प्राणदाता के अर्थ में असुर का प्रयोग करते हुए) और बुराई को देव नाम से प्रसिद्ध किया। यदि मार्टिन हॉग यह समझ लेते कि सायण आदि ने जिन शब्दों को विविध देवताओं के अर्थ में प्रयोग किया है,

---

१. यहाँ आन्दोलन शब्द अनुशीलन, अध्ययन और शोध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। —सम्पादक

वे सब शब्द वेद में परमात्मावाचक भी हैं, तो उनको यह भ्रम नहीं होता। परन्तु एक प्रकार से उनकी कल्पना ठीक भी हो सकती है। गाथाओं में इन्द्रादि देवताओं का कोई वर्णन नहीं आया; वहाँ शुद्ध एकेश्वर-पूजा का विधान है। यदि हम यह मान लें(जो कि पारसी मत की धर्म-पुस्तकों से ही सिद्ध होता है)कि सबसे पूर्व (शायद महाभारत के युद्ध से भी पूर्व) जो वेद के शुद्ध आत्मिक विचार आये, वे गाथारूप में प्रसिद्ध हुए और उसके पश्चात् जब वेद में बहुदेवताओं की कल्पना लेकर भारतवर्ष में वाममार्ग का प्रचार हुआ तो दूसरी (अधार्मिक) लहर ईरान में गई जिसने सर्वसाधारण में मूर्तिपूजा और तत्सम्बन्धी बुराइयों का प्रचार किया और उस समय जरथुश्त्र का जन्म हुआ जिसने 'एकेश्वर पूजा' तथा पवित्रता की पुन: स्थापना करते हुए पौराणिक देवतों[1] की कल्पना के विरुद्ध आवाज उठाकर उन देवताओं को अन्धकार का प्रतिनिधि सिद्ध किया तो पारसी मत के उद्भव और विकास का मर्म समझ में आ जाता है।

और इस विचारानुसार जरथुश्त्र ने ईरान में वही कार्य किया, जोकि उससे सहस्रों वर्ष पीछे भारत में ऋषि दयानन्द ने किया।

जरथुश्त्र का समय और उसके फैलाये धर्म का स्रोत—जरथुश्त्र से पूर्व पारसियों के पुरोहितों को कवि, कर्पन, और उशिक्ष, गाथाओं में लिखा है। यह कवि वेदों का ही शब्द है पहलवी भाषा में कवि का कवा बन जाता है। जरथुश्त्र से सैंकड़ों वर्ष पूर्व ईरान का राजपरिवार 'कय' नाम से प्रसिद्ध था, जो कवा का ही अपभ्रंश है। शाहनामे का कैखुसरो वैण्डिडाड का कवि हुसरव है। कैकुबाद कविकवात है—कै-गुश्तास्प कविविश्तास्प है। इसी प्रकार गाथाओं में जरथुश्त्र के मुख में जो शब्द डाले गये हैं उनसे विदित होता है कि उससे पूर्व के पुरोहितों को सौश्यान्तो (अर्थात् अग्निपुरोहित) कहते थे। यास्ना के ४३वें अध्याय के १५वें सूत्र में जरथुश्त्र अपने अनुयायियों को कहता है "अंगरा (अंगिरा) नामी पुरोहितों का सत्कार करो।" अंगिरा के साथ अथर्वणों का भी वर्णन आता है और अब तक पारसियों के पुरोहितों को आथर्व कहते हैं। ऐसा मालूम होता है कि इसी अथर्वांगिरस के परिवार में जरथुश्त्र का जन्म हुआ। पारसी धर्म-पुस्तकों से उसके जन्म की ठीक तिथि का पता नहीं लगता। यास्ना अ० ४६, म० १५ में लिखा है कि यह अथर्वांगिरस के स्पितामा परिवार का सभासद् था। मार्टिन हॉग की कल्पना को यदि कुछ आगे ले चलें तो कह सकते हैं कि शायद स्पितामा किसी परिवार का नाम नहीं प्रत्युत यह शब्द सं०[2] पितामह से ही बना है, और जिस प्रकार बालब्रह्मचारी होने के कारण भीष्म को पितामह कहते थे तद्वत् जरथुश्त्र

---

१. देवताओं

२. संस्कृत

को भी ईरान में पुरोहितों का पितामह कहने लग गये। जरथुश्त्र भी कोई शब्द-विशेष मालूम नहीं होता। यद्यपि पहलवी का व्याकरण-कोष अपूर्ण होने के कारण इस शब्द के धात्वर्थ का पता नहीं चलता, तथापि यह अवश्य मालूम होता है कि यह शब्द अग्निपुरोहितों के लिए भी प्रयोग में आता था। इसीलिए शायद यास्ना अ० १६ में पारसी मत के प्रवर्तक का नाम जरस्थश्त्रोतेमा आया है। तेमा सबसे बड़े को कहते हैं, अतः अर्थ यह हुआ कि जरथुश्त्रों का भी जरथुश्त्र, जैसे आजकल भी पारसियों के बड़े पुरोहित को "दस्तूरे दस्तूराँ" कह सकते हैं।

जरथुश्त्र संशोधक था और अपने-आपको धर्म का संस्थापक समझता था, इसी से सिद्ध है कि यह अपने-आपको आथरव (मन्त्रद्रष्टा) लिखता है और अहुरमज्द का दूत (परमेश्वर का भेजा हुआ) बतलाकर यह जतलाता है कि अहुरमज्द ने अपनी ज्योति के द्वारा उसको लोगों की पथदर्शकता का मर्म बतलाया है।

जरथुश्त्र के समय के सम्बन्ध में कई कल्पनाएँ हैं। यूनान के दार्शनिक अरस्तू तथा यूडाक्सस उसका समय 'अफलातू' से सहस्र वर्ष पूर्व बतलाते हैं, और जब गाथाओं के मन्त्र उससे भी पूर्व थे तो पता लगता है कि वैदिक धर्म महाभारत के युद्ध से सहस्रों वर्ष पूर्व ईरान में आया है। बैबिलन का ऐतिहासिक विरोसस उसको बैबिलन का एक सम्राट् बतलाते हुए उसका समय ईसा से १२,०० वर्ष पूर्व सिद्ध करता है। फिरदौसी के शाहनामे को ही प्रामाणिक मानते हुए पारसी उसकी जन्म-तिथि को ईरान के सम्राट गुश्तास्प (कविविश्तास्प) के राज-समय में खींच लाते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। यास्ना के कविविश्तास्प से इस कवि-विश्तास्प का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता, क्योंकि यास्ना में उसकी वंशावली और ही प्रकार से लिखी है। यास्ना में जरथुश्त्र को एरियानावायजो अर्थात् 'आर्य-जाति में परम प्रसिद्ध' का पद दिया है। यह लेख उसी समय का हो सकता है जबकि ईरान के पारसी और भारत के आर्य अपने को एक ही जाति के समझते थे। कुछ भी हो, जरथुश्त्र का समय ईसापूर्व २००० वर्ष से वरे[1] का प्रतीत नहीं होता।

जरथुश्त्र के दार्शनिक तथा धार्मिक विचार और उनका पारसी मत पर प्रभाव—जरथुश्त्र के शुद्ध विचार केवल गाथाओं के द्वारा ही जाने जाते हैं। उसके धार्मिक सिद्धान्तों का मूलमन्त्र एकेश्वरवाद ही है, अर्थात् बहु-देवता-वाद के विरुद्ध वह केवल एकेश्वर-पूजा ही आवश्यक समझता था। गाथाओं में भी एक परब्रह्म, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ का ही पता लगता है। उस समय ईश्वर का नाम केवल अहुर ही है। ज्ञात होता है कि जरथुश्त्र के पूर्वविचारकों के अन्दर वही प्रश्न उत्पन्न हुआ जो कि अब तक धार्मिक संसार को हिला रहा है, अर्थात् सारी

---

१. अवर या इधर

सृष्टि का कर्ता यदि परमेश्वर है तो पाप-क्लेश भी उसी से उत्पन्न हुआ, अतः उसको शुद्धस्वरूप नहीं कह सकते। इसीलिए जरथुश्त्र के पूर्वपुरोहितों ने देवतों के दो विभाग किये—अहुर को बहुवचनान्त बना उन्होंने पुण्य के देवतों[1] के लिए प्रयुक्त किया तथा पाप के देवतों को 'देव' नाम से। इस समय तक देवों का शिरोमणि अहुर का विरोधी नहीं समझा जाता था। जरथुश्त्र सुधारक था और उसने सबसे पहला संशोधन यह किया कि अहुर का एकवचनान्त प्रयोग करके उसके साथ एक और शब्द जोड़ा और एक अद्वितीय परमात्मा का नाम "अहुरो-मज्दाओ" रक्खा। मज्द के अर्थ हैं बुद्धिपूर्वक कार्यकर्ता के और इस शब्द को पाश्चात्य विचारकों ने संस्कृत के मेधा से निकला हुआ बतलाया है। यही अहुरोमज्दाओ शब्द ईरान के सासानी सम्राटों के समय अहुरमज्दी बन गया, और अब फारसी में उसे हुरमज्द कहते हैं। जरथुश्त्र अहुरोमज्दाओ की स्तुति इस प्रकार करता है—

"इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का विधाता, सारे विश्व का स्वामी, जिसके अधिकार में सारी प्रजा है, वही प्रकाश है, प्रकाश का स्रोत है, वही बुद्धि, तथा बुद्धि में साधन-कोटि है, सब सांसारिक तथा आत्मिक उत्तम पदार्थ उसी के वश में हैं—

परममानस (बुहुमानो) अमृत जीवन (अमेरताड) स्वास्थ्य (हौरवताड) परम सत्य (अशवहिष्ट) प्रेम तथा पवित्रता—सर्व सांसारिक ऐश्वर्य, (आरमयति) क्षात्रिक वीर्य (क्षत्र वैर्य), ये सब फल वह धर्मात्मा पुरुषों को देता है, जो मन, तथा कर्म से सत्य मार्ग पर चलते हैं। सारे विश्व का शासक होने से वह न केवल धर्मात्माओं को उत्तम फल देता है प्रत्युत अधर्मियों को दण्ड भी देता है।"

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट विदित होता है कि जरथुश्त्र दो जुदे-जुदे जगत् स्रष्टा नहीं मानता था, जिनको वह धर्म-अधर्म का उत्पादक तथा एक-दूसरे का विरोधी समझता हो। उसका मन्तव्य इतना ही था कि मनुष्य के अन्दर धर्म के साथ, उसके अभाव, अधर्म की विद्यमानता पाई जाती है। वह इन दोनों को येमा (संस्कृत यमौ) समझता था जो एक-दूसरे के साथ रहनेवाले हैं। इनका नाम उसने स्पेण्टो-मैनयूष, तथा अंगरो-मैनयूष रक्खा था जिनके अर्थ हैं—पवित्रात्मा तथा दुरात्मा। जरथुश्त्र के मत में स्पेण्टोमन्यूष जीवन-प्रदाता है तथा अंगरोमैनयूष जीवन समाप्त करनेवाला है। पर वह यह भी मानता था कि अंगरो-मैनयूष जीवात्मा को शरीर के बन्धन से छुड़ाकर अमर जीवन के योग्य बना देता तथा उसको अमर कर देता है।

जिस प्रकार बौद्धधर्म के वर्तमान नास्तिकपन के लिए बुद्धदेव ज़िम्मेवार नहीं

---

१. देवताओं।

है इसी प्रकार पारसी-मत के वर्तमान द्वैत विचार के लिए जरथुश्त्र जिम्मेवार नहीं है। पारसियों के इस विचार का पता वैण्डिडाड के फरगर्द (अध्यायों) से चलता है। ज़रथुश्त्र के अनुयायियों की समझ में यह नहीं आया कि किस प्रकार एक ही परमात्मा से धर्माधर्म की उत्पत्ति हो सकती है। यदि वह धर्म के तिरोभाव को ही अधर्म समझ लेते, जैसा कि वैदिक धर्म मानता है, तो इस प्रकार के सन्देह में न फँसते। जब दो पृथक् सृष्टिकर्ताओं की कल्पना की गई तो फिर उनका दर्बार भी बनाया गया। वेद में सप्त बहुत स्थानों में आता है—सप्त ऋषि, अग्नि के सप्तरूप, सप्तलोक इत्यादि। इनके अनुकरण में इन्होंने भी भली शक्ति के ६ मित्र बनाकर ७ की संख्या पूर्ण की और इसी प्रकार अंगरो-मैनयूष अर्थात् शैतान की सभा के भी उस समेत ७ बनाये। परन्तु यहाँ एक कठिनाई और सामने आई। जिनकी उत्पत्ति है उनका उत्पन्नकर्ता अवश्य अन्य चाहिए और कहीं एकता अवश्य चाहिए, अतएव उन्होंने ज़र्वन अकारण (अनन्तकाल) की कल्पना की जिससे अहुरमज़्द और अहरेमन दोनों की उत्पत्ति की गई। पारसियों में भी इस समय दो भेद हैं, और सासानियों के समय से चले आये हैं एक Magi जो कि ज़रथुश्त्र के असली सिद्धान्तों को माननेवाले हैं, दूसरे ज़ेन्दी जो कि नई कल्पनाओं को मानने वाले हैं।

पारसी मत के शेष सिद्धान्त—गाथा के मत में मनुष्य के दो जीवन हैं—एक आत्मिक अर्थात् पारलौकिक और दूसरा इहलौकिक। जीवात्मा के अमरत्व तथा कर्मफल के चिह्न गाथाओं में पाये जाते हैं। गरोदेमान (बीहस्थ, गरुत्मान्, पारसी बहिश्त तथा सं० स्वर्ग) और द्रुज़ोदेमान (नाशगृह, नरक) विशेष स्थान आर्वाचीन पारसियों ने कल्पना कर लिये हैं; गाथाओं ने यह सब विशेष अवस्ताओं के लिए ही काम में लाये जाते थे। जीवात्मा के अन्तिम दिवस उठने का सिद्धान्त जो ईसाइयो तथा मुहम्मदियों में प्रचलित है उसका पता भी पारसी मत से चलता है तथा यहीं से लिया गया मालूम होता है। गाथाओं में इस विचार का कोई स्पष्ट आधार प्रतीत नहीं होता। वहाँ केवल इतना पता लगता है कि संसार में कुकर्म करते हुए मनुष्य जिस जीवन का नाश कर लेता है वह सांसारिक जीवन की समाप्ति पर पुनर्जीवित हो जाता है। जरथुश्त्र का मत आत्मघात के सर्वथा विरुद्ध शिक्षा देता है तथा उसको महापाप समझता है। ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट पता लगता है कि जब भारतवर्ष में शुद्ध वैदिक धर्म का प्रचार था तब आत्मिक सिद्धान्त इसी देश से ईरान में गये। फिर मनुष्यों की बुद्धि की निर्बलता के कारण नाना देवताओं की कल्पना की गई जिसको ज़रथुश्त्र ने निर्मूल करके पुनः वैदिक धर्म की स्थापना की। उसके पश्चात् फिर से उसके शुद्ध सिद्धान्तों को बिगाड़ा गया और अब फिर किसी नये सुधारक की आवश्यकता है जो पुनः उसको पारसी मत के स्रोत तक पहुँचाकर आर्यों तथा पारसियों के भेदभाव को मिटा देवे।

जाति के दीनों को मत त्यागो !

अर्थात्

७ करोड़ दीनों की रक्षा

प्रस्तावना

इस लघु पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ जाइये। यदि आपका मन इससे कुछ भी प्रभावित हो तो निर्बलों की रक्षा के लिए, श्रद्धानुसार, धन नीचे के पते से भेज दीजिये।[1] यही इस पुस्तक का मूल्य है।

श्रद्धानन्द संन्यासी
७६, बर्न बैश्चियन रोड, देहली।

---

१. इस अपील में दिया गया पता अब कोई महत्त्व नहीं रखता।

भारतवर्ष में ईसाई मत, कैसे फैला ?

भारतवर्ष में रोमन-कैथलिक ईसाई मत का उद्भव और विकास

भारतवर्ष में सबसे पहले जो ईसाई अपने मत का प्रचार करने के लिए आये, वे "रोमन कैथलिक" थे। उस समय तक रोम के 'पोप' के अभ्रांत तथा यहवाह (Jehovah) नामी खुदा के प्रतिनिधि होने पर किसी को सन्देह तक न था। परन्तु जहाँ इधर १५१० ई० में 'अबूकर्क'[1] के साथ रोमन कैथलिक पादरी हिन्दू काफ़िरों को ईसाई बनाने के लिए 'गोआ' नगर में पहुँचे, वहाँ दूसरी ओर जर्मनी में, उनकी पोल खोलने के लिए, मार्टिन लूथर तैयार हो रहा था। प्रोटेस्टेण्ट मिशन आर्यावर्त्त में बहुत वर्ष पीछे आया, उसका इतिहास किसी और समय के लिए छोड़कर यहाँ रोमन कैथलिक पादरियों के धर्म-प्रचार का इतिहास दिया जाता है। यह इतिहास एक अंग्रेजी लेख का अनुवाद है जो (D.X. De Souza) एक पुर्तगीज सभ्य के नाम से मासिक पत्र 'थियॉसोफ़िस्ट' (Theosophist) के जुलाई वाले अंक में, पृष्ठ ६१२ से ६२३ तक, निकला था—

"रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय का भारतवर्ष में प्रचार करने के लिए किन-किन उपायों का आश्रय लिया गया, इस विषय में रोमन कैथोलिक लोगों की ही सम्मति मान लेना हमें पूरी-पूरी सचाई तक नहीं पहुँचा सकता। उनके कथनों में अपने गुणों को बढ़ाकर तथा दोषों को घटाकर दिखाने की कोशिश की गई है। वास्तव में भारतवर्ष में कैथोलिक सम्प्रदाय का इतिहास धोखेबाजी तथा कठोर अत्याचार का इतिहास है जो कि रोमिश चर्च को सर्वथा कलंकित करता है।"

जब से भारत की खोज-विषयक प्रयत्न प्रारम्भ हुए तभी से रोमन पादरी इस खोज के परिणामों की प्रतीक्षा करने लगे और ज्यों ही वह पूर्ण हुई त्यों ही उन्होंने अपने धर्म के प्रचार की ठान ली। १६वीं शताब्दी से पहले-पहले इस सम्प्रदाय का भारत में ज़ोर न था, पर पुर्तगाल के राज्य तथा Inquisition (काफ़िरों का दण्ड-गृह) के ज़ोर से कैथोलिक चर्च ने धीरे-धीरे भारत में अपना रोब पैदा कर लिया। पोर्चुगीज़ पोप की सहायता से ही उपनिवेशों को ढूँढते तथा उसकी

---

१. वास्तविक नाम एलबुकर्क।

आज्ञानुसार अपने धर्म के प्रचार के लिए हर तरह के अत्याचार करते थे। महाशय अविंग के कथनानुसार मसीह के शत्रुओं का पराजय तथा अपने धर्म-मन्दिरों का जगह-जगह खड़ा कर देना ही उनका उद्देश्य था। चौथे पोप Eugenius तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अपने अधिकार से पुर्तगाल के राजा को यह स्वीकृति दे दी थी कि केपनन और बोजेडर से लेकर ईस्टइण्डीज़ तक जो नये-नये उपनिवेश वे ढूँढ सकें वे सब उन्हीं को दे दिए जाएँगे। पुर्तगाल के राजाओं ने पोप से यह अधिकार पाकर कॉन्स्टण्टीनोपल और उसके उत्तराधिकारियों की तरह मसीह पर विश्वास न करनेवालों पर न्याय तथा दया को एक तरफ करके बहुत ही अत्याचार किए, जिनमें से भारत में किए गये अत्याचारों का इस लेख में वर्णन होगा।

भारत में पुर्तगाल साम्राज्य की स्थापना एलबुकर्क (Alfousode Albuquerque) ने की। १५१० ई० में इन महाशय ने कुछ धर्मोपदेशकों समेत गोआ नगर में प्रवेश किया। ये सब उपदेशक Dominic Guzwan की Toulouse में स्थापित की हुई संस्था के मेम्बर थे। इस संस्थापक की कठोरता का वर्णन करता हुआ कवि Dante (दान्ते) कहता है—

"उसकी माता ने उसे मसीह के अर्पण कर दिया था। वह क्राइस्ट का प्रेम-भाजन दास था। स्वधर्मियों के प्रति वह कोमल तथा विधर्मियों के प्रति अत्यन्त कठोर था। विधर्मरूपी चट्टान के लिए वह पहाड़ी नाले के समान था और जहाँ वह चट्टान मज़बूत थी वहाँ उसका वेग भी असहनीय हो जाता था।"

ऐसे संस्थापक के खूनी झण्डे के नीचे उसी तरह के आदमी आ मिले। ये नये चेले अपने-आपको मसीह का शिष्य कहते थे परन्तु शैतान के काम करते थे। उनकी कमर पर लिपटी हुई रस्सी ही सूचित करती थी कि ये किसी को भी बाँधकर उससे दासत्व के व्यवहार करने में सर्वथा निपुण हैं। गोआ की दुर्भागी प्रजा आदिलशाह के अत्याचार से पीड़ित होकर अपने नये प्रभुओं की तरफ आशा तथा आनन्दभरी दृष्टि से देखने लगी। उसने अपने नूतन स्वामियों का गद्‌गद हृदय से अभिनन्दन किया, उसके जुलूस के निकलते समय उनपर रुपयों की वर्षा की। उन्हें क्या मालूम था कि इस आनन्द का आँसुओं में अन्त होगा, पुरुष तथा स्त्रियों को जीते-जी आग में जलाया जाएगा और उनके पवित्र मन्दिरों की जगह St. Dominic के गिर्जाघर एवं Inquisition के महल खड़े किए जाएँगे। गोआ की प्रजा के अभिनन्दन का आनन्द लूटता हुआ अबूकर्क[1] सजे हुए घोड़े पर बैठकर सैनिकों तथा धर्मोपदेशकों के अन्दर घिरा हुआ आदिलशाह के महल की तरफ बढ़ने लगा। पादरी गीत गाने लगे और उनकी ताल पर तुरही तथा ढोल बजने लगे।

---

१. एलबुकर्क।

ये उपदेशक पोप के मिशनरी न थे। इन्हें केवल जहाज़ में पुजारियों का काम करने को भेजा गया था। भारत में आकर उन्होंने St. Catherine की यादगार में एक मन्दिर खड़ा किया क्योंकि उसी के त्योहार के दिन उन्होंने मुग़लों से गोआ शहर को लिया था। मन्दिर की वेदी पर St. Catherine का चित्र लटकाकर उन्होंने बड़ी सजधज से राज्य प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उत्सव मनाया और पूजा-पाठ किया। इस समय वे एक ऐसे देश में थे जहाँ प्रकृति का हाथ खुला था परन्तु जहाँ के लोग स्वार्थी एवं क्षुद्रमनस्क थे। उन्होंने देशियों को चर्च में लाने की कोशिश की परन्तु वह निष्फल हुई, क्योंकि अबूकर्क[1] की आज्ञानुसार अभी तक धमकियों और अत्याचारों का प्रयोग नहीं किया गया था। अबूकर्क[1] योद्धा होने के साथ-साथ राजनीतिज्ञ भी था और समझता था कि सरकार के लिए धर्म-सम्बन्धी कार्यों में हाथ न डालना ही हितकर है। उसने आज्ञा दे दी थी कि ईसाई मत-प्रचार शिक्षा तथा युक्तियों के द्वारा ही किया जाय। परन्तु शिक्षा और युक्तिएँ कट्टर मूर्तिपूजकों को कहाँ जीत सकती थीं ? वे घृणित मूर्तियों को घृणित ढंगों से पूजते ही रहे। इस मूर्तिपूजा को हटाने के लिए पीछे से पोर्चुगीज़ सरकार ने जिन अमानवीय कठोर अत्याचारों का आश्रय लिया उनसे मूर्तिपूजा का निस्सन्देह नाश हो गया, परन्तु उसके साथ-साथ भारत के एक बड़े भारी समृद्धिशाली देश का और वहाँ के रहनेवाले लोगों की जातीय सत्ता का भी अन्त हो गया। हम कैथलिक सम्प्रदायवालों से पूछते हैं कि क्या यही तरीका भारतवर्ष में धर्म, दया और न्याय के मन्दिरों को स्थापित करने के लिए रह गया था ? लॉर्ड मैकाले ने ठीक कहा है कि हिन्दू मूर्तिपूजकों की अपेक्षा रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के अनुयायियों में कहीं ज्यादह कट्टरपन है। हमारी सम्मति में हिन्दुओं को शिवलिंग की उपासना करने देना तथा रुधिर की प्यासी काली पर अपना लहू बहाने देना उन्हें ज़िन्दा आग में जला देने की अपेक्षा कई दर्जे अच्छा था। नीरो ने ईसाइयों पर उनके ईसाई होने के कारण नहीं परन्तु अपनी सम्मति के अनुसार उनके अनुचित तथा घृणित कार्य करने के कारण अत्याचार किए थे, परन्तु भारत में आये हुए इन ईसाइयों ने यहाँ के मूर्तिपूजकों पर केवल मूर्तिपूजक होने के कारण ही अत्याचार किए। जब रोम में ईसाई मत का प्रचार न था तब प्रजा जिस मत को चाहती मानती; देश में दंगे-फसाद के कारण दंड मिलता था, किसी धर्मविशेष का होने के कारण नहीं, परन्तु पुर्तगाली ईसाइयों ने विधर्मिता को ही दण्ड देने का पर्याप्त उत्तर समझा और अत्याचार प्रारम्भ कर दिया। इस दृष्टि से ब्रिटिश सरकार ने बहुत देर तक ईसाई मत का प्रचार करनेवालों को खुल्लमखुल्ला कोई सहायता न देते हुए बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय

---

१. एलबुकर्क।

दिया है। यदि इस तरह का काम न किया जाता तो ब्रिटिश सरकार आज भारत में न होती और इसके साथ-साथ भारत में ईसाइयत के प्रचार का अत्युत्तम मौका उसके हाथ से कभी का निकल गया होता।

भारतवर्ष में पुर्तगाल के राज्य की स्थापना का समाचार पोप के कोर्ट में बड़े हर्ष से सुना गया। इस समय तक ये लोग अत्यन्त गिर चुके थे। पोप के दरबारी बाइबिल की उपदेशपूर्ण आयतों को लेकर उनपर मखौल उड़ाया करते थे। शराब के नशे में मस्त हुए धर्मोपदेशक मिलकर खूब ही हँसते थे और कहते थे कि देखो हम लोगों को कैसे मजे में ठगते हैं। इसी कोर्ट (Court of Rome) का वर्णन करते हुए मैकाले ने बहुत ही ठीक कहा है :

"ईसाइयत के माथे पर यह कोर्ट कलंक का टीका हो गई थी। इसके इतिहास के पन्ने धोखेबाज़ी और दग़ाबाज़ी से काले पड़े हैं। इनमें से जिन्हें अच्छा गिना जाता था वे भी धर्म-कर्म के लिए सर्वथा अयोग्य थे।......वे अपने धर्म की अपने-आप हँसी उड़ाते तथा विषय-वासना में दिन बिताते थे। तरह-तरह के पकवान, मज़ेदार शराबें, सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ, शृंगार रस, सरकस तथा अन्य इसी तरह की गिरावट की बातों में ही वे आनन्द लेते थे—यही बातें उनके जीवन के बड़े-बड़े काम समझे जाते थे।"

ऐसे लोगों के लिए धर्म के चोले ने खूब काम दिया। दसवें Leo ने सर्व-साधारण के सन्मुख आकर भारत पर विजय के लिए बड़ी प्रसन्नता ज़ाहिर की; बड़े रंग-ढंग हुए, पोर्चुगीज़ राजा की प्रशंसा के पुल बाँधे गये और प्लेटफॉर्म गुँजा दिए गये। Emanuel ने इस अवसर पर पोप के पास एक दूत को उपहार देकर भेजा जिससे प्रसन्न होकर पोप ने उसे बड़ा सन्मान प्रदान किया और साथ-ही-साथ पुर्तगाल के राजा को यह भी अधिकार दे दिया कि केपनन और Bojador से लेकर Indies तक ही नहीं अपितु दुनिया-भर में जहाँ कहीं भी कोई अब तक अज्ञान-भूमि उसके हाथ लगे वह उसी को दे दी जायगी।

कैथलिक पादरी कई तरह के होते हैं। ग्रे, ह्वाइट तथा ब्लैक कापर भी उन्हीं के भेद हैं। भारत का पता लगाते ही पोप की तरफ़ से ये पादरी नास्तिकता का नाश करने के लिए जहाज़ों पर लादकर भेजे गये। सबसे पहले ग्रे पादरियों का भारत में प्रवेश हुआ। ये लोग अपने-आपको बड़ा पवित्र दिखाते थे परन्तु वास्तव में बड़े ही घृणित आचार के थे। धन को हाथ लगाना उनके लिए पाप था परन्तु वे कुबेर के-से ख़ज़ाने के मालिक थे। १५१७ ई० को वे गोआ नगर में पहुँचे। इसी समय युरोप में इन्हीं लोगों के साम्प्रदायिक भाई गाँव-गाँव पापों की क्षमा टकों में बेचते फिरते थे। इनकी "पापों की क्षमा" बेचने की दुकानें धर्म-मन्दिरों तक ही परिमित न थीं अपितु ये धर्मशालाओं तथा वेश्याघरों में भी जाकर अपना व्यापार बढ़ाते थे। इन्हें १२ टके देकर अपने पिता को सब पापों से छुड़ा लेना

और ८ टके से आत्महत्या कर उसके पाप से बच जाना उस समय साधारण बातें हो गई थीं। इसी वर्ष Martin Luther ने अपने ९५ सिद्धान्त Wittenberg के मन्दिर के दरवाज़े पर कील दिए थे और जर्मनी में सुधार का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार जिस वर्ष भारत में रोमन कैथलिक सम्प्रदाय ने पाँव रक्खा उसी वर्ष युरोप में प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय की भी स्थापना हुई।

भारतवर्ष में आए ग्रे फ्रायर्स की संख्या पोर्चुगीज इतिहासिकों के कथनानुसार ९ थी। वे लोग पुर्तगाल के राजा Emanuel से एक पत्र लाए थे जिसमें उन्हें उनके काम में सहायता दिए जाने को लिखा हुआ था। उन्होंने आते ही खूब धन-राशि एकत्रित कर बड़ा भारी शानदार चर्च खड़ा किया जिसे अपनी संस्था के संस्थापक St. Francis of Assisi को समर्पित कर दिया। अब वे विधर्मी भारतीयों को ईसाई मत स्वीकार करने के लिए प्रेरित करने लगे।

जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय के हिन्दू बड़े धार्मिक हुआ करते थे। लैवाइट की तरह पवित्रता तथा प्रतिष्ठा में ब्राह्मण सबसे उच्च समझे जाते थे। रोम के पोप की तरह अध्ययनाध्यापन पर ही ब्राह्मणों का एकाधिकार था, अतः साधारण जनसमुदाय सर्वथा अन्धकार में था। साधारण लोग प्राकृतिक विज्ञान से तथा उन विषयों से जिनका सीधा सम्बन्ध उनसे उन्हें कोई प्रतीत न होता था, अपरिचित थे; रोग, वर्षा, दुर्भिक्ष आदि की बातचीत तक ही उनका ज्ञान परिमित था। उस समय के हिन्दू प्राकृतिक घटनाओं का कारण देवताओं को बताते थे और समझते थे कि प्रार्थना, यज्ञ तथा बलिदान आदि से वे बादलों का रुख बदल सकते हैं, भयंकर रोग उत्पन्न करनेवाले देवता और राक्षसों को शान्त कर सकते हैं, ब्राह्मणों को दान देकर वे पापों से छुटकारा पा सकते हैं। विश्वास करते थे और कहते थे कि कठोर तपस्याओं तथा अन्य शारीरिक कष्टों के सहने-वाले को मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग प्राप्त होता है। ऐसे विश्वासोंवाले लोगों को, जो कि रोमन कैथलिक सम्प्रदाय से बहुत-कुछ मिलते-जुलते थे, ठग लेना कोई कठिन काम न था। ग्रे फ्रायर्स की बच्चों को लुभानेवाली कहानियाँ यहाँ के लोगों पर बड़ा असर करती भी थीं, परन्तु उनका अपने विश्वासों पर अन्धविश्वास उन्हें हिन्दू धर्म से हटाकर क्रिश्चियन न बना सका।

बस फिर क्या था, पशुता ने अवतार ले लिया! १५१५ ई० में अबूकर्क[1] पहले ही मर चुका था; अब रोकनेवाला कौन था? ऊँचे ओहदों पर बैठे अधिकारी भी छटे हुए ही थे। उन लोभी, विषयी तथा अन्धविश्वासियों ने भारतीयों पर हज़ारों तरह से अत्याचार प्रारम्भ कर दिए। हिन्दुओं की स्मृतियों में निषिद्ध किए गये मांस तथा शराब उनके मुखों में ठोंसे गये। उनकी सभ्यता में

---

१. एलबुकर्क

पली कोमलाङ्गी स्त्रियाँ घरों से घसीटकर पोर्चुगीज़ों की विषय-वासना को तृप्त करने तथा उनकी नौकरानियाँ बनने को लाई गईं। भिन्न-भिन्न राजनियम बनाकर उनके धार्मिक त्यौहार रोके गये। हिन्दुओं के पुरातन देवगृह गिराकर बड़े-बड़े शानदार चर्च खड़े किए गये; हिन्दू प्रतिमाओं को तोड़-फोड़कर नए-नए देवताओं की मूर्तियाँ रक्खी गईं। सरस्वती और लक्ष्मी की पाषाणमयी मूर्तियों की जगह मरियम की लकड़ी की मूर्ति खड़ी कर दी गई। शिव की जगह St. Dominic, मन्त्रों की जगह Aves तथा तीर्थ की जगह Holy water लाए गये। इन अत्याचारों से ईसाइयत का भारत में आना जातियों को खा जानेवाली प्लेग से भी कई गुना बुरा हुआ। ईर्ष्या की अग्नि से प्रज्वलित होकर ईसाइयों ने मुसलमानों के स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े बिना देखे खूब ही क़त्ल किए। देश में हाहाकार होने लगा। ऐसी अवस्था में लोग अबूकर्क[1] की कब्र पर त्राहि-त्राहि का क्रंदन करते हुए पहुँचे; रोए, पीटे और उससे अपने देशवासियों के अत्याचारों से उन्हें छुड़ाने की प्रार्थना की। अन्त में तंग आकर अपने मुसलमानी भाइयों के भाग्य से बचने तथा फिरंगियों के न होने के लिए उन्होंने धर्म-परिवर्तन ही अच्छा समझा। कैथलिक सम्प्रदाय ने उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए अपना रास्ता इस तरह छोटा कर लिया। १७ वर्ष के भीतर-ही-भीतर मालाबार से लेकर कोरोमण्डल तक सबको अपने चर्च में ले आया। इन नये ईसाइयों के लिए जो नियम बनाए गये थे उनमें से मुख्य कई सिद्धान्तों के सारांश ज़बानी घोटना और जो प्रतिष्ठा तथा सत्कार वे काली, महादेव तथा अन्य देवताओं के प्रति दर्शाते थे वही सब ईसा की मूर्तियों के प्रति दर्शाना थे। बिधर्मी मत ग्रहण करने के कारण उन्होंने जो अपने देवताओं का अपमान किया था उसके लिए वे चुपके-चुपके उनसे क्षमा माँगते रहते थे। ईसाइयों में आज भी हज़ारों ऐसे ईसाई हैं जो नाम के सिवाय अपने हिन्दू भाइयों से किसी बात में भी भिन्न नहीं हैं।

इस समय तक Clement सातवाँ मर चुका था और Paul तीसरा उसका उत्तराधिकारी बना था। इस पादरी का स्वभाव उस समय की इटैलियन समाज के अनेक दोषों से दूषित था। उसका चरित्र-लेखक ठीक कहता है कि उसके अन्दर चिकने-चुपड़े पतित तथा विषयी लोगों के गुण-दोष दोनों ही विद्यमान थे। यद्यपि Paul स्वयं धर्मशून्य था तथापि प्रारम्भ से ही इसकी इच्छा पोपडम को खूब मज़बूत करने की थी। उसने नये-नये मठ खोल दिए और पुरानी Inquisition की प्रथा को पुनर्जीवित किया। विधर्मिता को दुनिया से सर्वथा नष्ट कर देने की नई-नई शक्तियाँ Inquisition को दी गईं। नये खड़े किए गये मठों में से Order of the Theatriues तथा The Company of Jesus भक्ति

---

१. एलबुकर्क।

तथा जोश में सबसे बढ़े-चढ़े थे। इस तरह के शस्त्रों को हाथ में ले पोप ने क्राइस्ट के चर्च के उद्धार की मन में ठान ली। भारत में मिशनरियों की कृतकार्यता से पहले ही वह आनन्द में फूला न समाता था। बस उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए इस नई सेना को तैयार कर भेज ही दिया।

Francis Xavier इनका मुखिया था। यह बड़ा जोशीला था परन्तु पढ़ा-लिखा थोड़ा ही था। Loyola के साथ इसने मेल कर लिया था और गरीबों में जीवन बिताने की प्रतिज्ञा कर ली थी। Loyola की तरह उसने अपना जीवन काफ़िरों को सच्चे धर्म का रास्ता दिखाने के लिए अर्पित कर दिया। इसकी तपस्याओं से लोग चकित हो गये। वह अपने हाथ-पाँव को बाँधकर प्रार्थना करने खड़ा हो जाता था और जवानी की मूर्खताओं को शारीरिक तपस्याओं द्वारा दूर करता था। उपवास इतना करता था कि हड्डियाँ निकल आती थीं। रोगियों की अत्यन्त ही सेवा करता था। भारतवर्ष में आकर गोआ से रासकुमारी[1] और रासकुमारी से जापान तक उसने एक-एक गाँव और शहर में प्रचार किया। यह काम किसी साधारण जोशवाले आदमी का न था। वह सदा अपने हाथ में एक घंटी रखता था जिसे बजाकर राहियों को इकट्ठा कर उन्हे बाइबिल का उपदेश देना प्रारम्भ कर देता था। जहाँ वह कुछ-एक को अपने धर्म में न ला सकता था वहाँ से चलते समय अपने जूतों की मिट्टी उसी पापियों के देश में झाड़ देता था। इस तरह के भ्रमण में उसे कई बुरी आत्माओं (Devils) ने बड़ा तंग किया; कभी उसे धमकातीं और कभी निर्दयता से मारतीं। इतना ही नहीं, अपने मित्रों की आत्माएँ भी चर्म-चक्षुओं में दीख पड़ती थीं। कभी-कभी तो वह परमेश्वर को अपने स्वागत के लिए नीचे उतरता देखता था। उसके इस जोश ने उसे पागल-सा बना दिया। वह कभी-कभी पागलों की तरह गोआ की गलियों में भागने लगता था, ईसा की मूर्ति के पाँव पर जा लेटता था और कई घण्टों वहीं पड़ा-पड़ा चिल्लाता रहता था। इस पागलपन से उसने कइयों को ईसाई बनाया। १० वर्ष के बाद उसकी मृत्यु हुई, परन्तु उसके गुणों का आदर करने के लिए ऐसे चर्च थे जिन्होंने उसे सेण्ट की उपाधि प्रदान की।

The Company of Jesus (Jesuists) जिसका संस्थापक Ignatius Loyola था इस समय तक आशातीत बढ़ चुके थे। उनकी संख्या भी काफ़ी हो गई थी। १५५२ में Xavier की मृत्यु के समय २०० से अधिक Jesuits भिन्न-भिन्न मन्दिरों में काम कर रहे थे। उनका मुख्य स्थान गोआ ही था। यहाँ कुछ ही वर्षों में उन्होंने हिन्दू मन्दिरों को मलियामेट कर १० शाही मन्दिर खड़े किए और नये मुंडे चेलों के लिए धार्मिक पाठशालाएँ भी स्थापित कीं। परन्तु इन

---

१. वर्तमान में इसे कन्याकुमारी के नाम से जाना जाता है।

अत्याचारियों के मुख से ईसा की दया की शिक्षा सजती न थी। Thomas Miloni कहते हैं—

"जो जाति क्राइस्ट से सर्वथा विपरीत थी, उसके मुख से क्राइस्ट की शिक्षा अत्यन्त ही हास्यास्पद प्रतीत होती है। Jesuits ने मानो आचार की नई ही स्मृति कल्पित कर ली थी। परमात्मा की आज्ञा के स्थान में उनके लिए अफ़सरों की आज्ञा थी। उस आज्ञा का पालन करने का मतलब उनके लिए आँख बन्द कर लकड़ी की तरह उनके कथनानुसार चलना था। शिक्षकों की दृष्टि से उनका काम शिक्षा फैलाना इतना न था जितना पादरियों का दबदबा पैदा करना था; प्रचारकों की दृष्टि से उनका काम बाइबल का प्रचार इतना न था जितना हाथ से बप्तिस्मा दे देना था।"

इन लोगों ने हिन्दुओं और मुसलमानों को ईसाई बनाने के लिए सब तरह के प्रलोभन दिए, तमिल तथा अन्य भाषाओं मे ट्रैक्ट छपवाकर बाँटे; परन्तु असर बहुत थोड़ा हुआ। इस समय १५८२ सन् के लगभग ईसाई मत के सिद्धान्त ठीक-ठीक समझने के लिए अकबर ने Jesuits को अपनी कोर्ट में निमन्त्रित किया और ईसा के जीवन-चरित्र के विषय में पूछा। चालाक पादरियों ने यह समझकर कि पूर्वीय लोगों को जादू-टोने की बातों के सिवाय कुछ पसन्द ही न आएगा खूब बढ़ा-चढ़ाकर कथा सुनाई। परन्तु अकबर ताड़ गया और उनकी चालाकी समझ गया। उसने उन्हें कोर्ट से बाहर कर दिया। ये लोग बाइबल का यथार्थ उपदेश न देकर भारत के प्रचलित कथा-किस्सों के अनुसार उसे सुनाते रहे और इसी तरह की अन्य चालाकियाँ करते रहे। रोम मे किन्हीं की खोपड़ियाँ उठा लाए और अफवाहें फैलाने लगे कि इन हड्डियों ने चमत्कार किए हैं। मूर्तियों को छिपी हुई तारों से हिला-हिलाकर दिखाते और कहते कि इन्हें परमेश्वर हिलाता है। किन्हीं कब्रों को देखकर अपने सेण्टों की कब्रें बताने लगे। हड्डियों को लेकर लड़ते और कहते कि हम शैतान से लड़ रहे हैं। उन लोगों ने इतने धोखे किए कि उनको गिनाने के लिए ही कई बड़े-बड़े पोथे तैयार हो जायँ। जहाँ ईसाइयों की धोखेबाजी से लोग अपरिचित थे वहाँ इन्हें कृतकार्यता भी हुई; परन्तु अन्यत्र स्थानों में उनकी शोचनीय दशा हुई। गोआ के लोग इन्हें भली-भाँति समझ गये थे अतः उनपर इनके धार्मिक धोखे, ठगविद्याएँ, रिश्वतें और प्रलोभन कारगर न हुए। सचमुच ईसाई धर्म के नाम को पोर्चुगीजों की धूर्तता ने बदनाम कर दिया था। उनका आचार पतित-से-पतित भी हिन्दू के आचार से नीचे था। उनका राज्य भी इसी तरह का था। हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए कठोर-से-कठोर नियम बनाए जाते, बड़ी-बड़ी नौकरियाँ बेशरमी से खरीदी और बेची जातीं। भारतीय ईसाइयों को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते थे। फिरंगी होना, नहीं-नहीं, उसकी छाया क. भी पड़ जाना मनुष्य को पतित समझने के लिए

पर्याप्त था। ऐसी अवस्थाएँ देख ज़बरदस्ती से ईसाई बनाए गये लोग फिर से अपने धर्मवालों की तरह रहने लगे। वे क्रिश्चियन परमात्मा की ज़रा भी परवाह न करते थे, वे उनके धर्म पर हँसते थे।

पादरियों ने अपनी ऐसी अवस्था होते देख पोप और पोर्चुगीज राजा के सामने फ़रियाद की। इस समय Caraffa चौथा पोप कहलाता था। इसका सारा काम Inquisition की प्रथा को पुनर्जागृत करना था। पोप बनते ही इसने Inquisition के अधिकार बढ़ा दिए और नये-नये अपराध घड़ लिये। पादरियों की प्रार्थना से पोप की आज्ञा पालनेवाले पोर्चुगीज राजा ने अपने वाइसराय को कहला भेजा कि इन धर्म-पण्डितों की यथाशक्ति तन, मन, धन से सहायता की जाय। इस सहायता को पाकर उन पादरियों ने जिस पशुता का आश्रय ले फिर से अपना कार्य प्रारम्भ किया, उसका वर्णन करते लेखनी काँपती है। तहखानों में बन्द करना, सूली पर लटका देना, जीते को जला देना, टाँगें पकड़कर चिरा देना, जंजीरों से जकड़ देना, अंगूठों पर पेंच डाल देना तथा इसी तरह के अत्याचारों का गोआ घर बन गया। थोड़े ही समय में Inquisition के एजेण्ट Dominicans पुर्तगाली भारत के गाँव-गाँव में दीखने लगे। उनका अखाड़ा मालाबार कोस्ट था। यहाँ अत्यन्त निर्दयता से क़त्लेआम शुरू हो गया। St. Francis और St. Dominic के मन्दिरों के सामने आग जलने लगी। हिन्दू-मुसलमान सबपर खूनी अत्याचार होने लगा। चाहे कोई किसी ओहदे का हो, किसी उम्र का हो, कितने ही प्रभाव का हो, यदि वह क्रिश्चियेनिटी से विरोध दिखाता था तो वह रात के १२ बजे Inquisition की अँधेरी खुड्डों में बन्द किया जाता था और अन्त में धधकती ज्वालाओं में स्वाहा किया जाता था या गला घोंटकर मार दिया जाता था।

जातियों के मनुष्यत्व का नाश कर उन्हें दास बनानेवाले, पुर्तगाल के शासन को भारत से उठा देनेवाले, ईसाइयत को बदनाम करनेवाले, भारतीयों की धन-दौलत छीनकर उसपर पलनेवाले रोमन पादरियों के अत्याचारों ने १७वीं शताब्दी में भयंकर रूप धारण कर लिया। उनके पैशाचिक अत्याचारों का वर्णन करने के लिए इतिहास-लेखक के लिए शब्द ढूँढना भी मुश्किल हो जाता है। पुर्तगाल के शासन में सबसे ज्यादह धनी तथा आबादीवाला इलाका गोआ का था। यह स्थान व्यापार का केन्द्र था। यहाँ काफ़ी उपज होती थी और दूसरे स्थानों से भी बहुत माल आता रहता था, परन्तु १७वीं शताब्दी में पुर्तगाली भारत के सब स्थानों से निर्धन यहाँ के लोग थे। आजादी यहाँ नहीं के बराबर रह गई। तलवार तथा आग के ज़ोर से रोमन पादरियों ने यहाँ अपनी सभ्यता तथा धर्म का खूब ही परिचय दिया। Inquisition से ही सैकड़ों के गले उतरवा लिये गये; गाँवों को लूटा गया, जलाया गया और नष्ट कर दिया गया। अपनी मातृभूमि

को छोड़कर लोग बाहर भागने लगे, खेत और मकान खाली दिखाई देने लगे। देश में बीमारी और महामारी फैल गई। दुर्भिक्ष से सैकड़ों भूखे मर गये। देश के शासक इन आपत्तियों के हटाने की चिन्ता छोड़ पादरियों के साथ मिल, परमात्मा की सहायता की याचना करने लगे। प्रार्थनाएँ जारी रहीं और आपत्तियाँ बढ़ती गईं। जनसंख्या अत्यन्त घट गई। सरकार की आय घटने लगी। इस समय डच लोग सुमात्रा और जावा में व्यापार कर रहे थे। उन्होंने पोर्चुगीज़ लोगों पर आक्रमण किए और ५० वर्ष के भीतर-ही-भीतर कुछ-एक स्थानों को छोड़कर पोर्चुगीज़ों के सब बन्दरगाहों को अपने कब्ज़े में कर लिया। इस प्रकार १७वीं शताब्दी के अन्त में पुर्तगाल का भारत में शासन सर्वथा जाता रहा।

गोआ शहर अब भी राजधानी था, परन्तु गोआ की पुरानी शान अब जाती रही थी। दर्शक के सामने सूने घर और सूनी गलियाँ ही दिखाई देती थीं। चारों तरफ़ सत्यानाश के चिह्न देखने में आते थे। इस सुनसान के होते हुए भी Inquisition की आग तथा अन्यान्य भयंकर दण्ड देने के अपने काम में लगे ही रहते थे। तहखानों से दीन पुरुष तथा स्त्रियों का हृदयविदारक क्रन्दन सुनाई देता था। परन्तु इन पाशवीय राक्षसों के दृश्य को हिलाने के लिए यह सब पर्याप्त न था। भारत में अपने स्थापना-दिवस १५६० ई० से लेकर अपने राज्य के आखिरी दिन १८१२ ई० तक, २५२ वर्ष तक लगातार ये लोग अपना काम करते ही रहे। इस दीर्घकाल में केवल एक बार इन अत्याचारों को रोकने का सरकार की तरफ़ से प्रयत्न किया गया। पुर्तगाल के बड़े भारी राजनैतिक नेता Marquis of Pombal ने अपने देश के अत्याचारों तथा Inquisition के अमानुषीय व्यवहारों को सुन अपने देश के राजा King Joseph को चिट्ठी लिखी, जिससे १७७४ में ये अत्याचार रुक गये। जिनको निरपराध पकड़ा हुआ था उन्हें छोड़ दिया गया और पादरियों के खज़ाने खाली कर वह रुपया जनता के खजाने में रक्खा गया। परन्तु १७७७ में Joseph के मरने के उपरान्त उसकी लड़की Dona Maria ने महारानी बनकर पुराने रीति-रिवाज फिर से जारी करवा दिए और एक बार बीच में रुककर Inquisition का फिर से प्रारम्भ हुआ जिसका अन्त १६ जून सन् १८१२ के एक राजकीय पत्र से हुआ।

हमने देख लिया कि १६वीं शताब्दी के अन्तिम हिस्से में Jesuists सम्प्रदाय किस तरह भारतीयों को अपने जाल में फँसाने के लिए अनुचित उपायों का अवलम्बन करता रहा। १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी वे लोग भारत के बड़े-बड़े नगरों में अपनी धोखेबाज़ियों का परिचय देते दीख पड़ते थे। इस समय धोखे देना, अज्ञ मनुष्यों को अपने जाल में फँसाना, अपनी चालाकियों से कट्टर हिन्दुओं को फुसलाना उनका काम था। धोखेबाज़ी इतनी बढ़ी कि इन लोगों ने संन्यासी बनकर अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। हिन्दुओं के धर्म की आड़ में अपने

मनमाने सिद्धान्त ठग-विद्या का आश्रय लेकर फैलाए गये। इस तरह के ठग. संन्यासियों में से Robert De Nobili का नाम सदा के लिए गर्हास्पद है। यह रोमन संन्यासी अपने भाइयों से जुदा हो मथुरा में जाकर एक कुटिया में रहने लगा। इसने मांस छोड़ दिया। चावल, कन्द तथा जंगल की जड़ी-बूटियों पर निर्वाह करने लगा। ब्राह्मणों के सिवाय किसी को अपने पास न आने देता था। वह कहता था "मैं फिरंगी या पोर्चुगीज नहीं—मैं नरोमन राजा हूँ"। एकान्त स्थान में रहकर वह अपने दिन बिताने लगा। धीरे-धीरे चारों तरफ इस सफेद जोगी की ख्याति फैलने लगी। भिन्न-भिन्न देशों से हिन्दू लोग आते, बड़े-बड़े विद्वान् भी आते परन्तु उन्हें अन्दर न आने दिया जाता। तीन-चार बार की प्रार्थना के बाद उन्हें दर्शन करने की आज्ञा मिलती। उसकी भक्ति तथा ईश्वर-प्रेम से आश्चर्यान्वित हो वे लोग उसके मत के अनुयायी होने लगे। समाज के बड़े आदमियों का अनुकरण कर नीच जातियाँ भी उसके मत में आने लगीं। इस तरह Jesuists ने अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया। Dominicans और Franciscans को Jesuists का बढ़ना अच्छा न लगा। उन्होंने इनकी शिकायतें कीं परन्तु रोम में Jesuists का दबाव होने के कारण उन शिकायतों पर विशेष ध्यान न दिया गया। यह ठगबाजी १७५६ तक होती रही जब कि Pombal ने आकर इसका प्रतिकार किया।

हम पहले ही कह चुके हैं कि Pombal बड़ा योग्य राजनीतिज्ञ, साहसी तथा शक्तिशाली था; वह वहाँ का मन्त्री था। उसके बुद्धिमत्ता तथा उत्तमतायुक्त शासन का पुर्तगाल बहुत ऋणी है। उसी ने कृषि, व्यापार तथा शिक्षा की वृद्धि के नियमों का प्रचार किया, उसी ने १७५५ के भूकम्प से धूलिसात् हुए Lisbon को फिर से खड़ा किया, उसी ने पोप के सिपाहियों को दण्ड देने का अनुकरणीय साहस दिखाया। १७५१ में उसने एक आज्ञा प्रचारित की जिसके अनुसार Inquisition के अधिकारों पर लगाम डाली गई। उसने कला-कौशल तथा छापेखाने को यथाशक्ति फैलाने का भी भरसक प्रयत्न किया। इससे Jesuists भड़क गये क्योंकि वही एकमात्र Inquisitor व्यापारी तथा कृषक थे। उन्होंने Pombal के प्रत्येक काम में विघ्न डालने का प्रयत्न किया और १७५५ के भयंकर भूकम्प का कारण Pombal के शासन को बताया। यहाँ पर ही बस न हुआ।

Paraguay तथा South America में उन्होंने पुर्तगाल के विरुद्ध विद्रोह कर दिए। वहाँ उन्होंने अपने रुपये कमाने के ढंगों को जारी रखने के लिए अपने राज्य की स्थापना करनी चाही। चार वर्ष तक पुर्तगाल के साथ वे युद्ध करते रहे। Pombal ने बिना सैनिक शक्ति से उन्हें शान्त करने की कोशिश की। पहले उसने प्रार्थना की, फिर धमकी दी। परन्तु दोनों से ही कुछ काम न चला। अन्त में उसने अपने देश में ही उनका फैसला करने का तरीका सोचा। राजा के

पुरोहित को जो कि Jesuist था रुख़सत किया गया, आज्ञा दे दी गई कि कोई भी Jesuist राज की कोर्ट में बिना विशेष आज्ञा के न आने पाए। इन बातों से Jesuists के क्रोध की भी कोई सीमा न रही। उन्होंने Pombal के सुधारों से असन्तुष्ट हुए कुछ जागीरदारों के साथ जत्था बना बदला लेने की सोची। १७५८ की पतझड़ के मौसम में जबकि King Joseph रात को गाड़ी में बैठा महल की तरफ आ रहा था, कुछ विद्रोहियों ने उसपर आक्रमण किया। पूरा अन्वेषण किया गया और उन जागीरदारों को उचित दण्ड दिया गया। परन्तु पादरियों के साथ नम्रता का व्यवहार असम्भव था। उनके उपद्रवों का एक लेखा पोप के पास भेजकर उनका फ़ैसला अदालत से कराये जाने की आज्ञा माँगी गई। Clement the Thirteenth इस समय पोप था। वह Jesuists को चर्च का मुख्य सहायक समझता था। कई महीने तक उसने कुछ भी उत्तर न दिया, परन्तु अन्त में विद्रोह में शामिल Jesuists का अदालत में फ़ैसला करने की अनुमति दी और साथ यह भी प्रार्थना की कि इन परमेश्वर के भक्तों का खून न किया जाय। परन्तु ऐसी नम्रता Pombal को समयोचित न जान पड़ी, अतः उसने उन लोगों को यथोचित दण्ड देने की मन में ठान ली। Gabriel Malagrida को जो कि अपने-आपको परमात्मा का दूत या पैगम्बर बतलाता था, बाँधकर आग में जीते-जी जलाया गया और उसी समय पुर्तगाल के शासनाधीन सब स्थानों से इस सम्प्रदाय के लोगों को निकाल दिए जाने की आज्ञा प्रचारित की गई। गोआ में १२७ Jesuists एकदम पकड़कर कैदखाने में डाल दिए गये। कुछ दिनों बाद उन्हें किश्ती पर चढ़ाकर Lisbon भेज दिया गया। उनके मन्दिर अन्य सम्प्रदायों में बाँट दिए गये जिनका भी १८३५ में वही हाल हुआ, यद्यपि उनके साथ इतनी सख्ती न की गई। उनकी सम्पत्ति १५ लाख रुपयों से भी ज्यादह थी, उसे पब्लिक खजाने में डाल दिया और उनके चर्च भिन्न-भिन्न पादरियों में बाँट दिए गये।

हम कैथलिक सम्प्रदाय की भारत में बढ़ती के इस लेख को समाप्त करते हैं। अब उस तरह के काम नहीं होते। Inquisition के दिन चले गये। लोगों को धोखा देने के दिन चले गये। इस समय भारत की कैथोलिक जनसंख्या दस लाख से ज्यादह नहीं है और बहुत-कुछ १०वीं शताब्दी के योरुप के लोगों की तरह वे अविद्यान्धकार में हो रक्खे जाते हैं। कुछ-एक जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त कर ली है, अपने मन को विकसित तथा प्रकाशित करने की कोशिश कर रहे हैं। निःसन्देह वह दिन धन्य होगा जबकि वे लोग इस आत्मिक दासता से स्वतन्त्र होंगे।"

नोट—Jesuit (जेसुइट) शाखा के ईसाई पादरियों ने भारतवर्ष पर जो अत्याचार किये और जो माया और मक्कारी के जाल रचे, उनका विस्तृत वर्णन 'जेसुइटों का इतिहास' नामी पुस्तक में किया गया है। यह पुस्तक थियोडोर

ग्रीसिंगर (Theodor Griesinger) ने जर्मन भाषा में लिखकर सं० ८६६ ई० में छपवाई थी। उसका दूसरा संस्करण १८७६ ई० में निकला। उसी ग्रन्थ का आंगल भाषा में अनुवाद A. J. Scott, M.D. ने किया। उस अनुवाद का तीसरा संस्करण सन् १८९२ में छप चुका था। उक्त ग्रन्थ से पता लगता है कि हिन्दुओं को ज़बरदस्ती से ईसाई बनाया गया परन्तु दिल से कोई भी हिन्दू ईसाई न होता था। धोखे, मक्कारी और फ़रेब को इस पवित्र मिशन की कृतकार्यता के लिए काम में लाया जाता था। उदाहरण के लिए दो दृष्टांत ऊपर वर्णित पुस्तक से उद्धृत किए जाते हैं—

"...जेसुइट मिशनरी आगे बढ़कर बड़े सरल साधनों से अपने पैर जमाकर ईसाई समाज क़ायम करते थे। ये सरल साधन क्या थे? विधि यह थी कि ये मिशनरी हिन्दुस्तानी पादरियों (अर्थात् ब्राह्मणों) की पोशाक पहनकर हिन्दुस्तानियों के सामने जाते जिससे उन्हें ये इसी देश के निवासी दीखें, और साथ ही जो ईसाई वे अपने साथ लाए थे उनका काफ़िरों (हिन्दुओं) की रस्म-रिवाजों के साथ मिलाकर प्रचार करते थे। हिन्दू केवल बप्तिस्मा लेते, शेष कामों में वे हिन्दू-के-हिन्दू रहते। मेरे लिए यह सुगम है कि उन सब जेसुइटों की पूरी सूची बना दूं जो ब्राह्मण बनकर देश में घूमते थे...परन्तु मैं उनमें से दो दृष्टान्तों पर ही सन्तोष करूँगा, इस आशा पर कि इन दृष्टान्तों से पढ़नेवालों को स्पष्ट विदित हो जाय कि भारतवर्ष में जेसुइटों के काम और कार्यवाही की रीति क्या थी? (१) उनमें से एक "पेटर कान्सटेण्टाइण्टोबेश्ची' था जिसने हिन्दी भाषा और संस्कृत यत्न से सीखी थी, जिसने ब्राह्मणों के रिवाजों, रहन-सहन और शिष्टाचार का यथावत् ऐसा अनुकरण किया था कि दक्षिण के लोग, जहाँ वह चिरकाल तक रहा, उसका सन्त की तरह मान करने लगे......और यत: उसने इस सबके सिवाय, देशभाषा में भजन-पुस्तक भी मुद्रित की इसलिए उसका यश सारे देश में फैल गया। इसका परिणाम क्या हुआ? दक्षिण के शासक ने, उसे सच्चा ब्राह्मण समझकर, अपना मुख्य दरबारी और मन्त्री बनाया और "का० बेश्ची" ने इस भूल को दूर करने की कुछ परवा न की। इसके विरुद्ध प्रशंसित पादरी ने उस दिन से अपने यूरोपियन रहन-सहन और उत्पत्ति को जवाब देकर, बहुमूल्य पूर्वीय पोशाक पहन एक सजे हुए घोड़े पर निकलना शुरू किया अथवा पालकी में दासों के कन्धों पर यात्रा करनी प्रारम्भ की......कोई भी नहीं समझ सकता था कि वह यूरोपियन वा ईसाई है। परन्तु वह अन्त तक ही जेसुइट रहा और उसके मठ के साथी उसपर बड़ा अभिमान करते थे।

(२) इससे दूसरे प्रकार का चित्र "पेटर बार्थेलिमी अकोस्टा" ने दिखलाया जो देश के बड़े आदमियों से मिलने के स्थान में जनता के नीच-से-नीच भाग के साथ मिलता था, परन्तु प्रेरक उसका भी वही भाव था...वह नाचने और पेशा

करानेवाली वेश्याओं के बदनाम घरों को ढूँढकर वहाँ जाता था।......वह उनके साथ खेलता, नाचता और शराब पीता जिससे कि वह उनका अत्यन्त प्यारा मित्र और विश्वसनीय सखा बन गया। वे बेचारिएँ इस (पादरी) से अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उन्हें इससे बढ़कर और क्या चाहिए था कि इसके द्वारा बड़ी सुगमता से वे बहिश्त (स्वर्ग) में चली जावें! ईसाई मत स्वीकार करने के मार्ग में उन्हें एक ही रुकावट थी, वह यह कि उन्हें बतलाया गया था कि ईसाई पादरी उनके पेशे को पापमय समझते हैं। इसलिए वे बप्तिस्मा लेने में ढील कर रही थीं। तब प्रशंसनीय पादरी ने क्या किया? उसने उन्हें शिक्षा दी कि ईसाई होकर भी वे अपना पेशा, बिना पापिनी बने, कमा सकती हैं यदि वे अपनी कमाई का कुछ भाग ईसाई चर्च के अर्पण कर दिया करें और जो पुरुष उनसे व्यभिचार करने जावें उन्हें ईसाई बनाने का भरसक यत्न किया करें।......"

इससे बढ़कर लज्जास्पद कहानी और किसी मजहब के प्रचार की सुनने में नहीं आई। भारतवर्ष में वाममार्ग का कुछ काल तक जोर रहा परन्तु उसका भी रोमन कैथलिकों के मठों और विशेषतः पोपों के धार्मिक व्यभिचारों के साथ कुछ मुक़ाबिला नहीं। कहा जाता है कि इस समय रोमन कैथलिक चर्च में भी सुधार की आवाज़ गूंज उठी है और वास्तविक धर्मभाव उनके अन्दर आने लगा है, परन्तु जब सन् १८७७ ई० के आरम्भ में मैं रोमन कैथलिक ईसाई मत की ओर झुका था,[1] उस समय तक तो इनकी उपर्युक्त लीला ही दिखाई देती थी। उसका प्रकाश कभी समय आने पर ही होगा।

---

१. द्रष्टव्य—कल्याण मार्ग का पथिक

प्रोटेस्टेण्ट मत कैसे फैला ?

दिल्ली के केम्ब्रिज ईसाई मिशन की कहानी

"दिल्ली मिशन की कहानी" (The story of the Delhi Mission) नाम से एक पुस्तक सन् १६०८ ई० में इंजील प्रसारिणी सभा की ओर से छपवाई गई थी; उसी के आधार पर नीचे का लेख लिखा गया है।

सन् १८३० में एक बेप्टिस्ट मिशनरी ने दिल्ली के बाजारों में अपने ट्रैक्ट बाँटने शुरू किए। वह लोगों को आत्मान्दोलन के लिए प्रेरणा करता, परन्तु उसकी कोई सुनता न था। २० वर्ष तक वह निराधार काम करता रहा परन्तु एक भी 'हिन्दुस्तानी' (हिन्दू) को ईसाई न कर पाया। फिर एक जन्म का ब्राह्मण ईसाई "केटिकिस्ट" भी दिल्ली की सड़कों में घूमा, परन्तु उसका पुरुषार्थ भी निष्फल गया।

हिन्दू द्विजों में ईसाई काम

सन् १८५० ई० में रामचन्द्र गवर्नमेंट कॉलिज में उच्च गणित का प्रोफ़ेसर था। निर्धन विधवा का बालक होने से १० वर्ष की आयु में छात्रवृत्ति पर उसने स्कूल में पढ़ना शुरू किया। समय पर वह स्कूल कॉलिज बन गया और रामचन्द्र उसमें एक प्रोफ़ेसर नियत हुआ। उस समय उसकी धार्मिक अवस्था अधिकतर हिन्दू विद्यार्थियों से भिन्न न थी। पश्चिमीय शिक्षा ने हिन्दू विश्वास का नाश कर दिया था और अपने पुरुषाओं की मूर्ति-पूजा को तिलांजलि देकर, किसी प्रकार के एक ईश्वर में संदिग्ध-से विश्वास के द्वारा शान्ति पाने का वह कृत्रिम अमल जाहिर करता था। सब किताबी मजहबों को वह बेहूदा और झूठे समझता था, भले बैप्टिस्ट मिशनरी के ट्रैक्ट को वह पाँव-तले रौंदता था। कॉलिज के प्रिंसिपल मिस्टर टेलर ने इंजील (Bible) पढ़ने की सम्मति दी थी परन्तु प्रोफ़ेसर······ने समझा कि उस पुस्तक को "इतिहास और साहित्य" की रीति से पढ़ने की सम्मति दी जाती है। **गवर्नमेंट के अंगरेज आफिसरों के लिए उसके मन में बहुत गहरा मान था** परन्तु उसने वितर्क किया कि "जब हम देखते हैं कि गवर्नमेंट ईसाई मत की शिक्षा देने के लिए यत्न नहीं करती तो माना नहीं जा सकता कि वे ईसाई मत

पर विश्वास रखते हैं।" इस प्रकार हिन्दू प्रोफ़ेसर ने ईसाई धर्म का यत्न से आन्दोलन करने से इनकार में अपने-आपको सचाई पर समझा। (पृ० २, ३)

फिर रामचन्द्र ख़ुस्टीय झंडे के तले कैसे आया? उत्तर मिलता है—"परिवर्तन एक अविचार्य प्रकार से हुआ। ऐसा हुआ कि एक दिन कॉलिज के एक ब्राह्मण विद्यार्थी ने अंग्रेजों को अपनी पूजा करते हुए देखना चाहा और मिस्टर टेलर ने रामचन्द्र को कहा कि किसी आदित्यवार की शाम को उसे "संत जेम्स गिर्जा" में ले जावे। इसलिए केवल कौतूहल से (जैसा कि वह स्वयं कहता है) वह गया और वहाँ बहुत-से अंग्रेजों को देखा जिन्हें वह विज्ञ और व्युत्पन्न समझता था और उनमें से अधिक घुटना टेककर बड़े भक्तिभाव से प्रार्थना करते प्रतीत होते थे। इस सरल घटना ने उसपर बड़ा गहरा असर डाला और जब रामचन्द्र उस रात लौटा तो उसके जीवन का प्रवाह बदल चुका था।" (पृ० ३)

रामचन्द्र क्यों ईसाई हुआ? इसलिए नहीं कि उसने ईसाई मत की छानबीन कर ली थी और उसे अपने पैतृक मत से श्रेष्ठ पाया था; क्योंकि अपने पैतृक मत का तो उसने पाठ ही नहीं किया था और न ही ईसाइयों की धर्म-पुस्तक (बाइबल) के लेखों को ग्राह्य समझकर वह ईसा पर ईमान लाया। उसके ईसाई होने का कारण यह था कि "गवर्नमेंट के अंग्रेज आफिसरों के लिए उसके मन में बहुत गहरा मान था।"

और जब उनमें से ऐसे सज्जन जिन्हें वह विज्ञ और व्युत्पन्न समझता था "अधिकतः घुटना टेककर भक्तिभाव से प्रार्थना करते प्रतीत होते थे" तो अधिक सोचने और परखने की ज़रूरत न थी और उसके जीवन का प्रवाह एकदम बदल गया।

धर्म आत्मा का भोजन है, धर्म पर ही आत्मा का जीवन निर्भर है; इसलिए धर्म का सम्बन्ध बाह्य जगत् के साथ नहीं। वह आभ्यन्तर से भी आभ्यन्तर है। संस्कृत कवि ने ठीक कहा है कि **"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्"** धर्म का तत्त्व आत्मा के अन्दर छिपा हुआ है, अतः साधारण पुरुषों के लिए **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** महापुरुष जिस मार्ग से चलते हैं वही रास्ता है। रामचन्द्र संस्कृत पढ़े न थे, अपने धर्म के मर्म को समझते न थे; धोतीपोश सांसारिक ऐश्वर्य-हीन वेदान्ती पंडितों के पास बाह्य दृष्टि को अपनी ओर खींचने का सामान न था। तब जिन्हें रामचन्द्र ने महापुरुष समझा उन्हीं के पैरों पर जा गिरे। रामचन्द्र के जीवन-चरित्र का लेखक लिखता है—

"जिस (रामचन्द्र) ने बाइबल और लघु पुस्तक मकान के एक कोने की टोकरी में डाल दिए थे अब उन्हें ढूंढकर पढ़ना है; वह ठहरता है और सोचता है; वह पक्षपात को मरोड़ डालता है, अपनी गत अविद्या पर विलाप करता है और अपने आत्मा से प्रश्न करता है कि मुक्ति का मार्ग किधर है? उस (मार्ग) को

प्राप्त करने के लिए वह अपनी गणित को अलग धर देता है और अपना दिल **ईसा के द्वारा परमेश्वर की खुली प्रार्थना के लिए** खोल देता है और तब ईसाई पादरियों को ईश्वर के दूत समझकर मान करता है, यद्यपि वह उनके पास जाने में अभी निर्बल और अदृढ़ है।" (पृ० ३, ४)

रामचन्द्र ने फिर अपने विचार प्रकट किए जिसपर सारे नगर में कोलाहल मच गया। यह सन् १८५० ई० की घटना है। अभी दिल्ली के क़िले में बूढ़ा बादशाह बहादुरशाह रहता था। उसने भी समझाने को बुलाया, परन्तु वहाँ से रामचन्द्र उल्टा बादशाह के गुलाम के लड़के गुलामनिसार को, उसके परिवार-सहित, उकसा लाया और उन्हें ईसा की भेड़ों में दाखिल कर दिया। रामचन्द्र ने अन्त को बड़ी हलचल के पीछे, दिल्ली के असिस्टेंट सर्जन **चिमनलाल** सहित, बपतिस्मा लिया। चिमनलाल कलकत्ता के प्रसिद्ध "डॉक्टर डफ" के प्रभाव में आकर पहले ही तैयार हो चुका था। इन दोनों की पत्नियाँ भी तीन और नौ वर्ष पीछे ईसाइन होकर अपने पतियों के पास जा पहुँची थीं।

सन् १८५७ ई० के ग़दर में अंग्रेज ईसाइयों के साथ डॉक्टर चिमनलाल तो मारे गये थे और मुसलमानी मत से ईसाई हुए भी न बचे, केवल प्रोफ़ेसर रामचन्द्र अपने हिन्दू सम्बन्धियों के यहाँ छिपकर बचे। ग़दर समाप्त होने पर इंगलिस्तान से नए पादरी **स्केल्टन** साहब आ गये और मिशन का काम फिर से शुरू हुआ। पहले **ताराचन्द** को बप्तिस्मा दिया गया। वह कुछ दिनों कलकत्ते में शिक्षा पाकर पहले दिल्ली में काम करते रहे और रैवरेण्ड पादरी बनकर अजमेर चले गये। उनकी दो लड़कियाँ दिल्ली मिशन में काम कर रही हैं।

मिस्टर स्केल्टन के दिल्ली पहुँचने से एक सप्ताह पीछे ही चन्दूलाल ईसाई होने को तैयार हो गये। ताराचन्द और चन्दूलाल, दोनों प्रोफ़ेसर रामचन्द्र के प्रयत्न से ईसाई हुए। व्यक्तिगत विश्वास पर जैसे ईसाई मत की बुनियाद है, उसी प्रकार व्यक्ति से व्यक्ति ख़मीर लेकर ईसाई बनता गया।

सन् १८६८ ई० के मई मास में जानकीनाथ ईसाई बने। वह अपने ईसाई बनने के प्रेरक कारणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"मैं एक ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ था जिसका जनता में मान था और जिसे देवता की तरह लोग पूजते थे। यदि मनुष्य की दृष्टि से देखें तो वह अच्छा परिवार समझा जा सकता है। यदि अब मेरे मन की दशा वही होती तो मैं उसका अभिमान कर सकता था। परन्तु एक शब्द में मैं कह सकता हूँ कि मेरी उसके विषय में क्या सम्मति है—यह एक **मूर्ति-पूजक परिवार** था। मूर्ति-पूजक परिवार एक सफ़ेदी पोती हुई क़ब्र है। मनुष्यों की दृष्टि में यह प्रतिष्ठित, पुण्यशील, पवित्र हो सकती है, परन्तु मैंने इसमें निवास किया है···अन्दर उसके दुष्टता है। मेरे श्वसुर ने, होली के त्यौहार पर, मुझे एक काम करने को कहा जो मैंने उस समय किया, परन्तु मेरे अन्दर से

एक आवाज ने कहा कि वह अधर्म है।···१६ वर्ष की आयु तक मुझे कुछ भी धर्म-शिक्षा नहीं मिली थी। मैं वही करता था जो मेरे सम्बन्धी करते थे वा जो मेरा पापमय हृदय प्रेरित करता था।···बहुत-सी अवस्थाओं को केवल आधे दर्जन आदमी जानते थे, जो पाप मैं करता था और हजारों अवस्थाओं में मेरे सिवाय मेरा ईश्वर ही जानता था···मेरे स्कूल के जीवन में मुझे बड़ी सहायता मिलती थी; मैंने पढ़ना सीखा था और जब मुझे "संत मंथ्यू" की बाइबल मिली तो मेरा उससे बहुत प्रेम हो गया। क्लास में जो रीडरें पढ़ाई जाती थीं उनमें बाइबल के इतिहासों की बहुत घटनाओं का ज्ञान हुआ······

"बप्तिस्मा लेने के पश्चात् सैनिक के रूप में मेरी यात्रा प्रारम्भ हुई। मैंने विश्वास किया कि मेरे पाप क्षमा हो गये हैं परन्तु मैं एकदम पापों से मुक्त नहीं हो गया। मैं निरन्तर दिन-रात अन्तरीय युद्ध में लग गया।···" (पृ० १६,२०)

यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया गया है कि पाठकों को इस बात का पता लग जावे कि क्यों पहले दिनों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, उच्च वर्ण के लोग ईसाई होते थे। इसी प्रश्न के उत्तर से यह भी समझ में आ जायगा कि अब क्यों उच्च जातियों के हिन्दू ईसाई नहीं होते। अपने वैदिक धर्म में जो रत्न भरे पड़े हैं वे पौराणिक पंडितों की बदौलत ताला-बन्द पड़े थे और हिन्दू घरों के अन्दर स्वार्थ और अन्धविश्वास का राज था। बंगाल में राजा राममोहन राय के प्रयत्न से जो थोड़ा-बहुत ईसाइयों का काम बन्द हुआ था, वह बाबू केशवचन्द्र सेन के अंग्रेजीपन के कारण पुनः फैल चला था; परन्तु संयुक्त प्रांत, पंजाब, राजपूताना और मुम्बई प्रान्तों में ऋषिवर दयानन्द के उपदेशरूपी घन की चोटों से अन्धविश्वास की कड़ी साँकल कटकर सत्य विद्या, वेद का प्रकाश हुआ और फिर हिन्दुओं का ही नहीं मुसलमानों का भी ईसाई होना बन्द हो गया। सैयद अहमदखाँ और मिर्ज़ा गुलाम अहमद कादियानी ने दयानन्द से ही कुरानी नई तफ़सीर की विधि सीखी और तर्क ऋषि का धर्म के मामलों में भी स्वागत किया।

मुसलमानों में ईसाई काम

दिल्ली के मुसलमानों में से सबसे पहला पुरुष जिसने ईसाई मत स्वीकार किया "अबुलमसीह" था जिसे विशेषकर (लाट पादरी) "हीबर" ने, सन् १८३६ में, बप्तिस्मा दिया। दूसरा, बादशाह बहादुरशाह का अनुचर 'गुलाम निसार' था जो प्रोफ़ेसर रामचन्द्र की संगत से परिवारसहित ईसाई बना। फिर 'विलायत-मसीह' ने बप्तिस्मा लिया। सन् १८५७ के ग़दर में मुसलमानों ने विलायतमसीह को मार डाला था। दिल्ली के मुसलमानों में केम्ब्रिज ईसाई मिशन ने जो काम किया उसको 'केम्ब्रिज मिशन की कहानी' के ग्रन्थ-कर्त्ता के शब्दों में ही सुनना चाहिए। वह लिखते हैं—

"यहूदी मत के अतिरिक्त कोई अन्य मत नहीं है जिसका ईसाई मत पर मुहम्मदी मत से बढ़कर अधिकार हो; क्योंकि अन्य कोई मत इसके इतना समीप नहीं पहुँचता। यदि 'सन्त पाल' पहले यहूदियों की ओर झुका तो यह आशा ही की जाती थी कि मिशनरी हिन्दोस्तान में पहले मुहम्मदियों की ओर झुकेगा। जिस प्रकार "पाल" की अपील अकृतकार्य रही वैसे ही सम्भव है कि यह भी हो, परन्तु अपील होनी चाहिए। और जिस प्रकार हिन्दोस्तान मुहम्मदीयत की कुञ्जी है वैसे ही दिल्ली मुहम्मदी मत की कुञ्जी है......परन्तु यह कर्त्तव्य कैसे पूरा किया जावे? बाजार-प्रचार से कुछ आरम्भ हो सकता परन्तु उच्चकोटि-वाले, जिन तक 'केम्ब्रिज'वाले पहुँचना चाहते थे, ऐसे प्रचार में आते नहीं और न बाज़ार का कोलाहल और शोर-शराबा विवाद के लिए उचित स्थान है क्योंकि उस (विवाद) में क्रमबद्ध विचार की आवश्यकता होती है और वह अधिकतः पारिभाषिक हुआ करता है......" (पृ० ३२) तब सभ्य मुसलमानों तक पहुँचने का क्या यत्न किया जावे? एक मार्ग निकल आया। मुसलमानों ने "मिशनरी लीफ़ाय" को मस्जिद में आकर विचार करने का निमन्त्रण दिया। वहाँ ३०० की उपस्थिति थी और आधे दर्जन मौलवी किताबें लिये बैठे थे। शनैः-शनैः उपस्थिति १००० तक पहुँचने लगी। तब एक प्रचार-भवन अपना बनवाया गया। उन्हीं प्रचारों से प्रभावित होकर एक चेला मसीह के गल्ले में आया, जिससे दिल्ली की गली-गली परिचित है। वह अन्धा ईसाई प्रचारक "अहमदमसीह" है। कहानी ऐसे चलती है—

"यह मनुष्य बहुत देर से बाज़ार के काम का बड़ा दृढ़ विरोधी था और एक बार उसके बलात्कार का वेग इतना बढ़ गया था कि पुलिस के दखल देने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। उसके पश्चात् वह बहुत शांत रहा (शायद पुलिस के डर से—**अनुवादक**) और जिस मस्जिदवाली सभा का ज़िक्र ऊपर आया है उसका अहमद मसीह सभापति था। उस समय एक मुसलमान तार्किक के उलझ जाने पर, यह सभापति सबको हैरानी में डालकर उठ खड़ा हुआ और बोला कि लोगों को मालूम होना चाहिए कि कुछ गत समय से मैं ईसाई विश्वास पर गम्भीरता से सोच रहा हूँ और यदि और कोई दलील नहीं है तो मैं पादरी का हाथ पकड़-कर मस्जिद छोड़, इसी रात ईसाई हो जाऊँगा।" (पृ० ३४, ३५) अहमद मसीह ने फिर प्रचार के समय ईसाई मिशनरी के हाथ से गिलास लेकर पानी पी लिया। इसपर भी बड़ा शोर मचा। परन्तु अहमद मसीह की दशा विचित्र थी। एक दिन वह बाज़ार में ईसाइयों के विरुद्ध खड़ा हो जाता और दूसरे दिन घण्टों मिशन हाउस में गोष्ठी करते हुए बप्तिस्मा माँगता। अन्त को उसने दृढ़ विचार बप्तिस्मा लेने का कर लिया। बाजे-गाजे के साथ उसको प्रचार-भवन में लाया गया—

"मिस्टर लीफ्राय ने विज्ञापन के अनुसार अपना व्याख्यान दिया और जितने समय तक वह बोलते रहे एक प्रसिद्ध मौलवी गली के दूसरे ओर की मस्जिद पर खड़ा घोर निन्दित भाषण करता रहा; बड़े समूह इकट्ठे होते और जोश से 'हाल' में आते-जाते रहे। आकर्षण सबके लिए बहुत था; अन्धे मौलवी के लिए बहुत ही बड़ा सिद्ध आ और जब अन्त को वह खड़ा हुआ तो कुछ देर तक उसने टालकर कुछ व्याख्यान के विषय पर प्रश्न पूछे और फिर गिर गया और मुहम्मदी मत पर लङ्गड़ा-सा विश्वास प्रकट करके विजय के साथ ले-जाया गया।"

दूसरे दिन फिर वह फाँसी (Cross) के नीचे रोने लगा और फिर बहुत दिनों के साधनों के पीछे उसे चुपके-से एक शाम को बप्तिस्मा दे दिया गया।

एक और बार न्यूनता हुई जिसमें कि हमें नहीं जाना चाहिए।" (पृ० ३६)

अन्तिम न्यूनता का ज़िक्र भी ग्रन्थकर्त्ता को कर देना चाहिए था, जिससे मालूम हो जाता कि ईसाई बनाने में किस प्रकार की नीतियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। जब अहमद मसीह ईसाइयों का विरोध करता था उस समय तो पुलिस का भय दिलाकर उसका मुँह बन्द किया जा सकता था, परन्तु अब जब कि वह स्वयं अपने हाकिमों के मत का प्रचारक है तो उसके गन्दे हमले और तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण प्रहार पर भी पुलिस के कानों पर जूँ नहीं रेंगती। परन्तु अब तो वही लोकोक्ति चरितार्थ हो रही है कि—सय्याँ भए कुतवाल अब डर काहे का! एक गाल पर थप्पड़ मारनेवाले के सामने दूसरी गाल भी पेश कर देने का उपदेश देने वाले "मसीह" का नामधारी विवाद और प्रचार में गंद और गालियों की सरे-बाज़ार बौछाड़ करे—यह दृश्य ईसाई जगत् के गौरव को बढ़ानेवाला नहीं हो सकता।

सन् १६०० ई० में मौलवी गुलमुहम्मद ने बप्तिस्मा लिया। यह अलीगढ़ में सर सय्यद अहमद के संग में पला था—ऐसा ग्रन्थकार ने लिखा है। गुलमुहम्मद को अपने बच्चों (एक लड़का और एक लड़की) की संरक्षा का अधिकार प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई हुई, परन्तु अन्त को दोनों बच्चे उसे मिल गये। इसके पश्चात् कोई और मुसलमान दिल्ली के मिशनरियों के हत्ते नहीं चढ़ा, परन्तु पादरियों को यह तसल्ली है कि—"दिल्ली के काम को इस शाखा (Conversion) का मूल्य वास्तविक मन-परिवर्तन से नहीं आँकना चाहिए, प्रत्युत परस्पर के बेहतर समझौते और अन्वेषण के भाव से जो कि उस (काम) का परिणाम हुए हैं। दिल्ली के मुसलमान पहले की अपेक्षा अब ईसाई कहानी के अनुसार, ईसा-मसीह के जीवन और काम के विषय में अधिक जान गये हैं; यह क्या कुछ कम लाभ है? जब हम अपने मत के सम्बन्ध में गत समयों के दृढ़ पक्षपात पर विचार करते हैं तो यह बहुत मालूम होता है।" (पृ० ३८,३६)

ग्रन्थकर्त्ता की अन्तिम अपील यही है कि मुहम्मदियों को मसीह के गल्ले मे लाने के लिए केम्ब्रिज से और योग्य आदमी लाए जाने चाहिएँ।

हिन्दू अछूतों में ईसाई काम

द्विज हिन्दुओं और शिक्षित सभ्य मुसलमानों को ईसा की भेड़ों के गल्ले में दाखिल करने में नाकामयाब होकर दिल्ली के ईसाइयों ने भी वही कार्य आरम्भ कर दिया जो अन्य स्थानों के मिशन करते चले आए हैं। सुशिक्षित और उच्च श्रेणी के हिन्दू-मुसलमानों पर ईसाई मिशनरी कभी कृतकार्य हो ही नहीं सकते थे। सन् १७९१ में प्राचीन भारत पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डालते हुए प्रसिद्ध ऐतिहासिक डॉक्टर विलियम राबर्टसन, डॉक्टर ऑव डिविनिटी (William Robertson, D. D.) ने लिखा था—"एक प्रवीण लेखक लिखता है कि गत दो सौ वर्षों में मिशनरियों के प्रयत्न और ईसाई जातियों की विविध संस्थाओं के (जो उनका पालन और उनकी रक्षा करते हैं) परिश्रम से दस करोड़ हिन्दुओं में से १२ हजार भी ईसाई नहीं हुए और **उनमें लगभग सब चांडालों में से हैं।"**

उन्हीं अति शूद्रों और अछूतों पर दिल्ली के मिशन की भी दृष्टि जा पड़ी—"ग़दर (सन् १८५७) से पहले भी चमारों में ईसाई बनने की हलचल मालूम होती थी। मिस्टर 'स्केल्टन' के पहुँचने पर (गदर के पश्चात्) बहुत-से (चमारों के) परिवार उनसे शिक्षा ग्रहण करने लगे।" (पृ० ४२)

"सन् १८७० के साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि जिनकी ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए वे चमार हैं जो देहली के विविध विभागों में चमड़े का काम करते हैं। ये चमार शूद्रों के अनगिनत विभागों में से एक हैं अर्थात् जिन चार जातों मं हिन्दू विभक्त हैं, उनमें सबसे निचले दर्जे पर; और इसलिए कि उनके व्यवसाय में मरे हुए पशुओं के चमड़े को बराबर हाथ लगाना पड़ता है, वे अपवित्र समझे जाते हैं। देहली शहर में इनकी संख्या दस-बारह हज़ार है और शहर का ये पन्द्रहवाँ भाग हैं। रोटी-बेटी के मामले में उनके अपने ही नियम और रिवाज हैं और यद्यपि वे जाति-बाह्य लोग हैं तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं कि एक चमार सहज मं अपनी बिरादरी से अलग हो सके। धार्मिक विश्वास के लिहाज से ये लोग कुछ ऐसे पैगम्बरों के अनुयायी हैं जिनका उद्भव ईसा की सोलहवीं शताब्दी में हुआ और जिन्होंने मुसलमानों के एकेश्वरवाद के साथ हिन्दुओं के अद्वैतवाद को मिलाया हुआ था। क्रिया में चमार मूर्ति-पूजक होता है; उसके मत की विशेषता यह विश्वास है कि गुरु बिना गति वा मुक्ति नहीं मिल सकती। इस विश्वास के कारण चमार को झूठे शिक्षक बहका सकते हैं, तथापि **दूसरी ओर मिशनरी के लिए यह (गुरु में विश्वास) काम का है क्योंकि वह (मिशनरी) मसीह को सच्चा गुरु बतला सकता है,** मसीह के गल्ले में लाने का

यह बड़ा सुगम साधन है और इससे ईसाई मत की सचाई उनकी शिक्षा की सरलता की परीक्षा भी हो जाती है।

"सन् १८७३ में लगभग २६ (चमारों) ने बप्तिस्मा लिया। चमार-स्कूल खोले गये और **मिस्टर विण्टर** ने शहर को प्रान्तों वा विभागों में विभक्त किया और प्रत्येक के ऊपर उन्होंने, एक देशी इंजील-पाठक को और जहाँ सम्भव था वहाँ एक यूरोपियन मिशनरी को, नियत किया। यह प्रबन्ध ठीक चला और हमारे समय तक चला आता है······१२ महीनों में ६० आदमियों ने बप्तिस्मा के लिए अपने नाम लिखाए और सन् १८७७ में, जब हिन्दुस्तान के लाट पादरी बिशप जानसन दिल्ली में, लाहौर के अलग धर्म-क्षेत्र बनने पर, अन्तिम बार आए, उस समय २०० चमारों ने सेण्ट स्टीवन के गिरजा में बप्तिस्मा लिया। इस समय (१८७७ ई०) तक ८०० चर्च में लाए जा चुके (ईसाई बन चुके) थे।" (पृ० ४१, ४२) इतने चमार ईसाई मत की शरण में क्यों आए? क्या धर्म की मीमांसा की योग्यता द्विजों की अपेक्षा इन चमारों में अधिक थी? उत्तर ईसाई मिशनरी के शब्दों में ही सुनिए—

"हमें इस बात को स्पष्टतया मान लेना चाहिए कि **इस (चमारों की) बड़ी संख्या को ईसाई मत की ओर ईसाई मन्तव्यों के सौन्दर्य तथा आत्मबल ने नहीं खींचा था;** इसमें सन्देह ही है कि किसी समय में भी किसी देश में भी (हमारे टापू समेत) किसी मत की ओर कोई सार्वजनिक गति अशिक्षित समूहों की ओर से, बिना किसी गौण कारण के हुई हो। **जाति-बाह्य पुरुषों पर ऊँची जाति वालों का अत्याचार, एक बड़े दुष्काल का धार्मिक प्रभाव, शिक्षा या सामाजिक उन्नति की इच्छा, हम इन गौण कारणों को १८६० और फिर १८७७ में वैसा ही दिल्ली में काम करते देखते हैं जैसा कि अन्य स्थानों में।** इन हेतुओं को नीच वा अनर्ह कहना उचित नहीं·········"

८०० चमार ईसाई तो बना लिये परन्तु ईसाई मिशनरी एक भूल करते रहे। वे पुरुषों को ईसाई बनाकर उनकी स्त्रियों को वैसे ही छोड़ देते रहे। चमार भी ईसाई मिशनरी को विश्वास दिलाते रहे कि स्त्रियाँ स्वयं ही पीछे आ जायेंगी, परन्तु उन स्त्रियों के मत-परिवर्तन के लिए ईसाई चमार कुछ भी प्रयत्न नहीं करते रहे। और बेचारे करते भी कैसे जब स्वयं ही ईसाई मत के मूल सिद्धान्तों से अभिज्ञ थे? मिशनरी ने उन्हें अपनी बिरादरी में ही छोड़ दिया। शायद मिशनरी ने इतना ही पर्याप्त समझा कि ८०० के बप्तिस्मा देने का समाचार ही मिशन के संचालकों को सन्तुष्ट कर देगा और ८०० ईसाई चमार खमीर की तरह अन्य चमारों में मिलकर ८००० को प्रभावित कर देंगे। परन्तु परिणाम उलटा निकला—"सारी जमात को खमीरी बनाने के स्थान में ये नाममात्र के ईसाई अपने जीवन और आचार में अपने मूर्तिपूजक पड़ोसियों से बहुत कम

भिन्नता रखते थे।" (पृ० ४५) तब एक और ढंग सोचा गया। चमार ईसाइयों के उपनिवेश बनाए गये। एक आँगन के गिर्द उनके मकान बनाये गये। पहला परीक्षण दरियागंज में हुआ। उन परिवारों के लिए आवश्यक किया गया कि जन्म, विवाह और मृत्यु पर ईसाई आचार का पालन करें और अफ़ीम की तरह के एक नशे [शायद पोश्त] से परहेज़ करें। मद्य से बचने की कोई हिदायत न दी गई, शायद इसलिए कि बिना उसके पिये ईसा का लहू पीकर पवित्रता नहीं आती। अस्तु। इस परीक्षण में पहले बडी कठिनाई हुई। अपनी पुरानी बिरादरी से अलग हुए बिना ईसाई रस्मों का पालन नहीं हो सकता था और उसके लिए सब तैयार न थे। अन्त को सब ईसाई चमारों का एक बृहदधिवेशन बुलाया गया। गर्मी की एक रात को (सन् १८८४ ई० में) यह नाटक किया गया। इसका वर्णन मिस्टर लीफ़ाय ने इस प्रकार किया है—"हम दरियागंज बस्ती में आधी रात के समीप पहुँचे………रात अँधेरी थी और आँगन में प्रकाश धुँधला था……… प्रथम हमारे इंजील-पाठक ने उठकर उन घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया जिनके कारण जलसा बुलाया गया और उन सबको सम्मिलित होने के लिए धन्यवाद देकर हमारे चौधरी और आदमियों को अपना काम करने को कहा।" इसके पश्चात् एक-एक ने उठकर अपनी पुरानी बिरादरी के उपकारों का वर्णन करके कहना आरम्भ किया कि "अब वे अपने नए ईसाई जीवन की उस अवस्था में पहुँच चुके हैं जिसके कारण उनके लिए पुरानी मित्रताओं को निभाना कठिन है इसलिए वे कहना चाहते हैं कि भविष्यत् के लिए जहाँ वे बहुत आदमियों की, प्रसन्नता से, अपने मित्रों में गणना करेंगे वहाँ चमार-बिरादरी से उनका कोई सम्बन्ध न रहेगा, वे उसके आधिपत्य को नहीं मानेंगे और न उसके अधिवेशनों में सम्मिलित होंगे। यहाँ तक तो सब-कुछ निर्विघ्न हुआ………और तब सन्नाटा हो गया और हम सब उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे थे कि ऊँट किस करवट बैठता है। प्रश्न यह था कि क्या वे उठ खड़े होंगे और इस कार्यवाही को चुपके से शनैः-शनैः काम करने देंगे वा ईसाइयों को चुनने लगेंगे?"

बहुत देर तक गोष्ठियाँ हुईं और शोर मचा, परन्तु फिर निश्चय यही हुआ कि ईसाई चुन लेने चाहिएँ। ईसाई चुनने की विधि बड़ी विचित्र थी; इसे पादरी साहब को ही वर्णन करने देना चाहिए—"स्पष्टतया लोकमत यही मालूम होता था कि ईसाइयों का अनुसन्धान करना चाहिए। इसकी विधि यह थी कि **मध्य में गंगाजल का एक घड़ा रख दिया गया** (जो कि शपथ में हमारी इंजील (Bible) का स्थान लेता है) और जो ईसाई समझे जाते थे उन्हें बुलाया जाता और कहा जाता कि उसे [गंगाजल को] पूजा के लिए माथे पर लगाओ और यदि वे ऐसा करने से इनकार करें तो उन्हें बिरादरी से निकाल दिया जाय। एक व दो आरम्भिक मुश्किलें तय होनी थीं। प्रथम यह प्रश्न था कि कौन ईसाइयों को आगे

आने के लिए बुलाए ? अन्त को यह फैसला हुआ कि अपने-अपने इलाकेवालों को एक-एक करके मुखिया बुलावें। फिर उन्होंने हमसे इसके लिए गंगाजल माँगा जिसका हमने उत्तर दिया कि हमारे यहाँ इसकी माँग नहीं, इसलिए नहीं दे सकते।

गंगाजल एक लड़का कहीं से ले आया। परख शुरू हुई। पहले पाँच नाम जिनके बुलाए गये उन सबने गंगाजल माथे पर लगा लिया। पादरी साहब ने इनके नाम लिखने आरम्भ किए। फिर एक ऐसा युवक आया जिसके आचार पर बहुत-सों के ईसाई रहने वा न रहने का निर्भर था, वह चौधरी था। बाप ने उसे बहुत समझाया परन्तु उसने एक न सुनी। फिर भी उसे बुलाने से झिझकते रहे। परन्तु जब उसका नाम बुलाया गया तो उसने स्पष्ट कह दिया कि मैं ईसाई ही रहूँगा चाहे मुझे बिरादरी से खारिज कर दिया जाय। तब बहुत-से ईसाइयत में दृढ़ रहे। परन्तु फिर भी नियम बहुत शिथिल थे इसलिए यह निश्चय हुआ कि (१) "सब ईसाइयों के ऐसे बच्चों को बप्तिस्मा लेने के लिए लाया जावे जिन्होंने बप्तिस्मा नहीं लिया और अपनी स्त्रियों को शिक्षा दिलावें जिससे वे बप्तिस्मा ले लेवें। (२) अपनी सन्तान के नाते ईसाइयों में करें और (३) ऐसे मेलों और संस्कारों में न शरीक हों जहाँ मूर्तिपूजा होती हो। अन्तिम मामला एक आम जलसे वा ईसाइयों की पंचायत में हुआ कि जो मिशन हाउस के अहाते में २५ मई, १८८७ को हुआ था। उपर्युक्त शर्तों को स्वीकार किया गया, सबको उनके पालन के लिए अनुरोध किया गया और च्युत होनेवालों को एक मौक़ा और दिया गया।" उस समय ९९० ईसाई चमार इकट्ठे हुए थे। उनमें से केवल २९० रहे और ७०० का नाम काट देना पड़ा। फिर केवल यह काम रह गया कि गुमराह (भेड़ों) को गल्ले में लौटाया जाय और कड़ी यन्त्रणा से उनके जीवन और आचार का आदर्श उच्च बनाया जावे।"

पादरी साहब बतलाते हैं कि उसके पीछे चमारों की अधिक संख्या इकट्ठी ईसाइयत की ओर नहीं झुकी, यद्यपि विचले हुओं में से लौटनेवालों की संख्या बढ़ती गई है। ईसाई चमारों को बिरादरी के प्रलोभनों से बचाने के लिए उनकी जुदी बस्तियाँ (दरियागंज के नमूने पर) बसाई गई हैं, जिससे उनमें ईसाई आचार का दृढ़ता से संचार हो सके।

पण्डित जानकीनाथ को बप्तिस्मा देने के पीछे हिन्दू द्विजों से और गुलमुहम्मद को बप्तिस्मा देने के पीछे मुसलमान शरीफ़ों में से कोई ईसाई नहीं हुआ। केम्ब्रिज मिशन दिल्ली ने बड़े समारोह और उत्साह से सेण्ट स्टीवन्स स्कूल और कॉलिज चलाया। स्कूल तो सन् १८५७ के ग़दर से पहले ही खुला था और सन् १८७७ में बड़ी उन्नति पर हो गया था। फिर जब धनाभाव से वह गवर्नमेण्ट कॉलिज बन्द हो गया, जिसमें मास्टर रामचन्द्र गणित के प्रोफ़ेसर थे, तो मिशन ने, सन् १८८१

के आरम्भ में अपना कॉलिज खोल दिया। इसने भी ईसाई बनाने के नियमबद्ध काम में कुछ भी सफलता लाभ नहीं की, क्योंकि ईसाई मिशनरी ने स्वयं माना है कि "कॉलिज के आरम्भ से अब (सन् १६०८ ई०) तक एक विद्यार्थी ने भी वास्तविक बप्तिस्मा नहीं लिया; हाँ, कुछ ने दिखलावे में सचाई से ईसाई धर्म पर विश्वास प्रकट किया है, परन्तु ऐसे इक़रार से तसल्ली नहीं होती जब तक कि ऐसा आदमी प्रत्यक्ष प्रकार से बप्तिस्मा लेने को आगे न बढ़े क्योंकि भारतवर्ष में बप्तिस्मा ही सच्चे विश्वास की कसौटी है……" (पृ० ३६)

हिन्दू द्विजों और मुसलमान शरीफ़ों में काम बन्द होने पर मिशन ने रोहतक में एक शाखा खोली और जाटों में कार्य आरम्भ कर दिया। उस ज़िले में एक तो **यमुनादास (जाट साधु)** को और दूसरा **निगयूर जाट** को बप्तिस्मा देना लिखा है। फिर गुड़गाँव और करनाल के जिलों में भी दिल्ली मिशन की शाखाएँ खोली गईं। यद्यपि इन सबमें कोई स्पष्ट मत-परिवर्तन जाटों के अन्दर नहीं हुआ, परन्तु मिशनरी को आशा है कि किसी काल में यहाँ के जाट झुण्ड-के-झुण्ड ईसाई होंगे। सन् १६०८ में यह आशा की गई और सन् १६०७ से ही रोहतक पर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का प्रकोप हो गया था। आर्यसमाज का प्रचार भी लगभग जबरदस्ती बन्द कर दिया गया था। परन्तु गत १० वर्ष में आर्यसमाज ने इतना काम किया कि फ्रांस और मेसोपोटामिया तथा पेलेस्टाइन के मैदानों से जाट बहादुरों के पत्रों में नमस्ते ही लिखी आ रही है और रोहतक तथा करनाल के दोनों जिलों में दो गुरुकुल खुले हुए हैं तथा गुड़गाँव और दिल्ली के जिलों का साँझा गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ है। जाटों के झुण्ड-के-झुण्ड ईसाई तो नहीं हो रहे प्रत्युत आर्य उपदेशकों से यज्ञोपवीत लेकर हवन का सुगन्धित धुआँ आकाश में फैला और हरि-कीर्तन से आकाश को गुँजा रहे हैं।

यह सिद्ध है कि दिल्ली के आसपास के ज़िलों में सिवाय अछूतों के और किसी भाग में भी ईसाई कृतकार्य नहीं हो रहे हैं। पंजाब में, संयुक्त प्रान्त में, मद्रास में—जहाँ कहीं भी देखा मिशनरियों की खेपें अछूतों में ही लदती हैं। दिल्ली के विषय में पादरी लिखते हैं—"दिल्ली के गिर्द के ज़िले तथा ख़ास दिल्ली में ईसाइयों की सबसे बड़ी कृतकार्यता चमारों अर्थात् चमड़े का काम करनेवालों में हुई है। इनमें से अधिक ग्रामों में अपना काम करते हैं, और जूते बनाकर दिल्ली में बेचने को लाते हैं। ग्रामों में भी वे कमीनों का काम करते हैं और उसके बदले उनके कुछ अधिकार हैं और ग्राम उनका विशेष स्थान है। प्रायः वे ग्राम के एक अलग विभाग में रहते हैं क्योंकि जाट लोग तथा अन्य कृषिकार उनसे घृणा करते हैं और उनकी लम्बी गुलामी का दाग़ उनकी जमाअत पर लग गया है जिससे अन्यों के मुक़ाबिले में वे दबते हैं।……(पृ० ८४) **कुतुब** से ५ मील आगे एक **फतहपुर** ग्राम है जिसमें चमार ईसाइयों का एक गिर्जा भी है। उसपर ३०० रु० चन्दा करके चमारों ने

स्वयं भी लगाया था। यहाँ के चमार कुछ कृषिकार भी हैं। पहले ये लोग ग़ैर-मौरूसी काश्तकार थे। मिशन ने सौ एकड़ जमीन खरीदकर इन्हें जोतने-बोने को दी और अब इनका मालिक ईसाई मिशन है। मिशनरी महाशय लिखते हैं कि फतहपुर ही दिल्ली प्रांत में ईसाई मिशन का एक चमकीला स्थान है जिसका कारण यह है कि वहाँ की ईसाई भेड़ों को एक हिन्दुस्तानी गडरिया मिला हुआ है, जिसकी मानसिक योग्यता चाहे कुछ भी नहीं है परन्तु वह भेड़ों के गल्ले को काबू रखना जानता है।

जो कहानी दिल्ली मिशन की है वही लगभग भारतवर्ष के अन्य सब प्रांतों के मिशनों की है। इन सबका काम उन पुरुषों के अन्दर हो रहा था और हो रहा है जिन्हें हिन्दू अपनी मूर्खता से अछूत समझते हैं। इन गिराई हुई जातियों को भी ईसाइयों के पंजे से छुड़ाने का यत्न आर्यसमाज कर रहा है। "गिराई हुई" मैं इसीलिए कहता हूँ क्योंकि वे स्वयं नहीं गिरीं बल्कि उन्हें पौराणिक हिन्दूदल ने, अविद्या में फँसकर, गिरा रक्खा है। कैसी आश्चर्य की बात है कि एक मद्य-मांस का सेवन करनेवाला वाममार्गी पहाड़ी केवल ब्राह्मण नामधारी माता से जन्म पाने के कारण तो ब्राह्मण कहलाए, परन्तु एक मद्य-मांस-त्यागी हरि-कीर्तन करनेवाला सदाचारी मज़हबी, रहतिया, रमदासिया, अंत्यज और अछूत समझा जाय! परन्तु इस विषय पर अब किसी लम्बे विवाद की आवश्यकता नहीं है। आज सभी हिन्दू मान रहे हैं कि अछूतों को शुद्ध करके मिला लेना चाहिए और उन्हें अपनी जाति की सीमा से बाहर नहीं जाने देना चाहिए। इस बड़े और अत्यन्तावश्यक कार्य में कृतकार्यता कैसे हो? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही मैंने भूमिका-रूप से यह लेख आरम्भ किया था और अब भूमिका के समाप्त होने पर असली प्रश्नों पर आता हूँ। परन्तु इनका उत्तर देने से पहले आवश्यक है कि **अछूतों की इस समय की स्थिति** पर विचार कर लिया जाय।

जब पहले-पहल अछूतोद्धार का काम पंजाब में शुरू हुआ और लाहौर में रहतियों को शुद्ध करके उनका आर्यसमाज में प्रवेश-संस्कार कराया गया था, उस समय हिन्दू जनता की ओर से बहुत विरोध था। सियालकोट में मेघों की शुद्धि तथा मुलतान और मुजफ्फरगढ़ में ओडों की शुद्धि बड़े विरोध के मुकाबिले में हुई थीं। परन्तु इस समय राजनैतिक लहर ने वह सब अवस्था बदल दी है। जब मद्रास के शनारों पर हिन्दू अत्याचार होने के कारण आर्यसमाज का डेपुटेशन उधर गया था, यदि उस समय मद्रास के ब्राह्मण राजनीतिज्ञ उनकी बात सुनकर अपनी क्रूर नीति को बदल लेते तो आज डॉक्टर नायर के पीछे सहस्रों अब्राह्मण अपने देश के उद्धार के मार्ग में काँटे बिछाने को न खड़े हो जाते।

राजनीतिज्ञों की आँखें उस समय खुलीं जब पूर्वीय बंगाल के "नाम शूद्रों" ने बंगविच्छेद के विरुद्ध हलचल का मुकाबिला करते हुए अपने-आपको बंगाल के

हिन्दुओं से अलग करना चाहा था। वह राजनैतिक लहर ऐसी चली कि सम्वत् १९६९ में काशी के प्रसिद्ध पं० श्री शिवकुमार शास्त्री ने भी भरी सभा में डोमों को आसन दिलवाया और उनको हिन्दू जाति के स्तम्भ बतलाया था। इस परिवर्तन का कारण क्या था ?

जब तक प्रसिद्ध अछूत लोग सिर झुकाकर हिन्दुओं की मार खाए चले जाते थे तब तक तो गिरे हुए हिन्दुओं ने गुलामों की भाँति दबैलों को सताना और "मुये पर सौदर्रे" वाली मसल पर अमल करना अपना दस्तूरुल-अमल बनाये रक्खा। परन्तु अछूत तंग आये हुए थे। उन्होंने इन सब अत्याचारों से मुक्त होने के लिए राजधर्म की शरण ली। ये लोग कुछ नहीं समझते थे कि मज़हब किस चिड़िया का नाम है। आजकल अशिक्षित लोग किस प्रकार ईसाई होते हैं उसका एक नमूना लीजिए। बहुत वर्ष हुए पंजाब में दुष्काल था। जालन्धर में छोटे पादरी न्यूटन (Rev. Newton) काम करते थे। वहाँ के सबसे पहले पादरी गोकुलनाथ थे जिनके स्मारक में गिर्जा बनवाने के लिए रुपया जमा था। पादरी न्यूटन साहब ने वह काम जारी कर दिया। जो मसीह पर ईमान लाता उसको ही टोकरी पर रख लिया जाता। मजदूर उधर प्रायः मुसलमान ही होते हैं। एक बप्तिस्मा लिये हुए को "मेट" बनाया हुआ था। वही मुर्ग़े फाँसकर लाता था। फत्तू मुसलमान राईं बेकार बैठा था। उसने मेट से कहा कि मेरा रोज़गार लगवा दो। मेटने समझा दिया कि पादरी साहब के सामने मसीह पर ईमान लाने का इक़रार कर ले तो टोकरी का काम मिल जायगा। फत्तू ने पादरी न्यूटन को सलाम करके अपनी ठेठ पंजाबी में कहा "पादरी साहब ! मैं हसाई होण आया हाँ।" पादरी साहब ने पूछा, "क्या मसीह पर ईमान लाने को तैयार है ?" उत्तर हाँ में मिला। तब पादरी साहब उसकी परीक्षा लेने लगे—

पादरी बोले "मसीह क्यों सलीब पर चढ़ा ?" मेट ने समझा दिया कि पादरी साहब का मतलब है कि "ममीह काहे क्यों चढ़या ?" फत्तू ने उत्तर दिया—"कुछ न्नुनाम्मी कीत्ती होणी है" अर्थात् कुछ अपराध किया होगा। फत्तू की उसी समय गर्दन नापी गई। फत्तू हैरान था कि यह क्या हुआ, रंग में भंग कैसे पड़ा ? मेट ने समझाया कि आगे को पूरी तैयारी करके चलना। तीसरे दिन फत्तू की फिर पेशी हुई और वह काम पर लग गया, परन्तु जब घर में खेती ठीक हो गई तो फत्तू ने "कलमा" पढ़ लिया और अपने परिवार में जा शामिल हुआ। यह एक नमूना है उन कारणों का जो ईसाई पादरियों को अपनी कारगुज़ारी दिखाने में सहायता देते हैं।

काशी के डोम ईसाई होते क्यों हैं ? इसलिए कि ईसाई होते ही उनकी निगरानी पुलिस की ओर से बन्द हो जाती है और उन्हें आर्थिक सहायता मिलती है। दिल्ली प्रान्त के चमार क्यों ईसाई होते हैं ? इसलिए कि उनकी बेगार बन्द

हो जाती है। ईसाई होकर डोम और चमार कुछ बदल नहीं जाते, वही पुराने काम करते हैं। परन्तु पुलिस पर पादरी साहब का दबाव है। पुलिस समझती है कि अपने मत के पुरोहित का हित अंग्रेज आफ़ीसर अवश्य करेंगे। इसलिए वे भी चमारों से बेगार लेने में घबराते हैं। किन्तु वही ईसाई चमार जब आर्य बनकर मद्य-मांसादि के सेवन से मुक्त हो जाता है तो तहसील और पुलिस के सिपाही उन्हें बेगार में लगाने के लिए यमदूतों की तरह आकर चिमट जाते हैं। तब चमार घबरा जाता है और आर्य पुरुषों से फरियाद करता है। वह आशा रखता है कि आर्य पुरुष उसे इस अत्याचार से बचा सकेंगे, और अब ऐसा नहीं होता तो फिर प्रलोभन में फँसकर ईसाई कारिन्दों के हत्ते चढ़ जाता है। ईसाई मिशनरियों और मुक्तिफ़ौजवालों के पास बड़ा भारी हथियार यह है कि वे हमारे हाकिमों के सह-धर्मी और सजातीय हैं। यह सब होते हुए भी हमको काम करना है।

वह काम क्या है? वह काम यह है कि ७ करोड़ के लगभग अछूतों को ईसाई होने से बचावें। प्रश्न होगा कि इसकी आर्य जाति को आवश्यकता क्यों है? उत्तर में कुछ सचाइयों और स्पष्ट घटनाओं को सामने रखना होगा।

अछूतों को ईसाई होने से क्यों बचाया जाय?

आत्मा की आवाज़ सुनकर जो हिन्दू पहले-पहल ईसाई हुए वे कलकत्ता में डॉक्टर डफ़ के प्रभाव में आकर अपने परिवारों से जुदा हुए थे, इसीलिए वे ईसाई होकर अंग्रेज नहीं बने थे, प्रत्युत अपने रहन-सहन में हिन्दोस्तानी ही बने रहे। रेवरेण्ड लालबिहारी देव तथा बाबू कालीचरण बेनर्जी ने कभी हैट नहीं पहनी और अपने बड़ों की चाल-ढाल को नहीं छोड़ा था। यदि उनके समय में ऋषि दयानन्द का वैदिकनाद सुनाई देता तो वे, शायद, ईसाई बनते ही नहीं। जालन्धर के गोकुलनाथ और दिल्ली के रामचन्द्र और चन्दूलालादि की भी यही अवस्था थी। जब सन् १९०० ई० के आरम्भ में गुरुकुल के आरम्भिक व्यय के लिए धन एकत्र करते-करते मैं लाहौर पहुँचकर बहुत दिनों ठहरा तो एक रात मुझे नींद से जगाकर मास्टर चन्दूलाल जी मिले और गुरुकुल के लिए २० रु० का नोट देकर उन्होंने कहा था कि यदि हो सके तो आनेवाली नस्लों को भोगजीवी बनने से बचाया जावे। वे पहले हिन्दू द्विजों में से निकलकर धर्म की प्यास बुझाने के लिए ईसाई हुए थे; परन्तु अब तो जो भी ईसाई होते हैं वे अपनी सामाजिक तथा आर्थिक दशा के सुधार और उन्नत करने के लिए मत-परिवर्त्तन करते हैं।

मैं बीसियों ईसाइयों को जानता हूँ जो वैदिक धर्म की शरण में आना चाहते हैं। परन्तु उनके मार्ग में एक ही रुकावट है। ईसाई रहकर वे वालण्टियर फौज में भरती हो सकते हैं और बहुत-से अन्य अधिकार उन्हें प्राप्त हैं जो आर्यसमाज में प्रवेश करने से छिन जाएँगे। यह तो हाल पढ़े-लिखे सभ्य ईसाइयों का है।

परन्तु अनपढ़ों की दशा और ही है और उनसे भी बढ़कर अछूतों की। उनमें से यदि किसी जाति (जैसे डोम, चंगड़ इत्यादिक) पर पुलिस की निगरानी है तो ईसाई होते ही पुलिस उनकी तरफ आँख उठाकर नहीं देखती। यदि चमारों आदि से बेगार का काम लिया जाता है, तो भी ईसाई होते ही उनको वह गीदड़वाला परवाना मिल जाता है जिसे देखते ही पुलिस के भूत भाग जाते हैं और तहसील के दूत मुँह की खाते हैं।

यह स्पष्ट है कि आजकल सच्चे धर्म की तलाश में भटकते हुए तो शायद एक हज़ार में से कोई एक ईसाई होता है, शेष ९९९ तो सामाजिक अधिकारों तथा आर्थिक उन्नतियों की प्राप्ति के लिए ही बप्तिस्मा लेते हैं। तब ऐसे नव-ईसाई मत-परिवर्तन करते ही साहब लोग बन जाते हैं। वे अपने-आपको इंगलिस्तान के ख़ास फर्जन्द-अर्जमन्द समझते हैं और अपने-आपको भारतीय राष्ट्र का एक भाग समझने के स्थान मे उनकी शासक-कोटि में प्रवेश के स्वप्न देखते हैं। यदि ये लोग सरल-स्वच्छ भाव से धर्म की तलाश में ईसाई होते तो उनको समझाने के लिए भी दूसरे प्रकार के सीधे मार्ग का अवलम्बन किया जाता। परन्तु जहाँ विशेष कठिनाइयों से छूटने के लिए हमारे लाखों भाई हमसे जुदा होते हैं, तो उनकी रक्षा के लिए अन्य यत्न ही करना पड़ेगा। यदि भारतवर्ष के ७ करोड़ अछूत नर-नारी द्विजों के बर्ताव से तंग आकर ईसाई हो जायँगे तो फिर स्वराज्यवादी सनातनधर्मी लीडरों को सिवाय पछताने के कुछ हाथ न आएगा। मुझे बतलाया गया था कि प्रयाग के गत कुम्भ पर श्रीमान् पण्डित मदनमोहन मालवीय जी ने डोमों को धर्मोपदेश दिया तथा स्वयं उनमे हलवा बाँटा था। यह अच्छा ही किया गया, परन्तु अब इतने से शान्ति नहीं हो सकती। जबतक अपने इन शूद्र भाइयों को अपना ही अंग समझकर इनके साथ सद्व्यवहार न किया जायगा तबतक आर्य जाति को राजनैतिक दौड़ में जान के लाले ही पड़े रहेंगे। यह काम सनातन धर्माभिमानी हिन्दुओं से नहीं हो सकेगा। इसके लिए आर्यसमाजियों ने ही पहले भी परिश्रम किया है और अब भी वे ही इस कठिन बोझ को उठा सकेंगे।

दिल्ली प्रान्त के चमारों की रक्षा कैसे हो ?

दिल्ली का सूबा अब बहुत छोटा रह गया है। उसका क्षेत्रफल एक तहसील के रकबे से भी कम है। परन्तु दिल्ली के ईसाई मिशन का काम गुड़गाँव, करनाल, रोहतकादि, आस-पास के जिलों में भी हो रहा है। इन स्थानों के चमार क्यों ईसाई होते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में ही उनकी रक्षा का प्रश्न भी हल हो जायगा।

(१) पहला कारण इनके ईसाई होने का यह है कि समय की लहर में पड़कर ये लोग भी चाहते हैं कि इनकी सन्तान पढ़-लिख जाय। हिन्दुओं के अत्याचार

के कारण साधारण स्कूलों में इनकी सन्तान को पढ़ने का अवसर नहीं दिया जाता। ईसाई जहाँ जाते हैं झट स्कूल खोल देते हैं। आर्यसमाज ने जब से चमारों को शुद्ध करने का कार्य आरम्भ किया है तब से कोई ४५० के लगभग चमार शुद्ध हो चुके हैं। परन्तु पाठशालाएँ केवल ५ तो दिल्ली शहर के विविध प्रान्तों में और एक तुग़लकाबाद तथा दूसरी फरीदाबाद में, कुल सात खुल सकी हैं। आर्य भाई पुरुषार्थ से काम करते हैं परन्तु धनाभाव से अधिक काम नहीं कर सकते। मेरा खयाल यह है कि यदि ५००० रु० वार्षिक आय के लिए एक लाख रुपयों के स्थिर कोष का प्रबन्ध हो जाय और २५००० रु० नकद पाठशालाओं की इमारतों आदि के लिए मिल जाय तो ३५ पाठशालाएँ बड़ी सुगमता से चल सकती हैं जिनमें लगभग १५०० लड़के-लड़कियाँ शिक्षा पा सकते हैं। जहाँ तक मैंने छान-बीन की है ये लोग अपने पास से भी बहुत-कुछ व्यय करने को तैयार हैं।

(२) जो ईसाई चमार आर्यसमाज में प्रविष्ट होते हैं उनको ईसाई कारिन्दा पुलिस के साथ मिलकर फिर से बेगार में धरवाने लग जाता है। आवश्यकता है कि आर्यसमाजी बने हुओं को ही नहीं, प्रत्युत सारे चमार कारीगरों को बेगार से मुक्त कराया जावे। जहाँ तक मुझे ज्ञान है पंजाब के लाट साहबों ने कई बार बेगार के विरुद्ध घोषणापत्र निकाले हैं; परन्तु तहसील और पुलिस इस कुप्रथा को बन्द नहीं होने देती। मैं इस काम में स्वयं अपने चमार भाइयों की सहायता करना चाहता हूँ। यदि २००० रु० मुकद्दमों की पैरवी के लिए जमा कर दिया जावे तो चमार लोगों को बेगार उठाने से रोक दिया जा सकता है और यदि पुलिस उनपर मुकद्दमे उठवाये वा जब्र करे तो वकीलों द्वारा उनकी रक्षा के लिए मुकद्दमों की पैरवी कराई जा सकती है।

(३) आर्य पुरुषों को चाहिए कि शुद्ध हुए सज्जनों को चमार न समझें। जब तक वे ऊपर नहीं चढ़ें तब तक भी शूद्र तो वे हैं ही और इसलिए उनके हाथ से लेकर खाने-पीने में परहेज नहीं होना चाहिए। चमड़े का व्यापार तथा व्यवसाय तो आजकल के द्विज भी करते हैं, परन्तु उनसे कुछ परहेज नहीं किया जाता। हाँ, इनको शुद्धताई से रहना सिखलाना चाहिए। इसके लिए पाठशालाओं के अध्यापकों से काम लिया जा सकता है और वे ही धर्म की क्रियात्मक शिक्षा भी उन्हें दे सकते हैं। दिल्ली में परमेश्वर की कृपा से, जहाँ आर्यसमाज के सभासद **लाला ज्ञानचन्द जी, मा० काशीराम, लाला बेणीप्रसाद आदिक** अछूतोद्धार करने के लिए बड़ा पुरुषार्थ करनेवाले विद्यमान हैं वहाँ **डॉक्टर सुखदेव जी** इस पवित्र काम के लिए शेष जीवन अर्पण करने को तैयार हैं। ऐसे उत्साही सज्जनों की सहायता के लिए मैं भी बहुत-सा समय देने को तैयार हूँ। जो सज्जन धर्म और देश के हित के लिए दिल्ली और उसके आसपास के ३५ या ४० हजार अछूतों को जाति का दृढ़ अंग बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि धन से और तन से इस पवित्र काम में सहायता दें। इससे बढ़कर अश्वमेध आजकल और क्या हो सकता है ?

निवेदक—

श्रद्धानन्द संन्यासी

मुक्ति सोपान

प्रथम सोपान

(१)
हृदयेश्वर ! चारों ओर से हृदय पवित्र करो

ओ३म्। त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधिभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥
—(ऋ० २।१।१)

संसार की ठोकरों से पीड़ित मनुष्य, जीवनरूपी मार्ग का पथिक, व्याकुल होकर श्रम दूर करने के लिए मार्ग के मध्य में ठहर गया है। खड़ा नहीं हो सकता; बैठता है तो आराम नहीं, लेटता है तो चैन नहीं। अन्दर से ऐसी ज्वाला भभक-भभककर उठती है कि दम नहीं लेने देती। पथिक फिर चल देता है। आँखें फिर रूप के अन्दर खिंची चली जाती हैं। कान फिर शब्दों के दास बन रहे हैं। पग-पग पर फिर ठोकरें लग रही हैं। पथिक की बड़ी दीन, शोचनीय दशा है। हाँ, इस नरक-धाम से किस प्रकार छुटकारा हो? नगर को छोड़कर ग्राम का आश्रय लिया, ग्राम को छोड़कर जंगल की राह ली, किन्तु क्या दग्ध हृदय शान्त हुआ? अन्दर से दुर्गन्ध की आँधी-सी उठ रही है और तड़फा रही है। अन्दर शान्ति मिलते न देखकर फिर वहिर्मुख होता है। वहाँ अनगिनत पथिक चले जाते दिखाई देते हैं। कोई काँप रहा है, कोई लकड़ी के सहारे चल रहा है, कोई चिन्ता में निमग्न जा रहा है, चेहरे अपने से ज्यादह पीले पड़े हुए देखता है। कुछ समय के लिए शान्ति-सी प्रतीत होती है। सामूहिक दुःख भी, दुःखी-से-दुःखी आत्मा को एक पल के लिए तो शान्त कर ही देता है। इसी प्रकार की शान्ति इस पथिक के हृदय में होती है।

अब तमोगुण का पूरा राज्य हो गया है; रज का चिह्न भी बाकी नहीं रहा। जैसे कीड़े दुर्गन्ध में मस्त होते हैं उसी प्रकार की मस्ती पथिक में भी आ गई है। किन्तु अभी तक मरा नहीं; सिसक रहा है, हाथ-पैर भी हिल रहे हैं, कुछ जान अभी बाकी है। कान अभी बहरे नहीं हुए। अकस्मात् एक चमत्कार-सा दिखाई देता है। आँखें पूरी खोलता है तो सामने दिव्य, शान्त मूर्ति खड़ी है। वह चन्द्र-समान शीतल कान्ति, दग्ध हृदय को एक पल में शान्त कर देती है। पथिक उठकर

चरणों में सिर नवाता है और महात्मा करुणा-रस में सने स्वर में कहते हैं—

"हे ज्ञान के भण्डार ! सर्व प्रकाशों से तुम, वेगवान् वायु से तुम, जलों से तुम, पर्वतों के शिखरों से तुम, जंगलों से तुम, ओषधियों से तुम—हे मनुष्यों के पालक! तुम मनुष्यों में पवित्रता उत्पन्न करते हो।"

अमृत का पान करता-करता पथिक गाढ़ निद्रा के आनन्द में मग्न हो जाता है। श्रमरहित होकर जब आँखें खोलता है, तो महात्मा का कुछ पता नहीं; किन्तु उसके हृदय में कुछ उदासीनता नहीं आती। महात्मा का भौतिक शरीर सामने न देखकर भी उनके आत्मा को अन्तःकरण से अनुभव करता है। वही प्रकाशमय रूप जो हृदय के अन्दर काम की भट्टी जला देते थे, आँखों और अन्तःकरण के मलों को दूर कर रहे हैं। जिस सुन्दर रूप में नरक का दृश्य देखता था उसमें अब दैवीय सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि उसमें जगन्माता का प्रकाशस्वरूप दीख रहा है। जिस शब्द की आँधी से हृदय में हलचल मच रही थी उसमें उसी जगज्जननी का संशोधक वेग प्रतीत हो रहा है। जिस ईश के दासत्व में शरीर और मन को नष्ट कर बैठे थे, उसकी पवित्र धारा अन्दर से सब मलों को दूर कर रही है। जो पर्वत-शिखर भोग के लिए उचित स्थान समझे जाकर मद्य-मांस तथा व्यभिचार के प्रलोभनों में फँसा, जीवित मनुष्यों को मुर्दा बना रहे थे, वे सब अपनी स्वच्छ शोभा से पापकर्मों से घृणा दिलाकर अपनी स्वच्छ वायु की गोद में लोरियाँ दे रहे हैं। जिन जंगलों में हिंसक पशुओं के घोर नाद हृदयों को दहलाते थे, उनके एक-एक पत्ते से प्रेम-वर्षा की धारा बरस रही है। जिन ओषधियों को सड़ाकर मनुष्य पागल हो रहे थे, उनकी सुगंध नासिकाओं को आह्लादित कर रही है।

कैसा आश्चर्यजनक भेद ! क्या था और क्या हो गया ! जीवन-यात्रा के पथिक ! अपने पथ-प्रदर्शक को भूलकर तूने अपनी कैसी दुर्दशा कर ली ? अभी सँभलने का समय है। नहीं-नहीं, सँभलने का तो सदैव समय है। हम अपनी कुटिलता से कितनी बार उस प्रेम, उस पवित्रता, उस प्रकाश के स्रोत से अलग होने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु क्या इतनी ही बार हमारे कुटिलता से खड़े किये हुए बन्धन को छिन्न-भिन्न करके वह अमृत का स्रोत हमें आनन्ददायक नहीं करता रहा ? पथिक, निराश मत हो ! शुद्धस्वरूप प्रकाशमय पिता, संसार की एक-एक घटना में शुद्धि का संचार कर रहे हैं। चाहे हम उन्हें छोड़ क्यों न दें, परन्तु वह हमें कभी नहीं त्यागते। तब भय को त्यागकर उसी की प्रेमभरी गोद में क्यों न चलें !

(२)

अपने चेतन स्वरूप को मत भूलो

ओ३म् । न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ।।
अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ।।

--(ऋ० १ । १६४ । ३७-३८)

"ठीक जैसा हूँ वैसा नहीं जानता कि यह मैं हूँ, (किन्तु) विचार से ठीक बँधा हुआ (जब) अन्तर्निहित विचारता हूँ (तब पता लगता है कि) जब पहले प्रकाशित हुए पंचभूत मुझ जीवात्मा को प्राप्त हुए, उसके पीछे ही मैं सत्यज्ञान और (उस सत्यज्ञान को दूसरों तक पहुँचानेवाली) इस वाणीरूपी भाग को प्राप्त होता हूँ।

मैं क्या हूँ ? यह प्रश्नसृष्टि के आदिकाल में जैसा आकाश में गूंज उठा था, वैसा ही आज भी वायुमण्डल में भरपूर हो रहा है। सब-कुछ मेरे लिए ही है, मैं सर्वोपरि हूँ, मैं ही सृष्टि का स्वामी हूँ। इस प्रकार की अन्धी लहर किस हृदय के अन्दर नहीं उठ चुकी ? किन्तु क्या इस लहर में बहे जाते हुए, कभी यह भी विचार किया है कि मैं वास्तव में क्या हूँ ? जब यह विचार उत्पन्न होता है तभी तो अन्दर की आँखों के पट खुलते हैं और मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को देखने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार वल से फेंकी हुई लहरें सामने टक्कर लगने पर एकदम पीछे हटकर गिर पड़ती हैं, वैसे ही मनुष्यों को विचाररूपी लहर की एक प्रबल टक्कर लगती है। इतिहास-प्रसिद्ध आंगल राजा की तरह जब वह उन्मत्त होकर जलवायु तक को शासन की धमकी देने लगता है, तब इन दैवी शक्तियों से पटखनी खाकर कहीं-का-कहीं जा गिरता है। अब न वह ऊर्ध्वारोहण है, और न आकाश की सैर, अब पाताल की सुध लेने जा रहा है। कहाँ चला गया ? कहाँ तेज और कहाँ मैं ? मिट्टी का जब मैं हूँ तब मिट्टी में ही आनन्द ढूँढूँ।

पंच भूतों का शरीर प्राप्त करके ही तो मैं मन और वाणी का स्वामी बना। तब यही मेरे स्वामी हैं। इनका हो रहूँगा तो आनन्द मिलेगा। यह आकाश में उड़ना अब दूर हो गया। मिट्टी में लथपथ होकर मिट्टी बन गया। जब भौतिक जगत् को सर्वथा स्वप्नवत् जानता था, जब अपने-आपको सर्वोपरि समझता था, तब एक प्रकार का आह्लाद था, तब कोई बलात् नीचे तो नहीं धकेल रहा था। किन्तु अब तो बोझ के मारे दब रहा है। उठ सकता नहीं; 'अपने-आपको जड़ का बना समझकर चेतनता को जवाब दे बैठा है। देखते हुए भी नहीं देखता है, सुनते हुए भी नहीं सुनता है, जीते हुए भी अपने को धोखा दे बैठा है। अपने-

आपको भौतिक समझता हुआ जिधर भौतिक भोग ले जाते हैं, उधर ही चल देता है। अन्दरवाला अपने स्वरूप को कभी-कभी समझने लगता है, उसे चेतना का भ्रम-सा होने लगता है, परन्तु भोगरूपी जादू की छड़ी फिर सिर पर घूम जाती है और वह उसी के इशारे पर उल्टा-सीधा होता हुआ विविध प्रकार की बोलियाँ बोलने लगता है। हा ! मरणधर्मा शरीर के साथ मिलकर अमर की कैसी शोचनीय दशा हो गई है ? ऐसे विकट समय में भगवती श्रुति मधुर स्वर से कैसा शान्तिदायक उपदेश देती है। "अन्नादि भोग पदार्थों से उल्टा-सीधा हुआ मरण-धर्मरहित जीवात्मा मरण-धर्मसहित शरीरादि के साथ एक स्थानवाला हो रहा है। इन दोनों के मिलाप का ही परिणाम गति और अनेक प्रकार की क्रिया करना है। एक (इस रहस्य) को निरन्तर जानते और दूसरे नहीं जानते है।"[३८]

मुर्दा क्या जान सकता है ? सजीव मनुष्य ही सब-कुछ जान सकता है। अविद्वान् उड़ेगा तो उड़ता ही रहेगा और यदि गिरेगा तो कीचड़ में लथपथ होकर सड़ाँद का कीड़ा हो जाएगा। किन्तु विद्वान् जानता है कि वह क्या है। वह अपने स्वरूप को पहचानता है। वह जानता है कि पंचभौतिक शरीररूपी साधन को लेकर ही वह इस जगत् में अपना उद्देश्य पूर्ण करने के लिए आया है किन्तु साथ ही वह भली प्रकार अनुभव करता है कि वह जड़ नहीं है। प्रकृति के साथ जिस प्रकार परमपुरुष का मेल सनातन है, उसी प्रकार जीवात्मा का सम्बन्ध भी प्राकृतिक जगत् के साथ सदा रहता है। इसलिए प्रकृति को सर्वथा भुलाकर वह अपने स्वरूप को ही भूल जाता है, जिसका परिणाम दुःख होता है। भौतिक शरीर रखते हुए जिन भूले-भटकों ने इन्द्रियों को भोगों से सर्वथा जुदा रक्खा उन्होंने ठोकरें खाईं। रुकावट सामने आने पर, जब उनकी इच्छाओं को पलटा मिला तो वे दूसरी सीमा पर पहुँचकर नियमों के ही दास हो गए। उन्होंने सर्वथा भुला दिया कि वे अमर हैं और आत्मा हैं। इसलिए श्रुति ने स्थान-स्थान पर समता की अवस्था स्थिर करने का उपदेश दिया है। वेद का उपदेश सर्वकाल में स्मरण रखने योग्य है। भौतिक शरीर को भौतिक भोजन की जितनी आवश्यकता है, उससे बढ़कर मानसिक शरीर को आत्मिक भोजन की आवश्यकता है। इसलिए, हे आत्मा के स्वामी और ज्ञान के भंडारी ! अपने निज रूप को हम प्रकाशहीन दीनों के लिए प्रकाशित करो जिससे हम आपके प्रकाशरूपी दर्पण में अपने स्वरूप को देखकर उसकी वास्तविक उन्नति का प्रयत्न करते रहें।

(३)

श्रद्धा ही तरनतारन है

ओ३म्। कस्तमिन्द्र त्वावसुमा मर्त्यो दधर्षति।
श्रद्धा इत्ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥

—(ऋ० ७।३२।१४)

"हे सबके निवास-स्थान, सबके स्वामी परमात्मन् ! उसको कौन मरणधर्मा (मनुष्य) ग्रहण कर सकता है ? हे सर्वपूज्य ! तेरा ज्ञानी पुरुष ही। (ऊपर उठकर) द्युलोक में श्रद्धा द्वारा ज्ञान में जीवन डालता है।"

यह और **वह** दोनों का ही मेल नैतिक जीवन में अनुभव होता है। संसार को स्वप्नवत् समझनेवाले मनमाने ब्रह्मज्ञानी को भी शारीरिक तथा मानसिक क्लेश, झटका देकर जगा देते हैं। तब पता लगता है कि **यह** और है और **वह** और। **यह** शरीर परिवर्तनशील, नाशवान् और **वह** एकरस, अनादि, अनन्त। आकाश और पाताल का अन्तर है। परन्तु **वह** इन आँखों से दिखाई नहीं देता, इन कानों से सुनाई नहीं देता, इन इन्द्रियों का ग्राह्य नहीं। और ग्राह्य हो भी कैसे सकता है ? जो इन्द्रियों का विषय न हो, जो मन के वश में न आनेवाला हो, जो बुद्धि से भी परे हो, जो सूक्ष्म वस्तुओं से भी अधिक सूक्ष्म हो, उसे कौन मरणधर्मा प्राणी अपनी परिमित बुद्धि की सीमा में बाँध सकता है ?

तब विवश, तपहीन, गिरा हुआ मनुष्य और भी नीचे गिर जाता है। अपनी निर्बलताओं का एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर आश्रय का अभाव देखकर उसे चारों ओर अन्धकार प्रतीत होता है। हाय प्रकाश ! हाय प्रकाश ! यह आर्त्तनाद आकाश में गूँजने लगता है। ऐसी अवस्था में शायद ही कोई विरला तपस्वी हो, जिसका शिर घूमने न लग जाए। एक ओर अन्तःकरण में अपनी निर्बलता, अपनी निस्सहाय अवस्था का प्रत्यक्ष ज्ञान, और दूसरी ओर उस निर्बलता को दूर करनेवाले की आवश्यकता का अनुभव, परन्तु प्रत्यक्ष में उसका अभाव-सा। आँखें चौंधिया जाती हैं, कान बहरे हो जाते हैं, बुद्धि चकरा जाती है, तब व्याकुल जीवात्मा उस आशा के प्रकाश की रेखा को भी भुलाने का प्रयत्न करता है जो प्रकाश की रेखा उसको किसी ज्योतिःस्तंभ का पता दे रही है। उतना प्रकाश भी आँखों को चौंधिया रहा है। तब व्याकुल जीवात्मा हठात् आँखें बन्द कर लेता है।

मूँदीं आँख कतहुँ कोउ नाहीं।

परन्तु अविद्या में ग्रस्त भूल जाता है कि चूहे के आँख मूँदने से क्या बिल्ली से छुटकारा हो सकता है ? आँखें मूँदकर मृत्यु के मुँह में घुसा चला जाता है। भोले मूर्ख ! संसार को भले ही धोखा दे ले, परन्तु सत्य को कौन धोखे में डाल सकता है ? बन्द हुई आँखें भी खुलने लगती हैं। मौत समीप आती है और आँखें प्रयत्न करने पर भी मूँदी नहीं जा सकतीं। यदि मर जाय तब भी तो उसके सम्बन्धी जड़ अवस्था में बल से आँखें बन्द कर देवें, परन्तु वहाँ तो अभी सिसकता पड़ा है। आँखों की पुतलियाँ घूमती हुई, निराशा के स्वरूप में डरावनी मालूम होती हैं।

यह भयानक अवस्था संसार को डाँवाडोल कर देती है। एक का विलाप

सैकड़ों की शान्ति का नाश करने के लिए पर्याप्त है। तो क्या करोड़ों का मानसिक रोना पशु-पक्षी तथा वनस्पति तक के हृदय को न दहलाता होगा ?

यही दीन दशा संसार की देख कर उसका ज्ञान रखनेवाले, उसीका नित्य-दर्शन करनेवाले, तथा उसीमें अपने-आपकी स्थिति समझनेवाले ज्ञानियों के हृदय करुणा रस की मूर्ति बन जाते हैं। तब वे अपने गिरे हुए भाइयों को उठाने के लिए ज्ञान की बाहु पसार देते हैं। भाइयों को उठाने की प्रबल इच्छा भी है, उसके लिए प्रयत्न भी है, किन्तु केवल ज्ञानरूपी बाहु अशक्त सिद्ध होती है। उठने के स्थान में वे गिरे हुए आत्मा, उस ज्ञानरूपी बाहु को खींचने लगते हैं, उस समय देवी सरस्वती का विकास होता है और उसकी प्रदान की हुई श्रद्धारूपी अमृत-धारा का स्रोत खुल जाता है। मरते हुओं को जीवन-आनन्द आ जाता है और वे अपने उठानेवाले ज्ञानी बड़े भाई को स्वयं उठने में सहायता देते हैं और तब भाई-भाई के हाथ-में-हाथ दिये जीवन से भरपूर एक होकर कहते हैं—

श्रुतिमात्ररसः सूक्ष्मः प्रधानः पुरुषेश्वरः।
श्रद्धामात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा॥
श्रद्धाविधिसमायुक्तं कर्म यत्क्रियते नृभिः।
स विशुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते॥

(४)

इस अमर धेनु को कैसे दुहें

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्॥
—(ऋ० १।१६४।२६)

"इस भली प्रकार दुही जानेवाली धेनु को मैं निपुण हाथोंवाला गोधुक् स्वीकार करूँ और उत्तम ऐश्वर्य का देनेवाला हममें इस दोहने की विद्या का सामर्थ्य उत्पन्न करे, जिससे मैं सर्वथा प्रदीप्त प्रताप से प्रकाशित होकर उस विद्या को भली प्रकार कहूँ।"

'धेनु इति वाङ्नाम सु पठितम्' निघण्टु के काण्ड अध्याय २ खण्ड २३ में धेनु को वाणी के अर्थ में लिखा है। यहाँ पर गो, गौः भी वाणी-अर्थ में प्रयुक्त है। दुही जानेवाली वाणी ही है। जब तक ज्ञान, आत्मा और मन के अन्तर्गत ही रहता है, तब तक उसका बाहर प्रचार नहीं हो सकता। ज्ञान का प्रसरण वाणी द्वारा ही होता है। दुग्ध की प्राप्ति के लिए दो बातों की आवश्यकता है, एक गौ सुशीला, सुगमता से दुही जानेवाली हो और दूसरे यह कि दोहनेवाला सुहस्त अर्थात् दोहने में निपुण हो। इसी प्रकार वाणीरूपी धेनु से पूरा लाभ उठाने के लिए पहली आवश्यकता यह है कि ज्ञान का उल्लेख ऐसी भाषा में हो जिसमें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति

सुलभ हो सके और दूसरे, उसमें से तत्त्व निकालनेवाला जिज्ञासु ऐसा निपुण हो कि दूसरों तक उसके भाव को आसानी से पहुँचा सके। वेद स्वयं इस सचाई का प्रमाण है। जहाँ वैदिक भाषा सरल-से-सरल और सब प्रकार के शब्दजाल से मुक्त है, वहाँ उसका आशय सदा ही उच्च रहता है। उस आशय को दूसरों तक पहुँचानेवाला भी यदि सुहस्त, योग्य हो तभी वैदिक सत्य का प्रचार होता है।

धर्मोपदेशक की तरह शिक्षक का पद भी बहुत ऊँचा है। जितना शिक्षक का पद ऊँचा है, उतना ही उस पद तक पहुँचने के लिए तैयारी अधिक करनी पड़ती है। शिक्षक के लिए जीव की तरह, इतना ही पर्याप्त नहीं कि पूर्वयोनि के उत्तम संस्कारों सहित जन्म ले, प्रत्युत कुछ और भी आवश्यकता है। असील-से-असील गाय से शुद्ध, स्वास्थ्यप्रद दूध प्राप्त करने के लिए भी दोहने की विद्या में बड़े परिश्रम की आवश्यकता होती है। तब वेदरूपी ज्ञान को दोहकर मक्खन निकालने के लिए क्या उच्च साधनों की आवश्यकता न होगी? शिक्षक को पहले स्वयं अपने अंग-प्रत्यंगों को वश में करना चाहिए। उसे बनावटी नहीं, अपितु स्वाभाविक नट बनने की आवश्यकता है। इस प्रकार साधन-सम्पन्न होकर ही उसे मैदान में उतरना चाहिए।

साधन-सम्पन्न विद्वान् ही पता लगा सकता है कि सरलता से दुहे जाने पर अमृतमय फल की प्राप्ति किस वाणी से हो सकती है जिसको वह संसार के कल्याणार्थ फैलावे। शिक्षा देने से पूर्व शिक्षक के लिए उचित पाठविधि का निश्चय करने की आवश्यकता है। मेले में सहस्रों गायें बिकने को खड़ी रहती हैं। उनमें कोई सींग मारनेवाली, कोई दूध न देनेवाली और कोई रोग से पीड़ित है। बुद्धिमान् गोधुक् उनमें से किसी को हाथ नहीं लगाता। ज्ञानरूपी गाय की भी यही अवस्था है। शिक्षक किस ज्ञान को प्रचार करने के लिए स्वीकार करें? जिस पुस्तक की भाषा में इन्द्रियों को उकसाने और बुरी कामनाओं को उत्तेजित करने का दुर्गुण है, उन्हें बुद्धिमान् साधन-सम्पन्न शिक्षक अपनी पाठविधि से पहले ही निकाल देगा। जिस वाणी से मनुष्यों में परस्पर द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो, जिन उपन्यासों से कामचेष्टा उत्तेजित हो, जिन तुकबन्दियों से पिघलकर मनुष्य में पशुभाव का प्रवेश हो, उनको शिक्षक पहले त्याग दे। फिर निर्दुग्धा गाय की तरह वाणी भी निस्सार नहीं होनी चाहिए। वेद का एक-एक शब्द अपने अन्दर सार रखता है। वेदानुयायी उपनिषत्कार मुनियों ने एक शब्द भी बिना प्रयोजन के नहीं लिखा। कलियुगी संस्कृतज्ञों ने 'अवच्छेदकावच्छिन्न' के शब्दजाल में फँसाकर आर्य जाति को नास्तिकपन के गढ़े में गिरा दिया। ईश्वर-भक्ति और उपासना से विमुख कराकर इसी शब्दजाल में जीवों को भ्रमयुक्त कर उन्हें ब्रह्म का धोखा दिलाया।

इनके अतिरिक्त जो वाणी मनुष्य में अभिमान तथा आत्मश्लाघा का

कुसंस्कार डालकर उसका सर्वनाश करनेवाली हो, रुग्ण गौ की तरह उससे भी बचना चाहिए। जिस प्रकार दूध के साथ-साथ रुग्ण गौ का विष, दूध पीनेवालों में फैलकर उन सबका नाश करता है, उसी प्रकार विषयुक्त वाणी, सुननेवालों में फैलकर उनका नाश कर देती है।

शिक्षक का पद जितना ऊँचा है, उसके लिए साधन भी उतने ही कठिन हैं। वे साधन कैसे निभ सकें? जीवात्मा की अल्प शक्ति इस बड़े बोझ को उठाने के लिए योग्य नहीं। इसलिए उस महती शक्ति का सहारा लेना चाहिए जिसके आश्रित को क्लेश की कोई भी आँधी डगमगा नहीं सकती। जिसके पास ऐश्वर्य है वह दूसरों को ऐश्वर्यवान् बना सकता है। जिसके पास अपना कुछ नहीं, वह किसी को क्या दे सकता है? नंगी क्या नहावे, क्या निचोड़े? जिन्होंने अपनी अल्पज्ञता को भुलाकर दूसरों की पथ-प्रदर्शकता का बोझ अपने ऊपर लिया, उन्होंने शिष्य का और अपना दोनों का नाश कर लिया। परन्तु जिन्होंने वाणी के स्वामी सर्वज्ञ पिता से ज्ञान लाभ करके जो कुछ भी प्राप्त किया उसे ज्यों-का त्यों शिष्य के आगे रख दिया, उन्होंने अपने शिष्यों का और अपना, दोनों का कल्याण करके जीवन का उद्देश्य पूर्ण किया। शिक्षक को परमात्मा से प्रकाश लेना चाहिए। तब उस प्रकाश से प्रदीप्त होकर वह अपने शिष्यों को प्रकाश दे सकता है। उस समय उसे बल लगाने की आवश्यकता न होगी; उसका जीवन, उसका रोम-रोम स्वयं बोलेगा और बिना परिश्रम के ही शिष्यों के अन्दर विद्यारूपी सूर्य के प्रकाश का संचार होगा। धन्य है वह जाति, और धन्य है वह देश, जहाँ पर इस प्रकार की, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध द्वारा शिक्षा होती है।

(५)
गुरु-शिष्य के वास्तविक मेल से संसार शान्त होता है

ओ३म्। ममत्तु नः परिज्मा वसर्हा ममत्तु वातो अपां वृषण्वान्।
शिशीतमिन्द्रापर्वता युवं नस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः॥

—(ऋ० १। १२२। ३)

"निवास-स्थान बनकर जलता हुआ (अग्नि) आनन्दित करावे, जलों की वर्षा करानेहारा पवन हमको आनन्दित करावे। हे सूर्य और मेघमण्डल के सदृश शिक्षारूपी तेज से हृदय को पवित्र करके ऊपर उठानेवाले शिक्षक तथा शिष्य! (तुम दोनों) हमको तीक्ष्ण बुद्धि से युक्त करो जिससे सब (दिव्य गुणों के निवास करनेवाले) देव हम लोगों को आश्रय देनेवाले हों।"

पहले-पहल संसार के अथाह समुद्र में गिरकर बालक सूर्य के प्रकाश में ही आँखें खोलता है। वह जीवन का अनुभव नहीं करता, जब तक सूर्य भगवान् के दर्शन न हो लें। प्रकाश ही जीवन है। सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाश ने ही धारण किया

हुआ है, प्रकाश ही सबका निवास-स्थान है। सब वस्तु इसी के आश्रय से दिव्य गुणों को बसानेवाली बन रही हैं। एक ओर प्रकाश जहाँ सबका निवास-स्थान है वहाँ दूसरी ओर दिव्य गुणों का बसानेवाला भी है। केवल चेतन मनुष्यों में ही नहीं अपितु जड़ पदार्थों में भी दुर्गुणरूपी अन्धेरा छाया रहता है। जहाँ प्रकाश हो वहाँ अन्धेरा रह नहीं सकता। अग्नि जहाँ एक ओर सारी कार्यप्रकृति को घेर लेती है, वहाँ दूसरी ओर पदार्थों के मैल को जलाकर भस्म भी कर डालती है। इसका ज्वलन्त दृष्टान्त हमारे जीवनों में नित्य दिखाई देता है। कौन-सा स्थान है जहाँ हम अपने प्यारे प्राणपति की ज्योति से जुदा होते हैं? सब स्थानों और सब अवस्थाओं में वही हमारे अंग-संग है। वह हमारा निवास-स्थान, अन्दर-बाहर सब जगह परिपूर्ण हो रहा है। वह 'आदित्य वर्ण' ज्वलन्त प्रकाश है। जहाँ और जब कभी हम ज्योति का साक्षात्कार करते हैं, उसी समय हमारे दुर्गुण जलकर भस्म हो जाते हैं और आनन्द-ही-आनन्द का अनुभव होने लगता है। तप के पश्चात् ही ठीक विश्राम मिलता है। तपाए जाने पर ही स्वर्ण मलरहित होकर चमकता है। आत्मा को भी स्वच्छ करने के लिए तपरूपी अग्नि में प्रवेश की आवश्यकता है।

अग्नि मलों से जल को शुद्ध करके, गिरी हुई अवस्था से उसे ऊपर उठाता है। वही अग्नि वायुरूप होकर मेघ को उचित स्थान पर वर्षाता है। मलों से शुद्ध भूमि जल के ऊपर उठ जाने से व्याकुल हो उठती है। जब तक भूमि पर जल था तब तक मलों में लथपथ हुआ, एक प्रकार की तामस शक्ति दे रहा था, परन्तु जब जल के ऊपर उठ जाने से भूमि मल से मुक्त हो गई तब उसके अन्दर की जलन ने उसे व्याकुल कर दिया। वायु ने मेघमण्डल को हिलाकर वर्षा कराई, जिससे भूमि के सभी चराचर प्राणी तापरहित हो गए। यह अवस्था उन कर्मपरायण आत्माओं की होती है, जिनके हृदय के मल को आस्तिक बुद्धि का तेज स्वच्छ कर देता है। उस समय आत्मा को पाप का ठीक बोध होता है, पाप के बोध से सच्चे अनुताप की उत्पत्ति होती है। इस नीरोगावस्था में मनुष्य बहुत क्लेश अनुभव करता है, परन्तु यह कष्ट देर तक नहीं रहता। जिस ज्योतिस्वरूप पिता ने ज्ञानरूपी जल को, सब मलों से अलग कर ऊपर स्थित किया वही वायुरूप से उस ज्ञानरूपी मेघमण्डल को हिलाकर बरसा देता है। मन, हृदय और आत्मा में सच्चे सुख और शान्ति का संचार करता है।

यही प्रत्यक्ष दृष्टान्त परमपिता ने सांसारिक गुरु-शिष्यों के सामने भी रख दिया है। गुरु तथा धर्मोपदेशक को पहले अग्नि का रूप धारण करना चाहिए। फिर झूठी दया और प्रेम को त्यागकर उसे केवल तेज का आश्रय लेना चाहिए। शिष्य-प्रेम यही है कि उसके अन्दर एक भी मल न रह जाए। उसके दुर्गुणों को नष्ट कर दिया जाये। तब ज्ञान स्वच्छ होकर ऊपर को उठेगा। ज्यों-ज्यों शुद्ध ज्ञान ऊपर उठता जाएगा त्यों-त्यों जिज्ञासु शिष्य का हृदय व्याकुल होता जायेगा।

वे शिष्य भाग्यवान् हैं, जिनके हृदय सच्चे ज्ञान के लिए व्याकुल हो रहे हैं। जब तक शरीर स्वस्थ न हो तब तक ज्ञानरूपी अमृत को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त नहीं होती। उस आचार्य की विद्या, उस आचार्य का सदाचार, उत्तम शिष्य मिलने पर सफल हो सकता है। यह ठीक है कि सत्य विद्या में दान से वृद्धि होती है। जिस समाज में सदाचारी, धर्मात्मा ज्ञानी आचार्य हों और उनसे शिक्षा लेनेवाले श्रद्धा-सम्पन्न स्वच्छहृदय शिष्य हों, उसी समाज का कल्याण होता है। उसी समाज की प्रजा अन्तःकरण से यह प्रार्थना कर सकती है "हे शिक्षक तथा शिष्यगण ! तुम लोगों के संघर्षण से हम लोगों की बुद्धियाँ तीक्ष्ण होंगी। उस तीक्ष्ण बुद्धि की कसौटी पर अपने कर्मों को परखकर जब हम आचरण करेंगे, तब सब देव हमको आश्रय देनेवाले होंगे।"

पृथिवी, जल, वायु और आकाश, इन्द्रियाँ तथा मन सभी शक्ति प्रदान करनेवाले होते हैं, जहाँ ज्ञान और क्रिया के भण्डार ज्योतिःस्वरूप परमात्मा पर विश्वास रखनेवाले गुरु स्वच्छहृदय श्रद्धालु शिष्यों को शिक्षा देते हैं।

(६)
मित्र के एक बार दर्शन करके उसे न भूलो

ओ३म्। श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमोत श्रुतं सदने विश्वतः सीम्। श्रोतु नः श्रोतुरातिः सुश्रोतुः सुक्षेत्रा सिन्धुरद्भिः ॥ —(ऋ० १।१२२।६)

मित्र और वरुण हमें जीवन के पल-पल में अपना परिचय देते हैं। "मेद्यति स्निह्यति वा स मित्रः।" सबसे कौन स्नेह करता है और सब किससे स्नेह करते हैं ? सूर्यास्त के पश्चात् कृष्ण पक्ष में जब घटाटोप अन्धकार छा जाता है, उस समय निर्जन जंगल में भटकते हुए यात्री को किस आशा का सहारा है ? वृक्षों के पत्तों की खड़खड़ाहट और हिंसक पशुओं के क्रूर नाद को सुनकर यदि भटका हुआ पथिक जीता है तो केवल इस आशा पर कि प्रातःकाल होते ही सूर्य का उदय होगा और सब दुःखों का नाश हो जायेगा। कुसंग में फँसकर, विषयों में लिप्त हो जब आत्मा के ज्ञान-चक्षुओं के आगे अन्धकाररूपी पर्दा आ जाता है, तब उस निराशा के समय आत्मा यदि जीता है, तो केवल ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश की आशा पर। जब सारा संसार तिनका तोड़कर किनारा कर जाता है उस समय भी धर्मरूपी सूर्य साथ नहीं छोड़ता। जब अतिवृष्टि के कारण वृक्ष और पौदे मुर्झाने लगते हैं, उस समय सूर्य के उदय होते ही वनस्पतिमात्र आह्लाद में निमग्न हो फिर से लहलहाने लग जाते हैं। निस्सन्देह सूर्य से बढ़कर स्थावर और जंगम जगत् का कोई यदि मित्र है तो सूर्यलोक का भी प्रकाशक हिरण्यगर्भ के सिवाय कोई नहीं।

वही परमात्मा जो अपने आदित्यवत् गुणों से मित्रवत् अप्राणी तथा प्राणीमात्र

(निराश्रयों) का आश्रय है, वही अपने वरुण गुण से सारे ब्रह्माण्ड का राजा है। उसकी आज्ञा में काम करनेवाला, प्राणों तथा अप्राणों का प्रेरक वायु भी भौतिक जगत् का राजा है। धर्मात्मा योगियों को जो स्वीकार करता है और उन धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह **'श्रेष्ठ'** सबका राजा **'वरुण परमात्मा'** है। उसकी आज्ञा में चलता हुआ भौतिक वरुण भी पंचभूतों का राजा है। ऋग्वेद में इसीलिये कहा है—

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा।—२।२७।१०

प्रकाश (अग्नि) के बिना चिरकाल तक निर्वाह हो सकता है, पृथिवी से उत्पन्न हुई वनस्पति के बिना ४० दिनों तक निर्वाह किया जा सकता है, जल के बिना भी ७ दिन तक शायद निर्वाह हो सके, परन्तु प्राण की गति के बिना एक पल भी कठिनता से निर्वाह होता है। **मित्र का साथी और उसका आधार 'वरुण'** निस्सन्देह सबका राजा है।

मित्र और वरुण जब तक अनुकूल न हों, तब तक जीवन-पथ पर चलना कठिन है। मित्र सम्पूर्ण प्रकाश (ज्ञान) का देनेवाला है और वरुण गति देने की शक्ति रखता हुआ सब क्रियाओं का स्रोत है। जिसने मित्र और वरुण का ध्यान अपनी ओर खींच लिया, जिसने इन दोनों को अपने सेवाव्रत से हिला लिया, सारी कृतकार्यता और जीवन की सफलता उसी के लिए है। 'हे **मित्र और वरुण!**' मुझ अच्छे सुननेवाले के इन समर्पित किये वचनों को सुनो। मैं अच्छे सुननेवाला कैसे बना हूँ ?

"अन्तरीय और बाह्य दोनों कानों को तुम्हारी ओर लगाये हुए ही मैंने अपने कानों द्वारा अपनी वाणी का भी संशोधन किया है। मेरे योग्यता सम्पादन कर लेने पर ही तुम मुझे स्वीकार करोगे। तुम दोनों से बढ़कर इस तैयारी के लिए मेरा कौन सहायक हो सकता है ?" ये भाव जब तक मनुष्य में नहीं आते तब तक प्राप्त किया आत्मिक ज्ञान भी स्थिर नहीं हो सकता। जिज्ञासु के लिए यही उचित है कि **'ज्ञान और कर्म' 'प्रकाश और प्राण'** की उपासना से कभी न गिरे। तदनन्तर ही वह यह उत्तम प्रार्थना शुद्ध भाव से कर सकेगा, और सामाजिक व्यवहारों तथा सब एकान्त अवस्थाओं में भी (हे मित्र और वरुण!) हम सबको मर्यादा में स्थिर रखते हुए हमारी प्रार्थना को सुनो। जलों के समुदाय (समुद्र) से जैसे नदी उत्तम क्षेत्र को प्राप्त होती है, इसी प्रकार सारे स्रोतों के स्रोत हे मित्र वरुण! आप हमारे समर्पित भावों को स्वीकार करो।"

जिस प्रकार अथाह समुद्र में बड़े से बड़ा जहाज बिना किसी आश्रय के डाँवाडोल रहता है और उसपर यात्रा करनेवाले मनुष्य संदिग्ध अवस्था में भयभीत रहते हैं, परन्तु जिस प्रकार किनारे पर चमकते ज्योतिःस्तम्भ को देखकर छोटी नौका में बैठे हुए यात्री का भी मन स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार प्रकाशकों के

प्रकाशक और प्राणधारियों के प्राणाधार जगन्नियंता के ज्ञानरूपी प्रकाश के ज्योतिः स्तम्भ की ओर जिनकी टिकटिकी एक बार बँध जाती है, वे सांसारिक ऐश्वर्य और सांसारिक शक्तियों से रहित होते हुए भी स्थिरचित्त होकर डाँवाडोल नहीं होते। पाठकवृन्द ! शरीर, मन और आत्मा की सारी शक्तियों को कुछ काल के लिए ज्योतिःस्तम्भ की ढूंढ में लगा दो। विद्युत् की तरह उसका चमत्कार कई बार तुम्हारे आत्मा को प्रकाशित कर चुका है। वह शुभ घड़ी फिर भी आ सकती है जबकि वह प्रकाश फिर तुम्हारे अन्दर चमक उठे। अबकी बार उस प्रकाश की रेखा के पीछे अपनी दृष्टि को दौड़ा दो। उस असीम मैदान में दृष्टि को एक बार उसके पीछे लगा देने से वह फिर लौटकर नहीं आवेगी और तब आश्चर्य से देखोगे कि अज्ञात दैवीय शक्ति तुम्हारी सहायक होकर उस स्थिर प्रकाश को तुम्हारी दृष्टि से ओझल नहीं होने देगी।

(७)
विशुद्ध उत्तम सन्तान उत्पन्न करो

**ओ३म्। स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्॥**

—(ऋ० १।१६४।१६)

"(जिनके उत्तम गुणों को) विज्ञानवान् पुरुष देखते हैं, जिन्हें (विज्ञानशून्य) मनुष्य नहीं जान सकते, जिनको (सदाचारिणी) सती स्त्रियाँ कहती हैं, उन मेरे पुरुषों को जिनके कवि (तत्त्वज्ञानी) पुत्र उत्पन्न होते हैं, उनको भली प्रकार जानो। वही पिता का पिता होता है, ऐसा तुम जानो।"

परमेश्वर का प्यारा पुत्र कौन है ? जिस पवित्र जनशक्ति से परमेश्वर सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं, वही जनशक्ति उन्होंने मनुष्य को प्रदान की है। जो पुरुष उत्तम तत्त्वज्ञानी (कवि) सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, वही परमेश्वर का प्रिय पुत्र है। जिसका शरीर वीर्यवान् और बलिष्ठ है, जिसका मन शुद्ध संकल्पों का केन्द्र है, जिसकी आत्मा उत्तम गुणों का निवास-स्थान है, उसके वास्तविक स्वरूप को तत्त्वज्ञानी विज्ञानवान् देव ही देख सकते हैं। विज्ञान-शून्य अन्धा, मूर्ख उसको क्या पहचानेगा ? मनुष्य किस प्रकार समझ सकता है कि वह परमेश्वर का पुत्र है ? निस्सन्देह ईश्वर के प्यारों की साक्षी ही इसके लिए प्रमाण हो सकती है। जिसकी लाखों मूर्ख प्रशंसा करें और दूसरी ओर एक सदाचारी धर्मात्मा ज्ञानी उसके आचार को दूषित समझे तो तत्त्वज्ञानी धर्मात्मा की सम्मति ही ठीक है। हे संसार-यात्रा के पथिक ! मूर्खों के व्यंग्य से न डरकर तुम धर्म-मार्ग से च्युत न हो।

धर्मात्मा सदाचारी ईश्वर के प्यारे से ही सती बात करती है। संसार इस

समय अविद्या के गढ़े में पड़ा, जीवन-विद्या को भूला हुआ है, इसलिए विवाह के मुख्य उद्देश्य को नहीं जानता। धन, मान, कीर्ति, विषय-भोगादि के लिए विवाह-सम्बन्ध होते हैं। पितृ-ऋण से उऋण होने के विचार से शायद ही कोई विवाह होता हो। यह शोचनीय अवस्था क्यों है ? इसलिये कि विवाह में स्त्री का महत्त्व कुछ भी नहीं समझा जाता।

प्रभु परमपिता कहते हैं कि मेरा प्यारा पुत्र वह है, जिसे मेरे प्यारे भक्त अपनाते हैं, जिसको सदाचारी धर्मात्मा पुरुष अंगीकार करते हैं। जो पुरुष मूर्खों के व्यंग्य से न डरकर अपने कर्तव्यपालन में लगे रहते हैं, उन शुद्ध शरीर, शुद्ध अन्तःकरण तथा शुद्धात्मा पुरुष को ही साध्वी सती स्त्री प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती है। इन दोनों का ही विशेष प्रकार से सम्बन्ध अर्थात् विवाह हो सकता है और उस सम्बन्ध से कवि उत्पन्न होता है। यह सारगर्भित तत्त्व है। तत्त्ववेत्ता (Genius) बनाये नहीं जाते न बनते हैं, प्रत्युत वे उत्पन्न होते हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध डॉक्टर 'जान बाबन' ने अपनी पुस्तक The Science of a New Life का एक अध्याय इसी विषय के अर्पण किया है। उन्होंने वर्तमान अविद्या के साथ संग्राम करते हुए यह बतलाया है कि यदि गर्भाधान संस्कार से वर्षभर पहले ही माता-पिता कवि-सन्तान उत्पन्न करने का दृढ़ संकल्प कर लें और अपनी प्रबल मानसिक इच्छा को इसी में लगा दें तो इच्छानुसार सन्तान उत्पन्न की जा सकती है। तुकबन्दी करनेवाले का नाम कवि नहीं है, तत्त्वज्ञानी को कवि कहते हैं। किस तत्त्व का ज्ञानी सन्तान हो, यह माता-पिता के अधीन है यदि वे शुद्ध भाव से ईश्वरीय नियमों का पालन करें। परमपिता का मनुष्यमात्र के लिए उपदेश है कि वे अपनी प्यारी प्रजा को पहचानें, क्योंकि जो परमेश्वर का प्यारा है वही पिताओं का भी पिता अर्थात् रक्षक होता है। पिताओं को उनके कर्तव्य से सचेत वही कर सकता है जिसमें स्वयं शुद्ध उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता हो, जिसने गृहस्थाश्रम को आदर्श रूप से दम्पतियों के सामने रक्खा, जिसने अपने आदर्श से गृहस्थियों को दिखाया कि पति-पत्नी का सम्बन्ध विषयभोग में लिप्त होने के लिए नहीं है, जिसने अपने उदाहरण से दिखाया कि सुख विषयों का दास बनने में नहीं, प्रत्युत विषयों को अपना दास बनाने में है, उससे बढ़कर पिताओं का रक्षक और कौन हो सकता है ? परमात्मा का आदेश है कि जो पवित्रता को देख नहीं सकते, जो पवित्र जीवन की श्रेष्ठता को समझ नहीं सकते, उनके लिए संसार में जीवन नहीं है। इस प्रकार के पुरुषों की आँखें खोलने का काम ईश्वर के प्यारे, पवित्रात्मा पुरुष ही कर सकते हैं।

स्त्रियों का बड़ा अधिकार है। यदि वह पति के साथ सम्बन्ध जोड़ने से इन्कार कर दे तो संसार का आधा क्लेश एकदम दूर हो सकता है। आर्य पुरुषो ! यदि तुम ईश्वर-आज्ञा का पालन करते हुए शरीर, मन और आत्मा को शुद्ध करके

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो तो तुम्हारे सहस्रों-लाखों भाई विषयासक्ति के गढ़े से निकलकर परमेश्वर के प्यारे पुत्र बन जायें।

(८)
उसको न मानते हुए भी तुम उसको मानते हो

ओ३म् । यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति । इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ।।

—(ऋ० १।१६४।२१)

"सम्पूर्ण भुवनों (लोक-लोकान्तरों) का पालक, सर्वमण्डल जिसमें स्थित है, जिस विज्ञानमय परमेश्वर में शोभन कर्मवाले जीव (आप्त, धर्मात्मा, विद्वान्) अमृत के अंश (अमर जीवन दिलानेवाले तत्त्वज्ञान वेद) को निरन्तर प्रत्यक्ष करते हैं, (उस परमेश्वर का उपदेश) मुझे वे ही धीर (ध्यानवान्) पुरुष, परिपक्व अवस्था में करें।"

सब लोक-लोकान्तरों को सूर्य ही प्राणशक्ति प्रदान करता है इसीलिये उसे सबका पालक कहते हैं। यह प्राणशक्ति सूर्य ने किससे प्राप्त की ? निस्सन्देह प्राणों के भी प्राण ब्रह्माण्डपति से ही यह प्राणशक्ति सूर्य ने प्राप्त की है। इसलिए शारीरिक जीवन का परम स्रोत परमात्मा ही है। परन्तु शरीर के जीते हुए, शारीरिक सब प्राकृतिक व्यापार करते हुए, नहीं कह सकते कि मनुष्य जीवित है, यदि उसका आत्मा जीवित न हो। जिस प्रकार शरीर के चलते-फिरते रहने और जीवित कहलाने के लिए आवश्यक है कि अन्य भोजन के साथ वह सूर्य की प्राण-प्रदायिनी किरणों को भी अपने अन्दर खींचे, उसी प्रकार आत्मा को जीवित (चेतन अवस्था मे) रखने के लिए मानसिक भोजन के साथ-साथ वैदिक ज्ञान की अमृतमय किरणों से अमर जीवन प्राप्त करने की आवश्यकता है।

जिससे जड़ और चेतन सभी जीवन धारण करते हैं, एकमात्र केवल जो प्राणी और अप्राणी मात्र का आश्रय है, उसकी प्राप्ति की शिक्षा देने का कौन अधिकारी है ? यह कहे नहीं बनता कि इसे परमपिता की प्राप्ति की आवश्यकता है और उसे नहीं। तुम चाहो या न चाहो, उसकी प्राप्ति, उसके सहवास की आवश्यकता सबको है। जब वह घटघट में व्यापक है फिर कहीं ही क्यों न रहो तुम उसे त्याग नहीं सकते और बिना उसके निर्वाह नहीं हो सकता। आँखें मूँदने से क्या अन्दर के भाव ओझल हो सकते हैं ? वह सर्वत्र व्यापक और हमारा प्राणेश्वर है। उससे हम किसी समय भी अलग नहीं हो सकते, कह-कहकर लोगों ने नास्तिक बनके गढ़े में पैर लटका दिये, परन्तु यह कहते हुए भी कि गढ़ा कहीं नहीं, उन्होंने अपने पाँव गढ़े से अलग खींच लिये। मुख द्वारा उससे विमुख होते हुए भी तुम कर्म में उसका आश्रय न छोड़ सके। हे संसार-यात्रा के पथिक ! तुम्हें वहीं जाना है चाहे किसी मार्ग से

पहुँचने का यत्न करो। जो श्रद्धालु भक्तजनों का लक्ष्य है वही श्रद्धाशून्य प्रत्यक्ष-वादियों को भी उपादेय है। अपने-आपको प्रत्यक्षवादी बतलाते हुए भी इन लटके हुओं ने समझा नहीं कि प्रत्यक्ष क्या है। प्रत्यक्ष तो गुणों का होता है, गुणी के तो साक्षात् दर्शन होते नहीं। बाह्य चक्षुओं ने आज तक कभी किसी गुणी के दर्शन नहीं किये। ऊपर से चाहे कितना ही आडम्बर रचो, चाहे तुम्हें झूठी लोकलाज यह स्वीकार करने से रोके परन्तु तुम्हारे अन्दर उत्कण्ठा साक्षात् दर्शन की ही है।

दर्शन क्यों नहीं होते? अभिमान से जिसकी गर्दन उठी हुई हो उसे कभी आज तक प्रकाश के दर्शन नहीं हुए। जिसे कभी सूर्य के दर्शन नहीं हुए, जन्म लेते ही जो अन्धा हो गया, प्रकाश का अनुभव भी न कर पाया था कि आँखें खो बैठा, उसे यदि धन्वन्तरि मिल जायें और उसकी आँखें खोल दें तो उसकी क्या दशा होती है? यदि वह अभिमान से अकड़कर दोपहर को सूर्य की ओर देखता है तो आँखें चौंधिया जाती हैं और शायद वह फिर अन्धा हो जाता है। चिरकाल से बिछड़े प्रकाश के आगे यदि वह श्रद्धा से सिर झुका लेता है और नीची दृष्टि रखकर धीरे-धीरे सूर्य के प्रकाश को सहन करने का अभ्यास करता है, तो जहाँ उसकी आँखें बहुत तेज हो जाती हैं, वहाँ सूर्य के प्रत्यक्ष दर्शन करने की शक्ति भी धारण कर लेती हैं। चक्षुरोग से पीड़ित दो मनुष्यों की अवस्था में भेद क्यों पड़ा? पहले का ऑपरेशन शायद एक नवशिक्षित सर्जन ने किया, जिसे पुस्तक और चीरफाड़ का ज्ञान तो शायद अद्वितीय है परन्तु अनुभव अभी कुछ नहीं। दूसरे का ऑपरेशन अनुभवी चिकित्सक ने किया। उसे मालूम है कि रोग की चिकित्सा करना इतना कठिन नहीं जितना पथ्य का सेवन कराना दुष्कर है। बुद्धिमान् रोगी को अनुभवी चिकित्सक की शरण में ले जाते हैं और बुद्धिमान् रोगी भी ऐसे धन्वन्तरि के शरण में ही जाते हैं।

अविद्यान्धकाररूपी रोग से पीड़ित भाइयो! हमारा रोग समान है। हमें इस रोग से मुक्त होने के लिए क्या ऐसे ही आत्मिक धन्वन्तरि की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं? जिस परमात्मा के अन्दर सूर्यादि लोक स्थित हों, वही अमृतमय वैदिक ज्ञान का आधार है। उसे वेद ही ठीक कहता है इसलिये वेदवित् विप्र के पास ही हमारे अज्ञानान्धकार की ओषधि है। वही आँखों के उस जाले का ऑपरेशन कर सकता है जिसने आत्मिक सूर्य के प्रकाश को देखने से हमें रोका हुआ है। सहस्रों अपनी अवस्था को समझते हैं और चिकित्सा के लिए वैद्य के पास चल देते हैं। बीसियों वेद का पुस्तक खोले बैठे हैं, उन्हें चारों वेद कण्टस्थ हैं, वे अन्वय कर पदार्थ भी लगाते हैं, ठीक भाव को बतलाकर आँखों के पर्दे को गिरा भी देते हैं, ज्ञान-चक्षुओं में देखने की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है, परन्तु आगे कुछ नहीं है। वैद्य को आगे का ज्ञान कुछ नहीं है। ये खुले हुए चक्षु इसी अवस्था में रहेंगे भी या नहीं, इसका ज्ञान नहीं। उपनिषत्कार ऋषि ने लिखा है कि

ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् की सेवा में समित्पाणि उपस्थित होकर प्रश्न करो। वेद का आदेश है कि जिस परमेश्वर में सूर्यादि भौतिक लोकलोकान्तर स्थित हैं और जिसमें आत्मिक सूर्य वेद भी स्थित है उसके दर्शन के लिए उस ब्रह्मवादी की शरण में जाओ, जिसकी साधना द्वारा परिपक्व अवस्था हो चुकी है।

(६)

पवित्र जनशक्ति का दुरुपयोग मत करो

ओ३म्। यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे। तस्ये-दाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥ —(ऋ० १।१६४।२२)

"जिस सारे (कार्य-प्रकृतिरूपी) वृक्ष पर (इन्द्रियों के भोगरूपी) मधु का पान करनेवाले (जीवात्मारूपी सुन्दर पंखों से युक्त पक्षी) स्थिर होते हैं और सन्तान उत्पन्न करते हैं। उसके निर्मल फल को आगे स्वादिष्ट कहते हैं तथा वह (विषय-भोगों में न लिप्त होनेवाला) प्रत्युत इन्द्रियों से काम लेनेवाला प्राणी नष्ट नहीं होता। (परन्तु) जो पुरुष सारे जगत् के पालक परमात्मा को नहीं जानता (वही) नष्ट होता है।"

प्रकृतिरूपी वृक्ष पर जीवरूपी पक्षियों को परमात्मा ने ही बैठाया है। तब यह लोकोक्ति कैसे सच्ची हो सकती है कि गृहस्थ पाप का मूल है? जिस गृहस्थ को इस समय संसार ने विषय-भोग का साधनमात्र समझा हुआ है, जिसको ज्ञानी पुरुष नरकधाम बतलाते हैं, उस गृहस्थ को प्राचीन ऋषि तपोभूमि बतलाया करते थे। गृहस्थ के लिए आज कोई तैयारी आवश्यक नहीं समझी जाती है, परन्तु प्राचीनकाल में गृहस्थ के लिए कम-से-कम २४ वर्ष की आयु तक तप किया जाता था। आज समझदार आदमी गृहस्थ में प्रवेश करते हुए डरते हैं, परन्तु वेद में परमात्मा गृहस्थ को आज्ञा देते हैं—

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वम्। (यजु०)

हे गृहस्थ लोगो! तुम मत डरो, कम्पायमान मत हो! काँपनेवाले का गृहस्थ में प्रवेश से क्या काम? मनु भगवान् कहते हैं—

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ ३।७९

हे गृहस्थ-दम्पती! यदि तुम अक्षय स्वर्ग (मुक्ति-सुख) और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो जो दुर्बलेन्द्रियों के धारण करने के योग्य नहीं है इस प्रकार के गृहस्थ आश्रम को नित्य प्रयत्न से धारण करो।

मनु तथा अन्य सब ऋषियों ने गृहस्थ करना मनुष्य के लिए आवश्यक बतलाकर पितृऋण से उऋण होने का आदेश दिया है और उन्होंने वेदाज्ञा को आधारभूत माना है। जिसको परमात्मा की पवित्राज्ञा ने अपनाया हो, उसे कौन अपवित्र

कह सकता है ? न प्रकृति अपवित्र है न जीवात्मा । मनुष्य के कर्म ही उन्हें पवित्र और अपवित्र बना देते हैं। जो सज्जन गृहस्थ-प्रवेश कर केवल सन्तानोत्पत्ति और उसकी रक्षा के लिए ही इन्द्रियों को काम में लाते हैं, उन्हें संसार-वृक्ष पर बैठे हुए उत्तम तथा स्वादिष्ट फल प्राप्त होते हैं। इसीलिये मनु ने गृहस्थ को ज्येष्ठाश्रम कहा है। शेष सब आश्रमों का यही आश्रय है। यदि गृहस्थ उत्तम सन्तान उत्पन्न करेंगे तो ब्रह्मचर्याश्रमों को योग्य, उत्तम, संस्कृत ब्रह्मचारी मिलेंगे। यदि अपने आश्रम में गृहस्थ दम्पती धर्मानुसार जीवन व्यतीत करेंगे तो उत्तम ज्ञानी गुरुकुलों में पढ़ाने और योगाभ्यास द्वारा संन्यासाश्रम में प्रवेश की तैयारी भली प्रकार कर सकेंगे और आयु के चौथे भाग में संन्यासी हो निर्भयता और निष्पक्ष भाव से मानव-धर्म का प्रचार कर सकेंगे।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।। ३।७८

जिस प्रकार वायु के आश्रय से ही सब जीवों का जीवन-व्यवहार सिद्ध होता है उसी प्रकार गृहस्थ के आश्रम से सब आश्रमों का जीवन-व्यवहार होता है। गृहस्थ ही सब आश्रमों का स्रोत है और अन्त को गृहस्थ में ही सब आश्रम स्थित भी हुआ करते हैं। इसीलिये मनु जी महाराज कहते हैं—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।। ६।९०

जिस प्रकार बड़ी-बड़ी नदियाँ और नद समुद्र में पहुँचकर स्थित होते हैं, उसी प्रकार सब आश्रमी गृहस्थ को ही प्राप्त होकर स्थित होते हैं।

गृहस्थाश्रम पवित्र है क्योंकि शुद्धस्वरूप परमात्मा का निर्माण किया हुआ है। प्रकृतिरूपी वृक्ष पर जीवात्मा को परमात्मा ने ही बैठाया है। इसे इन्द्रियों द्वारा ज्ञानोपलब्धि और कर्म करने की शक्ति भी उसी प्रभु ने प्रदान की है। इस वृक्ष के निर्मल फल भी उसी परमात्मा की कृपा से स्वादिष्ट होते हैं। इस प्रकार सदाचार से गृहस्थ-जीवन व्यतीत करके जो नियमपूर्वक संतान उत्पन्न की जाती है, वही निर्मल और जन्मदाता माता-पिता के लिए स्वादिष्ट फल होता है।

नास्तिक और संशयी हृदय, परमेश्वर और उसके नियमों का विद्रोही कहता है कि जब दुराचारी और नियम तोड़नेवाला भी संतान उत्पन्न कर सकता है, तो फिर परमेश्वर की क्या आवश्यकता है? उत्तर मिलता है कि जो आस्तिक मनुष्य ईश्वराज्ञा पालन करता हुआ सुन्दर शरीर और इन्द्रिय और आत्मा रखने वाला संतान उत्पन्न करता है वह नष्ट नहीं होता, गिरता नहीं, उसकी सन्तान चिरंजीवी होती है। उसके कर्मों का फल निर्मल स्वादिष्ट होता है। जो अधर्मी परमात्मा के नियमों से विमुख हो सन्तान उत्पन्न कर देता है, उसे न स्वयं सन्तान से सुख पहुँचता है और न ही उसकी सन्तान सुखी रहती है। सम्पूर्ण जगत् के

पालक परमात्मा को न जानते, न मानते हुए जिसने नियमविरुद्ध कार्य कर प्रकृति के भोगों को भोगना प्रारम्भ किया, उनकी दशा उसी पक्षी की तरह है जो सुन्दर फलदार वृक्ष पर घोंसला बनाकर भी नहीं जानता कि किस ऋतु में फल पकता है और वह किस प्रकार खाया जाता है। इस प्रकार का पक्षी अपक्व फल को खा, बीमार हो, काँटों में फँसकर नष्ट हो जाता है।

आकाश में उड़ उच्च शिखर पर पहुँचने के अभिलाषी हे पक्षीगण ! उच्च शिखर पर दृष्टि रखते हुए आकाश-मण्डल को पार करते चले जाओ, मार्ग में पीछे फिरकर न देखो, क्योंकि उस उच्च ज्योतिःस्तम्भ का प्रकाश आँख से ओझल होते ही ऐसे स्थान में गिर जाओगे जहाँ से उठना चिरकाल के लिए कठिन हो जायेगा।

(१०)
चौथे पद में परम शान्ति है

ओ३म् । जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ।।

—(ऋ० १।१६४।२५)

'जो (जगदीश्वर) संसार के साथ समुद्र को और अन्तरिक्ष में प्रकाश को दृढ़ करता है और सब ओर से देखता है उसे गायत्री की तीन समिधायें कहती हैं। वह बड़े प्रशंसनीय भाव से उन (तीनों समिधाओं) से भी अलग समझा जाता है।''

गायत्री यज्ञ की तीन समिधायें ही उस तक पहुँचानेवाली हैं, क्योंकि वे ही उसके स्वरूप का ठीक वर्णन कर सकती हैं। उन्हें कैसे अनुभूत किया जाता है? अशक्त जीवात्मा जब संसार की ठोकरें खाकर चारों ओर से निराश हो व्याकुल अवस्था में तड़फने लगता है और उसका दम घुटने लगता है, उस समय कोई अदृश्य दैवीय शक्ति उसे ढारस देती है। गये प्राण बल से अधिक पुष्ट होकर लौटते हैं।

''**भूरिति वै प्राणः**'' प्राणों का भी प्राण वही चराचर जगत् को धारण करता है। डाँवाडोल हृदय इस प्रकार ढारस बाँधकर देखता है कि आश्रय मिलते ही दुःख दूर हो गये।

'**भुवरित्यपानः**' दुःखों से रहित होने के कारण वह प्राणी को अपनी ओर खेंचते ही दुःखरहित कर देता है। **स्वरितिव्यानः** तब व्यान के साथ, परमेश्वर के समान व्यापक, ईश्वर के साथ लगकर जीवात्मा स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यही सुखविशेष की वह अवस्था है, जो सुखस्वरूप के सहवास में मिलती है।

गायत्रीरूपी ज्ञान बतलाता है कि सारे ब्रह्माण्ड में ज्ञानरूपी यज्ञ हो रहा है। उस यज्ञ की पहली समिधा के यज्ञकुण्ड में प्रवेश करते ही जीवात्मा को

स्थिति मिलती है। तब उसे सन्देहरहित होकर उस महती शक्ति के दर्शन करने का अवसर प्राप्त होता है जिसके आश्रय से वह स्वयं दुःखों से अलग हुआ है। वह देखता है—**सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य**' जिस ऐश्वर्यवान् जगदुत्पादक प्रकाशमय का अतिश्रेष्ठ स्वरूप है—'**तत् धीमहि**' उसी शुद्ध स्वरूप को धारण करें। ब्रह्मयज्ञ के ज्ञानमय प्रज्वलित कुण्ड में श्रद्धालु उपासक की ओर से यह दूसरी समिधा की भेंट है। इस भेंट के समर्पित करते ही ज्वाला प्रचण्ड होती है और तब जिज्ञासु के हृदय से शब्द यह निकलते हैं—**धियो यो नः प्रचोदयात्**' (हम उस शुद्ध स्वरूप के दर्शन कर रहे हैं) जो हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रेरित करता है।

पृथिवी और आकाश दोनों के सम्बन्ध को दृढ़ करनेवाला वही है। इसीलिए तो उसके भक्त किसी भी सांसारिक शक्ति से भयभीत नहीं होते। समुद्र की उठती हुई लहरों को देखकर अनजान मनुष्य यही समझ लेता है कि वे मुँह बाये उसको निगल जाने के लिए आ रही हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष उनके तत्त्व को जानता हुआ, उन्हीं लहरों को अपना दास बना लेता है और उनकी सहायता से सहस्रों मीलों की यात्रा शीघ्र तै करके अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाता है। यदि समुद्र किसी नियम में ग्रथित न होता तो पृथिवी पर फैलकर सब प्राणधारियों को दबा लेता। परन्तु नियन्ता के नियमों से बँधा हुआ, पृथिवी पर दृढ़ होकर उसको बड़ा लाभ पहुँचा रहा है।

जिस प्रकाश पर संसार का जीवन है और जिसके नाना तत्त्वों के सौन्दर्य से आकाश की शोभा है, यदि वह छलावे की तरह अस्थिर अवस्था में रहे तो आँखों को चौंधिया दे। जुगनू की चमक, बिजली की दमक मनुष्य को चकाचौंध में डाल-कर कैसा अस्थिरचित्त बना देती है? परन्तु सूर्य का स्थिर दृढ़ प्रकाश प्राण-धारियों को प्राणरूपी जीवन प्रदान करके मोदमान बना देता है।

जिस परमपिता (पालक) ने समुद्र को पृथ्वी पर दृढ़ किया और प्रकाश को अन्तरिक्ष में दृढ़ किया उस गायत्री को तीन समिधा कहती हैं। सूर्यादि प्राणशक्ति डालनेवाले और उदानादि मनुष्य-शरीर में प्राणों को दृढ़ करनेवाले उसी के आश्रय पर काम करते हैं। प्राणों का भी प्राण होने से वह मनुष्यों को दुःख से रहित करके आनन्दमय बनाता है। यह उसके जागृत पाद की क्रीड़ा है। जागृत में स्तुति द्वारा मन, वाणी, कर्म से उसे अनुभव करके पहली समिधा ब्रह्म-यज्ञकुण्ड में छोड़ी जाती है। तब अपनी निर्मलता का ज्ञान होकर दूसरी प्रार्थनारूपी समिधा हाथ में ली जाती है। उस समय उसका दिव्य श्रेष्ठ स्वरूप उपासक के सामने आता है और श्रद्धापूर्वक वह इस दूसरी समिधा को भी यज्ञकुण्ड में छोड़ देता है। तब उस दिव्य सौन्दर्य से आकर्षित हुआ उपासक अपने उपास्य देव के समीप पहुँचने के लिए आतुर होकर उपासनारूपी तीसरी समिधा को हाथ में ले लेता है और दिव्य चक्षुओं की प्राप्ति की प्रार्थना के साथ उसे भी यज्ञकुण्ड के अर्पण करता है।

"नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्ट-मव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म प्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।"

—(माण्डूक्य उपनिषद्-७)

(11)

उत्तम सन्तान उत्पन्न करो

ओ३म् । मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः । स सुगोपातमो जनः ॥

—(ऋ० १।८६।१)

"जिस घर में, विविध पूजनीय कर्मों का कर्ता (सत्यविद्या से) प्रकाशमान् वायु के समान तीक्ष्ण बुद्धि रखनेवाला, और रक्षक हो, वहीं पर उत्तम मनुष्य उत्पन्न होते हैं।"

गृहस्थाश्रम का उद्देश्य और आदर्श दोनों का ही जानना अत्यन्तावश्यक है। मनु भगवान् ने सच कहा है कि जैसे सब नदी-नाले समुद्र में जाकर स्थित होते हैं, जैसे समुद्र से भाप उठकर ही बादल बनते हैं और फिर बरसकर नदी-नालों द्वारा उसी में विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ से उत्पन्न होकर ब्रह्मचारी बनते हैं और फिर ब्रह्मचर्य का तप पूर्ण करके गृहस्थ में ही विलीन हो जाते हैं। तब गृहस्थाश्रम का उद्देश्य क्या है ? सर्वसाधारण इस समय भोग की इच्छा से गृहाश्रम में प्रवेश करते हैं। परन्तु यह उनका आचार अज्ञान में फँसने के कारण, बिगड़ गया है। विवाह का उद्देश्य एक स्त्री व पुरुष के विशेष नियम से बन्धन का मतलब यह नहीं है कि वे विषयभोग में पड़े रहें। विवाह के नियमों में बँधकर गृहाश्रम में प्रवेश करने का उद्देश्य वेद में "उत्तम मनुष्यों (सन्तान) को उत्पन्न करना है।" इसी वेदाशय को लेकर मनु जी ने कहा है—

प्रजनार्थं स्त्रियः स्रष्टा सन्तानार्थं च मानवाः ।'—६।९६

पितृ-ऋण से मुक्त होना ही गृहस्थ का उद्देश्य है। इसीलिये तो भारत के लोकोपकारार्थ प्रश्न पर मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने कहा था—

एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःखदाई॥
नरतन पाय विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥

निस्सन्देह गृहस्थ का प्रथम धर्म उत्तम सन्तान उत्पन्न करना है। सन्तान तो सभी उत्पन्न करते हैं। कामी, रोगी, तामसी, सभी के सन्तान उत्पन्न होती हैं, परन्तु क्या ऐसी सन्तान को उत्पन्न करनेवाला पितृ-ऋण से मुक्त हो सकता है ? कदापि नहीं। गृहस्थाश्रम तप-प्रधानाश्रम है। तपस्वी स्त्री-पुरुष ही उत्तम सन्तान

उत्पन्न कर सकते हैं।

इसीलिए वेदमन्त्रों में बतलाया है कि गृहपति कैसा होना चाहिये। गृहपति में पहला गुण यह होना चाहिये कि वह वैदिक कर्मों के पालन में कुशल हो। जो व्यक्ति दोनों काल परमेश्वर का परमोत्तम सत्संग नहीं करता, जो देवयज्ञ द्वारा भौतिक देवों की तृप्ति नहीं करता और उसके द्वारा अपने गृह को रोगरहित स्थान नहीं बनाता, जो नित्य अपने माननीय बड़ों का सत्कार तथा उनकी तृप्ति नहीं करता, जो नित्य ऋषिपूजा का अभ्यासी नहीं और जो दीनों के पालन से विमुख है, वह गृहपति अपने आधीन प्राणधारियों की रक्षा कैसे कर सकता है? परन्तु कर्मशील होने के लिए आवश्यक है कि सत्यविद्या से हृदय प्रकाशमान् हो चुका हो। सूर्य के प्रकाश में नीरोग आँखोंवाला मनुष्य ही यथावत् देखकर अपनी क्रिया को शुद्ध रख सकता है। अन्धे को सूर्य के प्रकाश में भी ठोकरें ही लगती हैं। परन्तु बहुत-से आँखोंवाले भी अन्धे ही बने रहते हैं। जो आँखें रखते हुए भी सूर्य के प्रकाश में आँखें बन्द कर लेते हैं, वा जिन्होंने कुकर्मों के द्वारा आँखों की ज्योति को मन्द कर लिया हो, उनके लिए ठीक देखना दुस्तर हो जाता है। जिसने लेट रहना हो उसका शायद बिना सूर्य और बिना आँखों के, कुछ काल तक निर्वाह हो जावे। परन्तु जिसने हिलना-जुलना है, जिसने उससे भी बढ़कर सोच-विचार-कर काम करना है, उसका निर्वाह बिना सूर्य के प्रकाश और स्वच्छ उज्ज्वल आँखों के एक क्षण भी नहीं हो सकता।

जिसके अन्दर धारणावती तीक्ष्ण बुद्धि नहीं, जिन्होंने उस तीक्ष्ण धारणावती बुद्धि को वैदिक ज्ञान के अञ्जन से मांजकर स्वच्छ नहीं किया और फिर जिन्होंने अभ्यास द्वारा उस बुद्धि की प्रेरणा और सहायता से कर्म करना नहीं सीखा उनका गृहाश्रम-प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं है।

जिस गृह का उत्तम रक्षक हो, उसी में सन्तान उत्पन्न होकर निवास कर सकती हैं। जब इस आदर्श से कोई व्यक्ति या कोई मनुष्य-समाज गिर जाता है तभी अकल्याण का आरम्भ होता है। पाठकवृन्द! क्या तुमने गृहस्थ के होते हुए भी कभी अपनी अवस्था पर विचार किया है? यदि तुम्हारी बुद्धि स्वच्छ नहीं, यदि तुम उसे सत्यज्ञान से स्थिर नहीं कर सके, यदि तुममें इतना शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक बल नहीं कि तुम प्रलोभनों से बच सको और वैदिक पवित्राज्ञाओं का पालन कर सको, तो तुम्हारा क्या अधिकार कि तुम सन्तानोत्पत्ति के पवित्र कार्यक्षेत्र में प्रवेश करो! क्या ही अच्छा हो यदि 'आर्य' नामधारी नर-नारी अन्धे मशालची की तरह दूसरों को मार्ग दिखाने का साहस छोड़कर अपनी बुद्धियों को पवित्र करने में लग जायें और प्रतिज्ञा कर लें कि जब तक "पूजनीय कर्मों के कर्ता न हो लेंगे तब तक सन्तानोत्पत्ति के पवित्र कार्य में परमेश्वर के प्रतिनिधि बनने की धृष्टता भी न करेंगे।"

(१२)

नेता कैसा हो ?

ओ३म्। त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूस्त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः।
त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षाः॥

(ऋ० १।६१।२)

"हे सौम्य-गुणयुक्त (नेता) ! आप कर्मवीरों में उत्तम कर्मवीर, बुद्धि-निपुणों में भी श्रेष्ठ बुद्धि के स्वामी, सब विद्याओं से विभूषित हो, तभी आप महत्त्वपूर्ण होने से वर्षणीय, उत्तम सुखों की वर्षा करनेवाले और कीर्तिमानों में प्रशंसित कीर्ति-वाले, मनुष्यों के लिए दर्शनीय होते हो। इसलिये इन्हीं गुणों का आप अनुसरण करो।"

संसार नेताओं के पीछे चलता है। एकसत्तात्मक राज्य हो वा प्रजातन्त्रात्मक, बुतपरस्त मजहब हो या कब्रपरस्त, मरदुमपरस्त मत हो वा खुदापरस्त, सबमें नेता ही जनता को पीछे चलाते हैं। महाभारत में ठीक कहा है—**"महाजनो येन गतः स पन्थाः"**। किस सड़क पर सर्वसाधारणबे खटके चल देते हैं ? जिसपर बनिये महाजन की बहली निर्भय होकर छनछनाती चली जाती है। संसार नेताओं के पीछे चलता है। चाहे कितनी भी स्वतंत्रता की तान तोड़ी जाय, नेता चाहे संसार को डुबा दें और चाहे तार दें, लोग चलेंगे नेताओं के पीछे ही। तब जन-साधारण को बार-बार यह समझाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है कि व्यक्तियों के पीछे वे न चलें। उनके मन में इस भान को स्थिर करना कठिन है कि कपटी मक्कार नेता उनको डुबा सकता है। जिन्हें लाठी के बिना चलना नहीं आता उन्हें यह समझाने का प्रयत्न व्यर्थ है कि कमजोर लाठी टूटकर घायल भी करा सकती है। ऐसी अवस्था में बुद्धिमान् का काम क्या है ? कोई निर्बल लाठी का सहारा ढूंढनेवालों के सामने ही न आने दे। परमेश्वर बुद्धिमानों का भी बुद्धिमान् है। इसलिये उसने मनुष्यों के लिए इस कठिनाई का हल भी बतला दिया। जनसाधा-रण को यह उपदेश देने की अपेक्षा है कि वे किसी व्यक्तिविशेष के पीछे ही न चलें क्योंकि उनमें निर्बलताएँ हो सकती हैं। परमात्मा का उपदेश नेताओं के लिए है।

नेता कौन हो सकता है ? वेद उत्तर देता है कि जिसमें नीचे लिखे गुण न हों उसे नेता बनने का साहस न करना चाहिये। प्रथम, नेता में सब सौम्य गुणों का निवास होना चाहिए। जिसका स्वभाव सरल नहीं, जो विपत्तियों को प्रसन्नता-पूर्वक सहन नहीं कर सकता, जिसे कष्ट उसके उच्चासन से डिगा सकता है, वह नेता होने के योग्य नहीं। आगे उन गुणों की गणना कर दी है। लोकसंग्रह का कार्य वही कर सकता है जो कर्मवीर हो; अकर्मण्यता के दासों का नेता कुछ भी नहीं कर सकता। नेता का धर्म यह नहीं कि कर्मवीर हो, किन्तु उसका यह भी कर्तव्य है

कि कर्महीन पुरुषों को कर्मशील बनावे। तब उसे सब कर्मवीरों से भी आगे चलनेवाला होना चाहिए, अर्थात् कर्मवीरों में भी उत्तम कर्मवीर होना चाहिए।

फिर उन कर्मों का प्रयोग बुद्धिपूर्वक होना चाहिए। नेता वह है जो कृष्ण भगवान् के शब्दों में कर्म, अकर्म और विकर्म के भेद को जाने। जैसे मुक्ति अनेक जन्मों के साधनों से सिद्ध होती है, इसी प्रकार नेता भी अपनी आयु के बड़े भाग की बुद्धि को स्वच्छता में लगाने से ही अग्रणी बनता है। इस बुद्धि की स्वच्छता के लिए सर्वविद्याओं के सार का ज्ञाता होना भी नेता के लिए आवश्यक है। विद्या और तप से आत्मा की शुद्धि होती है और जब आत्मा शुद्ध होता है तभी मनुष्य परोपकार-वृत्ति में निमग्न होकर कर्मफल की आकांक्षा से मुक्त हो जाता है।

ज्ञान और कर्म को जो मिला देते हैं, जिनके कर्तव्य उनके मन्तव्यों के अनुकूल हैं और जिनके मन्तव्यों का आश्रय सत्यज्ञान है, उनके अन्दर ही निष्काम भाव की उत्पत्ति होती है। नेता ऊपर उठता ही उस समय है जब कर्मफल की आकांक्षा का भाव उसके मन में उत्पन्न होना बन्द हो जाता है। तब उनके द्वारा जनसाधारण पर सुखों की वृष्टि होती है। जब तक मनुष्य के अन्दर सकाम भाव काम करता है, जब तक वह संसार को एक सुख पहुँचाने के पश्चात् ठहर जाता है, वह प्रतीक्षा में है कि जनता उसके परोपकार का आदर करती है या नहीं, बस इसी स्थान में नेता की मौत है। नेता वही सच्चा है जो परोपकार का काम करके थक न जाय। लोकैषणा से मुक्त होकर ही नेता जनता को अपने पीछे चला सकता है; कोई स्तुति करे, कोई निन्दा करे, उसे सेवा करते रहना चाहिए। वह जनता पर सुखों की वर्षा करता चला जाय, यदि उसके अन्दर शक्ति है; और सुखों की वर्षा करने की भी शक्ति न हो तो नेता बनकर आगे कभी नहीं बढ़ना चाहिए।

यह सत्य है कि नेता को लोकैषणा से मुक्त होना चाहिए, परन्तु कीर्ति को वह रोक नहीं सकता। फिर भी कीर्तिमानों से उसकी कीर्ति प्रशंसित होगी, क्योंकि वह कीर्ति के पीछे भागनेवाला नहीं। जो लोग कीर्ति के पीछे भागते हैं, कीर्ति उनको त्याग देती है। परन्तु जो कीर्ति की परवाह नहीं करते, कीर्ति उनके पीछे भागती फिरती है। यह प्रशंसित कीर्ति नेता के काम में सहायक होती है, क्योंकि उसकी उज्ज्वल कीर्ति को सुनकर आत्मिक तथा मानसिक भूख और पिपासा से सताये हुए जन उसकी शरण में जाते हैं और अपनी भूख और प्यास को बुझाकर शान्तचित्त हो परमात्मा की सृष्टि में सुख का राज्य लाते हैं।

संसार के नेताओं को मन, वचन और कर्म द्वारा इस वेदाज्ञा का पाठ करना चाहिए और यदि उनका जीवन तदनुसार नहीं है तो अपने पिछले किये हुए कर्मों के प्रायश्चित्त के लिए एकांत में बैठ जाना चाहिए।

(१३)
शरण पड़े की लाज

ओ३म् । मा नो बधाय हत्नवे जिहीडानस्य रीरधः ।
मा हृणानस्य मन्यवे ॥

—(ऋ० १।२५।२)

"जो अज्ञान से हमारा अनादर करे, उसे मारने के लिए हम लोगों को, हे जगन्नियन्ता ! कभी प्रेरित मत कीजिये। जो हमारे सामने लज्जित हो रहा हो उसपर क्रोध करने के लिए हम लोगों को कभी प्रवृत्त मत कीजिये।"

मनुष्य के जीवन में जितने दुःख सामने आते हैं, उनमें से लगभग आधे झूठे आत्मसम्मान के उत्पन्न किये हुए होते हैं। चलते-चलते अज्ञान से किसी का मोढ़ा भिड़ गया, हमारी हत्तक हो गई। अपने विचार में मग्न चलते हुए विद्यार्थी ने नमस्ते न की, अध्यापक की मानहानि हो गई। सभा में जाते हुए जज साहब का स्वागत करने के लिए कोई न उठा, उनकी इज्जत में फर्क आ गया। गरीब जाटों की वाणी में बड़े से बड़े आदमी को तू कहने का रिवाज है। एक वकील साहब के पास जाकर पंजाबी जाट मुकद्दमेवाले ने कहा "तू तें बाबू राजा करण है, तेरे क्या परवाह है, गरीबों से थोड़ी फीस ले ले !" बाबू साहब की इज्जत में फर्क आ गया। बोले—"मूर्ख, क्या बकवास करता है ? अदब से बोल !" जाट बेचारा हैरान रह गया—"हैं बाबू साहिब ! इतने लाल-पीले क्यों होते हो ? हमने तुझे क्या कहा है ? तुझे राजा कर्ण ही तो बताया है !" हिन्दुस्तानी दोस्त के पंजाबी मित्र ने समझाया कि इन गवारों की बोली ही ऐसी है।

हत्तक और बेइज्जती से दुःख क्यों होता है ? इसलिये कि हम लोगों ने शरीर को ही आत्मा समझ रक्खा है। शरीर के लिए भी कहीं-कहीं सच्छास्त्र में आत्मा शब्द का प्रयोग मिलता है। आत्मता ही कुछ दुःखों का मूल है। जो मनुष्य यह समझता है कि वह मुझे अपमानित करके कष्ट पहुँचा सकता है, उसने मेरे अनित्य शरीर को ही सब-कुछ समझ छोड़ा है और मुझे भी निरादर और अपमान से दुःख इसीलिये होता है कि मैं शरीर को अपना अस्तित्व समझता हूँ। दोनों ओर अविद्या ही दुःख का कारण है। यदि मैं वास्तविक स्वरूप को समझ लूं, यदि मुझे यह भी निश्चय हो जाय कि मैं आत्मा हूँ और आत्मा नित्य है, तो मुझे मनुष्यों के मानापमान कब हिला सकते हैं ? मनु भगवान् ने वेद के उपदेशानुसार ही सच्चे ब्राह्मणों को ताकीद की है कि मान से विष की तरह भागे और अपमान को अमृत की तरह ग्रहण करे। यदि मैं अपने स्वरूप को समझ लूं तो मुझे बेइज्जत करनेवाला संसार में कौन उत्पन्न हुआ है ! फिर मैं हिंसारूपी पाप में क्यों दिन-रात लिप्त रहूँ ? जिसे तलवार कतर नहीं सकती, जिसे आग जला

नहीं सकती, जिसे पानी गला नहीं सकता, और जिसे हवा सुखा नहीं सकती, मैं उसकी रक्षा के बहाने से उसीका घातक क्यों बनूं ? कवि ने सत्य कहा है कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु है और स्वयं ही वह अपना मित्र है।

जब आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ लिया, तब संसार में शत्रु कहाँ रहा ? सब मित्र-ही-मित्र दिखाई देते हैं। मित्र का धर्म क्या है ? विपत्काल में सहायता करना। जब कोई मनुष्य पाप के पंजे में फँसा हुआ विवेक को दबाये रखता है, तब उसको उस बेढब पंजे से छुड़ाने के लिए ताड़ना ही धर्म है। सद्वैद्य जिस प्रकार फोड़े को नश्तर से चीरकर बीमार का उपचार करता है, उसी प्रकार धर्मात्मा सज्जन अविद्याग्रस्त पापी को उभारने के लिए उचित दण्डरूपी नश्तर को प्रयोग में लाता है। परन्तु बिना नश्तर चुभोए ही बीमार को अपनी बीमारी का ज्ञान कैसे हो जाये ? यदि मुझे शारीरिक या मानसिक पीड़ा पहुँचानेवाला स्वयं अपने किये पर पछताये और लज्जावश मेरी ही शरण होने को उद्यत हो, तब क्या करना चाहिये ? परमपिता अपनी पवित्र वाणी द्वारा उपदेश देते हैं कि ऐसे अपने किये हुए पर पछतानेवाले मनुष्य के सामने आकर शरण ढूंढने पर क्रोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

रावण मर्यादा पुरुषोत्तम राम की साध्वी सती धर्मपत्नी सीता को हरकर ले गया। राम ने लंका पर चढ़ाई की। विभीषण ने भाई को समझाया और उसके धर्म-नीति के त्यागने पर राम की शरण में चला गया। सुग्रीव के अर्दली उसे पहरे में रखकर अपने मालिक के पास गये और सुग्रीव ने रघुकुल के तिलक तक समाचार पहुँचाकर कहा—

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।
आवा मिलन दशानन-भाई॥
जानि न जाई निसाचर माया।
कामरूप केहि कारण आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा।
रखिय बाँध मोहि अस भावा॥

सुग्रीव ने राजनीति की बात कही थी परन्तु हनुमान् राम को बड़ा उच्च पद देते थे। वह ताकने लगे कि राम क्या आज्ञा देते हैं और उनका उत्तर सुनते ही गद्गद प्रसन्न हो गये—

सुन प्रभु बानि हरष हनुमाना।
सरनागत वच्छल भगवाना॥

राम ने क्या कहा था जिसपर हनुमान् के हर्ष से रोमांच हो आये ? सुनिये—

सरनागत कहुँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिनहिं बिलोकति हानि॥

कोटि विप्रवध लागहि जाहू।
आए शरण तजों नहिं ताहू॥
भेद लेन पठाव दससीसा।
तबहू न कछु भय हानि कपीसा॥
जगमहुँ सखा निसाचर जेते।
लछमनु हनइ निमिष महुँ तेते॥
जो सभीत आवा सरनाई।
रखिहु ताहि प्राण की नाई॥

धन्य हो मर्यादा पुरुषोत्तम ! धन्य तुम्हारी विशाल उग्र नीति ! तुम्हीं ने वेदों के पवित्र उपदेश को सार्थक किया है।

वेद के दो उपदेश एक मन्त्र-से और दोनों ही एक-दूसरे से निराले दीखते हैं। परन्तु इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। संशय के कारण ही मनुष्य अपमान से दुःखी होता है और संशय के कारण ही वह शरण आये पर अत्याचार करता है। संशयात्मा को कुछ भी सुख नहीं हो सकता है। इसलिए परमात्मा से नित्य ही निश्शंक होने का वर माँगना चाहिये।

ओ३म् शम् !

द्वितीय सोपान

(१)
आत्म-दर्शन

दो वर्षों के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् वकील बड़ा मारके का मुकद्दमा जीत-कर आराम-चौकी पर सीधा हुआ है। दस वर्षों के निरन्तर प्रयास के पीछे नीतिज्ञ देशभक्त अपने देश के लिए अभीष्ट अधिकार दिला, बधाई के सैकड़ों तार प्राप्त करके विश्राम के लिए बैठा है। १५ वर्षों तक अनगिनत सौदों से लाखों कमा साहूकार रोकड़खाते के जोड़ से शान्ति लाभ करने लगा है। १० वर्षों की लगातार कोशिश से सैनिक बल बढ़ा, बड़ा प्रबल विजय प्राप्त करके सम्राट् दम लेने को एकान्त में विराजमान है। क्या इनमें से किसी का भी आत्मा संतुष्ट है ? सांसारिक विषयों को सन्तोष का साधन समझते हुए जिन्होंने उन्हीं के पीछे अपनी सारी शक्तियों को लगा दिया, अभीष्ट विषय की प्राप्ति पर उन्होंने भी अपने-आपको असन्तोष की ज्वाला में अधिक जलते हुए पाया।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ मनुः[१]

विषय-भोग की इच्छा विषय-भोग से शान्त नहीं होती। जैसे घृत के डालने से अग्नि अधिक ही प्रज्वलित होती है, इसी प्रकार विषय-भोग से विषय-वासना अधिकाधिक बढ़ती चली जाती है। भूमिहार भूमि के, कृपण धन के, चटोरा स्वादिष्ट भोजन के, यशकामी यश के पीछे इसलिए नहीं भागते कि इन वस्तुओं को अपना परमोद्देश्य समझते हैं, प्रत्युत इसलिए कि जिस अनिर्वचनीय अवस्था को वे प्राप्त होना चाहते हैं उसका साधन उन्हीं को समझते हैं। शान्त तो अन्दरवाले को करना है, इसलिये बाहर की जो भी वस्तु प्यारी है वह इसलिये है कि उससे (अविद्यावश) अन्दर की शान्ति की सम्भावना हो रही है। परन्तु जब बड़े यत्नों के पश्चात् भी अन्दरवाला शान्त नहीं होता, तब जिज्ञासु का कष्ट और भी बढ़ जाता है और वह उसकी ढूँढ में लगता है जिससे मिले बिना शान्ति नहीं हो सकती।

---

१. यह श्लोक प्रचलित मनुस्मृति में उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः यह महाभारत का है।—सम्पादक

यत्न व्यर्थ है जब तक कि लक्ष्य का पता न लगे। दुःख क्यों है ? इसलिए नहीं कि बाहर से अन्य भूत-प्राणी आक्रमण करते हैं वा दैवी शक्तियाँ आँधी-शीतोष्णादि द्वारा सताती हैं, प्रत्युत इसलिये कि जीवात्मा स्वयं उनमें दुःख मानता है। यहाँ तक कि अन्दर से उठकर जो शारीरिक और मानसिक रोग मनुष्य को सताते-से दिखाई देते हैं वह भी जीवात्मा की अपनी उत्पन्न की हुई घटना है। आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक, तीनों प्रकार के दुःख मनुष्य उत्पन्न कर लेता है। अन्य प्राणियों से दुःख किसको होता है ? जिसका चित्त विक्षिप्त और अशान्त हो। वसन्त ऋतु में भ्रमणरूपी पथ्य को साधने के लिए बाबू जी ब्राह्म-मुहूर्त में ही छतरी हाथ में लेकर बाहर निकलते हैं। अभी ५ पग चलते हैं कि सड़क में पड़ा कुत्ता आहट पाकर सिर उठाता और धीमे शब्द से अपना परिचय देता है। बाबू जी भीरु हैं, डरकर पैर तेज उठाते और छतरी कुत्ते की ओर लपकाकर चलते हैं। कुत्ता शेर हो जाता है, भौंकता-भौंकता उनके पीछे दौड़ता है। बाबू जी भाग निकलते हैं और कुत्ता उनकी टाँगें लेने को ही है कि पहरेवाला एक डाट से कुत्ते को भगा देता है। दूसरी ओर क्षत्रिय वीर जंगल में जाता हुआ शेर को अकस्मात् सामने देख निहत्था औसान नहीं छोड़ता और पगड़ी के सिरे में पत्थर बांधकर घुमाता और ऐसा चक्कर बाँध लेता है कि शेर डरकर स्वयं भाग जाता है। जहां हल्की-सी वायु और वर्षा की थोड़ी भी बौछार नाजुकमिज़ाज नव्वावों को महीनों पलंग पर लिटाए रखती है वहाँ आँधी-मूसलाधार में सराबोर होकर भी धर्मोपदेशक संन्यासी का मुख धर्मोपदेश के समय क्यों तेजमय और शान्तिप्रद दिखाई देता है ? और रोगों का कारण क्या है ? अनुभवी पुरुषों ने परीक्षा करके देखा है कि जहाँ अपने-आपको रोगी माननेवाला भला-चंगा मनुष्य रोग में ग्रस्त हो जाता है वहाँ मानसिक बल को उपयोग में लाकर अभ्यासी पुरुष साधारण जुकाम-ज्वरादि तो क्या, बड़े विकट रोगों को भी दूर भगा देते हैं।

तब दुःख का कारण बाहर नहीं है; उसको अन्दर ही ढूंढना चाहिये। परन्तु जनता उलटे रास्ते चल रही है। जो विषयी पुरुष बाह्य विषयों के भोग से ही दुःख की निवृत्ति मानते हैं, उनकी दुर्दशा का ध्यान छोड़कर यदि ऐसे पुरुषों की ओर दृष्टि डालें जो विषयों से बचने का प्रयत्न कर रहे हैं तब भी दृश्य दुःखदायी ही दिखाई देता है। जल-स्थल-मूर्त्यादि में दुःख-निवृत्ति की औषध ढूंढने में जो नर-नारी लगे हुए हैं उन्हें अन्त को कबीर के शब्दों में कहना पड़ा—

'चलते चलते कमर पिरानी
बात न पूंछी पत्थर पानी।।'

आए साल कितने स्त्री-पुरुष बदरी, केदार, द्वारिका, जगन्नाथ, काशी, अमरनाथ जाते और वहाँ से अधिक दुःख सहकर लौट आते हैं। मुसलमान-जगत् से कितने प्रत्येक वर्ष मक्का और मदीना की 'ज़ियारत' को जाते और जंगली बद्दुओं

से लुटकर घर लौटते हैं। इन सबकी दशा को देखते हुए फिर भी नर-नारी क्यों पुनः उसी मार्ग पर चल देते हैं?

यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है और इसका उत्तर भी कठिन प्रतीत होता है। परन्तु जिन्होंने अपनी जान पर खेलकर ढूँढा है उनके लिए इसका उत्तर हाथ बाँधे खड़ा है। इस समय बड़े पुरुषों के जीवन-चरित्र जिस शैली पर लिखे जाते हैं उससे जहाँ कुछ लाभ होता है वहाँ हानियाँ भी बड़ी होती हैं। उन बड़े आदमियों के महान् चरित्र ही जहाँ पाठकों को अपनी ओर खींचते हैं वहाँ उनकी निर्बलताएँ पाठकों की अपनी गिरावट के समय शान्तिदायक बहाना बन जाती हैं। प्राचीन आर्यावर्त के जीवन लिखने की शैली कुछ विचित्र ही थी। प्राचीन मन्त्र-द्रष्टा ऋषि जानते थे कि सूक्ष्म से स्थूल में जाकर मन डाँवाडोल हो जाता है। वे जानते थे कि प्रमाद मनुष्यों को आदर्श तक पहुँचने की कठिनाइयों का सामना नहीं करने देता और इसलिए तप का जीवन छोड़ने के लिए बहाना ढूंढते रहते हैं, इसलिए न तो वे दूसरे महात्माओं के जीवन-चरित्र लिखते और ना ही अपना जीवन-वृत्तान्त लिखकर, हम गिरे हुए अभिमानियों की तरह संसार को उलटे मार्ग पर डालने का प्रयत्न करते। वे अपने जीवन के अनुभव का सार जनता के आगे रख जाते थे और वह जीवन-चरित्र पढ़कर फेंक देने के योग्य न होता था। विविध भाषाओं में गत एक शताब्दी के अन्दर ही कितने लाख जीवन-चरित्र छपकर मुद्रित हुए। उनमें से कितने हैं जिनको दूसरी बार पढ़ने का किसी ने साहस किया? थोड़े ही होंगे जिन्हें एक भी काम के आदमी ने दूसरी बार पढ़ा हो। परन्तु महर्षि पतञ्जलि का लिखा हुआ जीवन-सार बुद्धिमान् जिज्ञासु बार-बार पढ़ते हैं और जितना ऊपर उठते जाते हैं उसके साथ उनका प्रेम अधिक-अधिक बढ़ता जाता है।

पतञ्जलि का जन्म कब और कहाँ हुआ? उनके माता-पिता की योग्यता क्या थी? कुमारावस्था में वह किन व्यसनों में फँसे और कैसे उनकी मृत्यु हुई? ये प्रश्न और उनके उत्तर योगदर्शन की उपस्थिति में किसी विचारशील सज्जन को अपनी ओर आकर्षित नहीं करते। महर्षि पतञ्जलि का जीवन-वृत्तान्त उनके योगदर्शन के अन्दर गठित है और इस प्रकार के एक जीवन-वृत्तान्त का वास्तविक पाठ करने से मनुष्य अमर हो जाता है।

ऋषि-जीवन से शिक्षा

ग्रहण करना साधारण मनुष्यों का काम नहीं, परन्तु गिरे-से-गिरे पुरुष को भी उससे आश्रय अवश्य मिलता है। तीनों प्रकार के तापों से पीड़ित मनुष्य जिन विषयों में सुख मानकर उनकी ओर दौड़ता है, उनमें परिणाम में दुःख देखकर जिज्ञासा छोड़ प्राणी निराश हो जाता है। नास्तिकपन के गढ़े में गिरने का यही भयानक समय हुआ करता है। बिछुड़े हुए से मिलाप के लिए भागता है, परन्तु

वहाँ अधिक दुःख होता है। तब समझ लेता है कि बिछुड़े हुए का खयाल भी एक छलावा है। प्रत्येक दौड़ में मृगतृष्णा का ही अनुभव कर उसे भ्रम हो जाता है कि जल का स्रोत कहीं है ही नहीं। ऐसे विकट समय में जब सब शक्तियाँ शिथिल हो जाती हैं, जब प्यासा जल के अस्तित्व से ही अविश्वासी हो अपने सारे यत्नों को छोड़ बैठता है, उस समय ऋषि का गम्भीर आशाजनक नाद उसे आत्मघात से रोकता है। ऋषि हृदय-भेदक अंश में कहते हैं—

अथ योगानुशासनम्। योगदर्शन १।१

प्यारे जिज्ञासु ! निराश मत हो क्योंकि मैं "अब योगशास्त्र का आरम्भ करता हूँ।" बारम्बार निराश होते हुए भी जो तुझे कोई प्रबल शक्ति फिर आनन्द की तलाश में घुमाती है क्या यह छलावा है ? यदि शान्तिधाम कहीं न होता तो गिर-गिरकर बारम्बार तू न उठता। यदि प्रकाश का सागर कहीं न होता तो तेरे अन्दर प्रकाश की बिजली, अन्धकारमय समय में न घूम जाती। प्यारा, अन्दर था, तूने उसकी बाहर तलाश की, इतनी ही कसर थी। मैंने उसको देखा है, मैंने अमृत के स्रोत में स्नान किया है, चल तुझे भी उसकी ओर ले चलूँ। परन्तु मिलाप सुगम भी नहीं। तूने उसे साधारण मार्ग समझा, परन्तु वह विशेष मार्ग है। साधारण सांसारिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ मार्ग है और उसकी विद्या है, जिसके द्वारा ही उस मार्ग पर चल सकते हैं, उसी प्रकार इस महान् उद्देश्य तक पहुँचने के लिए विशेष मार्ग है और उस मार्ग में चलने की विद्या भी विशेष है।

"युज समाधौ" योग समाधि को कहते हैं।

सम्यक् प्रकार ध्यान करने से ही लक्ष्य के साथ जुड़ सकते हैं। वह न शरीर का विषय है और न इन्द्रियों का; यदि ऐसा होता तो बाहर भटकते हुए अशान्ति क्यों रहती है ?

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था: अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥

बुद्धि से भी जो अन्तरात्मा परे है उसका ग्रहण चेतनात्मा ही कर सकता है। योग में अभिधेय मुक्ति-सागर परमात्मा है। प्रयोजन मुक्ति की प्राप्ति है और उस योग अर्थात् मुक्ति और उसका मार्ग यह सम्बन्ध है। योगशास्त्र उस सम्बन्ध को बतलाता हुआ मार्ग को भलीभाँति दिखलाता है। महर्षि पतञ्जलि उसी मार्ग के लिए इस योगशास्त्र का उपदेश करते हैं।

योग क्या है ? यद्यपि इसका निर्देश कर चुके हैं, तथापि मार्ग का वर्णन करने से पहले इसका स्वरूप कहते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगदर्शन १।२

चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं, अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग कहाता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन और चित्त कहीं-कहीं पर्यायवाची शब्द ही हैं। मन जब बहिर्मुख होता और इन्द्रियों द्वारा, विषयों में फँसकर बुद्धि और यहाँ तक कि जीवात्मा को भी बाहिर खींच लेता है तब शान्ति-सरोवर आदित्यस्वरूप से, आत्मा का बिछोड़ा हो जाता है। तब क्या सन्देह है कि जब चित्त के बहिर्मुख होने से क्लेशों में फँसावट हुई थी तो उसी के अन्तर्मुख होने से जहाँ फँसावट दूर होगी वहाँ अन्तरात्मा को प्रकाशस्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन होंगे। मनुष्य के जागृत का बोधक 'क्षिप्तावस्था' है। संसार में जीवन का चिह्न तभी समझा जाता है जब कि उस दीपक की तरह जिसे वायु स्पर्श करता है, मनुष्य का चित्त चंचल रहता है। इसी का परिणाम मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाएँ हैं। जब काम-क्रोधादि के वश में होकर मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है तब उसे मूढ़ावस्था प्राप्त होती है। वहाँ तम प्रधान होता है। उससे व्याकुल रज और सत् का आश्रय विक्षिप्तावस्था प्राप्त करने का यत्न करता है जिसमें कुछ सुख का भान होता है। परन्तु सुख के साथ दुःख-द्वन्द्व में फँसाकर फिर घबरा देता है, तब मन को एकाग्रावस्था में ले-जाकर चित्त को निरुद्धावस्था में टिकाता है। उस निरुद्धावस्था का फल होता है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगदर्शन १।३

उस आत्म-दर्शन से ही बिछुड़े के साथ मिलाप होगा। जिज्ञासु ! उसी के साधनों में लग जाने में कल्याण है।

तुम कहाँ हो ?

कैसा हृदयवेधक मिलाप है ! चंचल मन को चुप कराने के लिए बहुत-से साधन सोचे। नाच-रंग की सभा में फँसकर वहाँ की धमाचौकड़ी के शोर में मन बहकाने की कोशिश की, परन्तु कुछ काल के पश्चात् दिल से एक दर्द उठा और दर्दनाक आवाज फिर उठी—

हृदयेश्वर ! तुम कहाँ हो ?

इस चिमटी हुई योगिनी से छुटकारा पाने के लिए, इस चिन्ता से मुक्त होने के लिए, इस गम को गलत सिद्ध करने के लिए, चरस का दम लगाया, भंग का लोटा चढ़ाया, शराब की बोतलें ढुलाईं, फिर भी उन्मत्त हृदय से वही मर्म-भेदक शब्द निकले —

प्राणपति ! तुम कहाँ हो ?

शरीर शिथिल हो गया, इन्द्रियों की ज्योति मन्द पड़ गई। अब न तो नाच-रंग ही आनन्द देते हैं और ना ही मद्य की आग का सहन हो सकता है। मौत का चित्र सामने खींचकर डॉक्टर सब व्यसन छुड़वा देता है। चतुर्थ अवस्था शीघ्र आ पहुँची, जवानी में ही बुढ़ापे ने आ घेरा, तब दर्शनशास्त्र (फिलॉसफी) की शरण

ली गई। कोई सृष्टिकर्ता नहीं, सब आप ही बना और आप ही स्थित है, यह तो सदा से ऐसा ही चला आया है। कर्मफल बच्चों का खेल है। कर्म आप-से आप फल देता होगा, नियन्ता कोई नहीं। दूसरों को समझाने में फिलॉसफी ने खूब काम दिया, परन्तु जब अपने अन्दरवाले के समझाने का समय आया तो फिर वहाँ से वही शब्द निकले—

जगत् के निर्माता ! तुम कहाँ हो ?
इन्कार किसी से बन न आया तेरा।

चारों ओर भटकने से निराश होकर जब बाहर भटकना बन्द कर दिया—"अन्दर के पट तब खुलें जब बाहर के पट देय"—अन्दर के पट खुल गये, पहेली बूझी गई। कष्ट क्यों हुआ ? क्लेशों ने क्यों सताया ? इसलिए कि आनन्द को वहाँ ढूंढा जहाँ वह नहीं था। अब दृश्य ही बदल गया।

तुम कहाँ नहीं हो ? आँखें अच्छे रूप के लिए व्याकुल हो रही हैं। उस रूप की ढूंढ में काँटों में घसीटे गये, गढ़ों में ठोकर खाकर गिरे, शरीर छलनी हो गया, कोई स्थान बिना घाव के न बचा। बड़ी मुसीबत झेलकर अभीष्ट रूप के सामने पहुँचे और उसके प्रकाश में आँखों को सेंक उसके भोग की तैयारी की, तो सौन्दर्य के भण्डार का ही स्वरूप उसमें भी देखा। स्त्री व पुरुष के सौन्दर्य का स्रोत बहानेवाली जगज्जननी के दर्शन हुए। आँखें खुल गईं। हाड-मांस और चर्म में सौन्दर्य कहाँ ! यदि इन चीजों में सौन्दर्य होता तो चिरस्थायी होना चाहिए। इस सारे खोल के अन्दर और बाहर जगदम्बा का ही सौन्दर्य है। अब आँख का भाव बदल गया। जिस रूपवती पर पाप की दृष्टि डालने आया था उसके अन्दर माता के एकरस, न बदलनेवाले सौन्दर्य को देख, उसके आगे पूजा-भाव से सिर झुक गया और अन्तःकरण से अनायास ही ये शब्द निकले ?

जगज्जननी ! तुम कहाँ नहीं हो ?

कान शब्द में, जिह्वा रस में, नासिका गन्ध में, त्वचा स्पर्श में, एक-एक इन्द्रिय अपने-अपने विषय में खींचकर ले गईं। परन्तु उससे कोई स्थान खाली न पाया। जिस हाथ से चोरी का माल उठाने की चेष्टा हुई है, उसमें वह है। जिस वस्तु को चुराने की चेष्टा हुई है उसमें वह व्यापक है। कहाँ चोरी करे ? कहाँ विषय-भोग करे ? कहाँ कुचेष्टा करे ? कौन-सा स्थान है जहाँ नियन्ता नहीं है ? आनन्द तभी तक है जब तक कि सुन्दर विषय का भोग नहीं किया। विषय भोगते ही जहाँ विषय का रूप भयानक बन जाता है वहाँ आनन्द महाकष्ट में बदल जाता है।

तुम कहाँ नहीं हो ?

पापी को ये मर्म-भेदक शब्द कम्पायमान कर रहे थे; परन्तु जब कोई स्थान उससे खाली नहीं, यह निश्चय हो गया और जब सारा सौन्दर्य उसी के अन्दर

स्थित प्रतीत हुआ तब वे ही शब्द गिरे हुए आत्मा का सहारा भी बन जाते हैं।

जंगल में भूला यात्री भटक रहा है। ज्येष्ठ का अन्त है। कुत्तों ने भी जीभें बाहर निकाल दी हैं। चलते-चलते प्यास के मारे व्याकुल हो रहा है। बेहोश हो मैदान में गिर पड़ता है। आँखें बन्द और प्यासा मुंह खुला हुआ है। अंधेरा छा जाता है, वायु का वेग वृक्षों को जड़ से हिला देता है, पानी एकदम बरसने लगता है और शुष्क जिह्वा तर हो जाती है। यात्री शान्त होकर उठ बैठता है। उसी के अन्तरात्मा से ये शब्द निकलते हैं—

शान्ति के भण्डार ! तुम कहाँ नहीं हो ?

भगवान् ! यदि हम, भूले हुए तुम्हारे पुत्र, तुमको अपने अन्दर और बाहर प्रत्येक समय में उपस्थित जाना करें तो फिर हमें क्या किसी अन्य शिक्षा की आवश्यकता है ? पर्वत के शिखर पर हिम की शोभा तुम्हारी शोभा को ही दर्शाती है। हरे-हरे वृक्षों और वनस्पतियों की तरावट तुम्हारा ही दर्शन कराती है।

उन्मत्त कामी पुरुष को एक देवी के पीछे भागते हुए एक सज्जन ने देखा। देवी की रक्षा के लिए सज्जन भी अग्रसर हुआ। समीप पहुँचकर आश्चर्य का दृश्य देखा। देवी लौटकर निडर चक्षुओं से दुष्ट को देख रही है और दुष्ट आँखों पर हाथ रखकर रो रहा है—"माता जी, क्षमा करो ! माता जी क्षमा करो !" सज्जन इस दृश्य को देख विमोहित हो खड़ा रह गया और उसके अन्दर से फिर वही प्राण-दायक शब्द निकले—'जननी, तुम कहाँ नहीं हो ?' निस्सन्देह कोई भी परमाणु, कोई भी भाव तुमसे खाली नहीं है, तब इस पवित्र भाव के उत्पन्न करने को तुम्हारे बिना किससे याचना करूं ?—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'।

(३)

कर्म-फल कौन बाँटेगा ?

भीलों से पाला हुआ वाल्मीकि चोर डाकू बन गया था। अपने सारे परिवार का पालन डाका मारकर ही करता रहा। एक दिन सप्त ऋषियों के धोती-लोटे पर हाथ मारना चाहा। ऋषि ने पूछा—ऐसा काम क्यों करते हो ? डाकू ने उत्तर दिया कि उसके पास परिवार-पालन को कोई अन्य साधन नहीं। ऋषि ने पूछा—'क्या इस पाप के फल को तेरे पारिवारिक सम्बन्धी बाँट लेंगे ? घरवालों से पूछ आ, तेरे लौटने तक हम यहीं रहेंगे।' डाकू ने स्त्री, पुत्रवधू, पुत्री—सबसे प्रश्न किया; उत्तर में सबने यही कहा कि पाप का फल बाँटने को कोई भी तैयार नहीं। डाकू लौटकर ऋषि के चरणों पर गिर पड़ा। ऋषि ने स्वच्छ अन्तःकरण डाकू को आत्मोपदेश दिया और वही डाकू तप के प्रभाव से ऋषि और तत्त्वज्ञानी वाल्मीकि कवि बन गया।

एकः प्रजायते जन्तुः एक एव प्रलीयते।
एको नु भुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥

प्राणी अकेला ही उत्पन्न होकर अकेला ही मर जाता है, और अपने ही शुभ कर्मों का फल प्राप्त करता तथा दुष्कर्मों का दण्ड भोगता है। क्या इसमें कोई हिस्सा ले सकता है ? माता के लिए, पत्नी के लिए, सन्तान के लिए क्या-कुछ कुकर्म नहीं किये जाते ! परन्तु जब दुष्कर्मों के फल के भोग का समय आता है, तो क्या कोई साथ होता है ? देश-काल भिन्न होने पर भी अवस्था-भेद नहीं होता। जब स्वार्थ-परायणता (परिवार-भक्ति) का समय था तब घरवालों के लिए पाप कमाये गये, अब देश-भक्ति (परोपकार) का समय है तो देश के लिए क्यों न पाप कमाए जाएँ ? क्या देश-भक्ति से पाप का कुछ सम्बन्ध है ? जो सत्य नहीं, जो धर्म नहीं, वह देश-हित कैसे हो सकता है ? पाप और देश-हित का सम्बन्ध ही क्या ?

काबुल की लाम में लाखों के वारे-न्यारे किये, छोटों से लेकर बड़े-बड़े अफसरों तक को सैंकड़ों और हजारों रिश्वत में दिये, दोस्तों की दावतों में हजारों खर्च कर दिये, शराबों के कण्टर-के-कण्टर बहा दिये, पत्नी-लड़कों-सम्बन्धियों के बड़े-बड़े प्रासाद खड़े कर दिये, ब्याह-शादियों पर रण्डियों, भड़ुओं की भेंट भी सहस्रों किये, परन्तु जब ऊपर से पकड़ हुई, गवर्नमेण्ट ने खोज आरम्भ की और 'ताज़ीराते-हिन्द' की दफा ठुक गई, उस समय न बड़े-बड़े अफसर ही दुःख बाँटने को खड़े हुए और ना ही पत्नी-बच्चे सहारा दे सके, जेलघर में सीधे बड़े कमसरियट एजेण्ट महाशय को ही जाना पड़ा। कम्पनी बनाकर लाखों लूट जो सम्बन्धियों और सुधारक-संस्थाओं में तुमने लुटा दिये—क्या उन सम्बन्धी और उन संस्थाओं के चालकों ने तुम्हें आत्मघात से बचा लिया ? दुनिया की आँखों में धूल झोंककर यदि बच भी गये तो सब कर्मों के देखनेवाले नियन्ता से बचकर कहाँ जाओगे ? उसकी दृष्टि अँधेरी-से-अँधेरी गुप्त कोठरी से भी तुम्हें ढूँढ निकालेगी—

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'

किये कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। कटौती का कोई काम नहीं—बुरे का बुरा और अच्छे का अच्छा फल भोगना ही पड़ेगा।

हमें कुछ मत कहो, जो कुछ हम करते हैं केवल परोपकार के लिए। देखो ! परोपकारी पुरुष इतना बडा कॉलिज चला रहे हैं, लाखों रुपयों की जरूरत है। प्राचीन ब्रह्मचर्य-प्रथा को पुनर्जीवित करने के लिए गुरुकुल खोल दिया है, करोड़ से कम मे यह क्या चलेगा ? अगर इस तरफ न देखें तो कौन सहायता देगा ? माना कि खोतामल का मुर्झाया हुआ मुकद्दमा हारकर हमने १० हजार की डिग्री दे दी, लेकिन कॉलिज को भी १०००) का दान तभी मिला। यह माना कि शराबी-कबाबी ठेकेदार की अनुचित प्रशंसा की, लेकिन उससे १५००) नकद भी तो

गुरुकुल के लिए गिनवा लिये ! हे भूले भाइयो ! जब आन्तरिक चोट लगने पर तुम्हारा अन्तरात्मा जागेगा और अनुताप की अग्नि तुम्हें जलायेगी, तो क्या इन संस्थाओं के संचालक तुम्हारे दुःख को बाँट लेंगे ?

धर्म की रक्षा के लिए, अधार्मिकों के पराजय के लिए झूठ बोलते हैं, मक्कारी करते हैं, छलछिद्र से भी सहायता लेते हैं, परन्तु कार्य कितना महान् है ? भोले भाइयो ! यदि कभी अपनी अवस्था पर तुम विचार करते और 'सत्य' के शुद्ध स्वरूप को देख सकते तो तुम्हें मालूम हो जाता कि 'सत्य स्वरूप' की सृष्टि में असत्य का राज्य लाना सर्वथा असम्भव है। अधर्म का एक पैसा भी जिस शुभ कार्य में पड़े, उसमें गड़बड़ मच जाती है। सम्पूर्ण श्रेष्ठ कामों का आश्रय 'सत्यस्वरूप' ही है। इसीलिए उसी की शरण ले और उसी पर श्रद्धा रख, सब काम सफल हो सकते हैं।

प्रभु के गुणों का गान करो !

शीतल जल, मन्द-मन्द सुगन्धित पवन, शरीर को आरोग्य रखने के लिए हमें किसने प्रदान किये ? हरियाली की अद्वितीय शोभा से हमारी आँखों को तरावट किसने दी ? बुरे कार्य में प्रवृत्त होते हुए हमें भय, शंका, लज्जा द्वारा नरक-कुण्ड में गिरने से कौन बचाता है ? उत्तम शिक्षा और पवित्र ज्ञान के भण्डार 'वेद' का हमारे लिए कौन प्रकाश करता है ? वही परब्रह्म परमात्मा जो चक्षुओं का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन और आत्मा का भी आत्मा है। उसी से हम सब कल्याण-मार्ग का ज्ञान पाते हैं। ऐसे पिता, ऐसे पालक और रक्षक को भूलना कैसा महापाप है ! उसकी आज्ञा-पालन से मुँह मोड़ना कैसी भारी अविद्या है ! उसी परमात्मा का स्मरण करो, उसी के गुणों का गान करो जिसने उत्कृष्ट विद्याओं के भण्डार 'वेद' को तुम्हारे लिए खोल दिया है।

(४)
सत्संग बड़ा उद्धारक है

हाय, कुसंग ने सर्वनाश कर दिया ! कैसे हृदयभेदक शब्द हैं ! नगर-नगर, ग्राम-ग्राम से यही ध्वनि उठ आकाश-मण्डल में गूँज रही है। स्वच्छहृदय बालक माता की गोद को छोड़, हमजोलियों में जब प्रथम बार प्रवेश करता है तब माता-पिता की उसपर कैसी आशाएँ बंधती हैं ! उसके शरीर की चमक और चेहरे की दमक उनको आह्लादमय बना देती है। शनैः-शनैः बालक का मुख और उसके अंग मलिन होने लगते हैं; विचित्र बातें करने लगता है और उसके कर्म विस्मयोत्पादक हो जाते हैं। माता-पिता की आँखें उस समय खुलती हैं जब राजरोग में ग्रस्त हो जाता है। माता विलाप करने लगती है और पिता के मुख से अनायास निकलता है 'अथ दुर्जुनसंसर्गे पतिष्यसि पतिष्यसि।' पतित युवक व्याकुल हो जाता है। उसकी

आँखें भी खुलती हैं और पीड़ा से व्याकुल युवक धाड़ मारकर रोता है और कहता है—'हाय, कुसंग ने सर्वनाश कर दिया !' उसे कुसंग से घृणा हो जाती है और तब भगवान् की ओर ध्यान जाता है। लुच्चों-बदमाशों की संगत में जिस प्रकार मखौल उड़ाये जाते थे, आज उसी प्रकार ज्योतिस्तम्भ की ओर टकटकी लग रही है। यदि पहले ही उसका आश्रय लेता तो यह दुःखमय दिन देखना क्यों नसीब होता ?

दुःख में तो सब कोई भजे, सुख में भजे न कोय।
एक बार सुख में भजे, तो दुःख काहे को होय ।।

अब तो उसी से लौ लग गई है। युवक का आत्मा उच्चशिखर के केन्द्र में जुड़ गया है। जब तक आत्मा उधर लगा रहा तब तक दुःख भूला रहा, परन्तु उधर से दृष्टि हटते ही दुःख की तरंगों ने आ घेरा। ये लहरें भयानक हैं, इनसे किसी तरह पार हो जाऊँ—यही युवक विचार रहा है। परन्तु कहाँ चले ? जिसमें दृष्टिपात मात्र से दुःख भूल जाता है उस शान्तिधाम के पास पहुँचने से कैसी सान्त्वना प्राप्त होगी ! किन्तु वहाँ कैसे पहुँचा जाये ?

'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः।' यजुर्वेद ३१।४

वह तो बहुत ऊँचा है ! 'चित्त चाहत है उड़ जाय मिलौं, पै उड़ो नहिं जात बिना पर सों।' पर कहाँ हैं जिनके आश्रय उड़कर जा मिलूँ ? न जप किया न तप किया, न यम-नियम का पालन किया। कोई भी तो आश्रय नहीं जो ऊपर ले-जा सके। इस दुर्गम मार्ग में कैसे निर्वाह होगा ? नीचे वही पुरानी कुसंगत, वही पाप की भट्टी दहक रही है और ऊपर शान्तिधाम इतनी दूर ! निर्बल गिरा हुआ प्राणी कहाँ जाये ? शान्तिधाम की ऊँचाई देख व्याकुल युवक फिर से उसी भट्टी में गिरने लगता है।

दृश्य कैसा भयंकर है !

युवक अचेत हो गया। पाप की जलती हुई भट्टी में गिरने ही को था कि मधुर स्वर में श्लोक सुनाई दिया—

असार संसार पयोब्धिमध्ये निमज्जता सद्भिरुदारवृत्तैः।
महात्मभिः संगतिरेव साध्या नान्यस्तदुस्तारणविध्युपायः ।।

आँखें खुल गईं। आगे एक दिव्य मूर्ति दिखाई दी। बाल सारे सफेद हैं, अस्सी वर्ष से कम आयु नहीं, परन्तु चेहरे पर एक भी झुर्री नहीं, शरीर रक्तमय लाल है परन्तु मुख से शान्ति का स्रोत बह रहा है। बाँह बढ़ाकर भट्टी में गिरने से युवक को बचा लेते हैं—"पुत्र ! शान्तिस्वरूप के राज्य में तू क्यों व्याकुल है ? अमृत के स्रोत की सृष्टि से क्यों मृत्यु की भट्टी में जा रहा है ?" युवक उस दिव्य मूर्ति के पीछे हो लेता है और आनन्द-भवन में पहुँचकर सन्तों का सहवास करता है। दूसरे ही दिन आश्चर्य से देखता है कि जहाँ वह कुसंग में दिनोंदिन नीचे गिर रहा था

वहाँ सत्संग के प्रभाव से अब बिना पर के ही ऊपर उठ रहा है। आज से कल उन्नति पर, और कल से परसों अधिकाधिक उन्नति की ओर, चित्र ही बदल चला है! ठीक है—

शठ सुधरहिं सत् संगत पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई।।

सत्संग की महिमा कौन वर्णन कर सकता है! इसके बिना ब्रह्म-प्राप्ति का कोई साधन नहीं। संसाररूपी भवसागर से पार उतरने के लिए सत्संग नौका के समान है। सत्संग के बिना विवेक नहीं होता और बिना विवेक के मनुष्य पापों और व्यसनों से बच नहीं सकता। माता विदुषी हो तो पहला उत्तम सत्संग होता है, जो बहुत-से गुणों का बीज बालक के हृदय में बो देती है। फिर सदाचारी पिता का सत्संग बालक के अन्दर शुभ आचार का पौधा उगाता है, जिसकी श्रेष्ठ आचार्य मिलने से पूर्ण रक्षा होती है। भाग्यशील हैं वे युवक जिन्हें प्रेममयी माता की गोद का सहवास मिला, जिन्वे धर्मात्मा सदाचारी पिता से सहायता मिली और जिन्हें सावित्री के गर्भ में प्रवेश कराके निःस्वार्थ तत्त्वज्ञानी आचार्य ने दूसरा जन्म दिया।

परन्तु यह सौभाग्य इस समय थोड़े ही पुरुषों को प्राप्त है। संसाररूपी सागर में बहते हुओं का सत्संग के सिवाय और कोई सहारा नहीं।

आज से ४० वर्ष पहले सत्संग-सभाओं का कुछ पता नहीं लगता। वह विज्ञापनों का युग न था। इसीलिए जिज्ञासु को प्रलोभनों से बचकर सत्संग करने के योग्य सज्जनों की तलाश करनी पड़ती थी। इस तलाश में जितना कष्ट होता था उतना ही फल भी स्वादिष्ट और स्वच्छ होता था। आज सत्संग बड़ा सुलभ है। बड़े-बड़े नगरों में तो शाम को सैर करने जाते हुए बीसियों सभाओं के नोटिस मिलते हैं। युवक इच्छानुकूल जिसमें चाहें चले जाते हैं। आजकल सत्संग सुलभ है। जितना ही सुलभ है उतना ही अपमानित भी है।

हे सभाओं के संचालको! तुम्हारा अधिकार बड़ा उच्च है और इसीलिए कर्तव्य बड़ा कठिन और उत्कृष्ट है। लाखों बालकों तथा युवकों के जीवन तुम्हारे आश्रित हैं। क्या तुम अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का यत्न न करोगे?

(५)
झूठी आशा का त्यागना ही जीवन है

अंगं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्।।

आशा देवी कैसी बलवती है ! अंग ढीले पड़ जायें, शिर श्वेत हो जाय, मुँह में दाँत न रहें, बूढ़ा होकर लाठी टेकने लग जाय, फिर भी आशा-समूह से मुक्त नहीं होता। आशा का चित्ताकर्षक चित्र केवल इंगलैण्ड के कवि कैम्बेल (Campbell) ने ही नहीं खींचा, अपितु प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति तथा प्रत्येक समय में कवि इसपर अपना दिमाग लड़ाते रहते हैं। फारसी के एक कवि ने कहा है—"दुनिया ब-उम्मीद कायम।" संसार-चक्र को आशा ही चला रही है।

डेरा इस्माइल खाँ के वार्षिकोत्सव से निवृत्त होकर दूसरे दिन कूच था। मैं नित्यकर्मों से निवृत्त होकर स्वाध्याय कर रहा था कि सामने एक विचित्र मूर्ति आ खड़ी हुई। सिर श्वेत परन्तु दाढ़ी-मूँछ भाँठी हुई, सारे शरीर पर बुढ़ापे का असर था, झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं, अस्थिपंजर मात्र, न मुँह में सब दाँत और न पेट में आँत, लेकिन सिर पर तिल्लेदार बाँकी टोपी, कानों में सोने की बालियाँ जिनमें शायद सच्चे मोती जड़े हुए, पैरों में कलाबतून के काम की जूती—विचित्र मूर्ति थी ! मैंने आँख उठाकर देखा, परन्तु जवाब न मिलने पर पढ़ने में लग गया। फिर भी जब मूर्ति सामने से न हटी, तब मैंने कहा—"आइये, बैठिए ! क्या आप ब्राह्मण हैं ? नमस्ते !" बूढ़े महाशय नमस्ते करके बैठ गये और पूछा—"आपने कैसे जाना कि मैं ब्राह्मण हूँ ?" मैंने उत्तर दिया—"आपके अभिवादन में पहल करने से रुकने के कारण।" ब्राह्मण देवता ने गुरुकुल की कुशल पूछी और चुप हो गये। मैं भी पढने में लग गया। जब पाँच मिनट चुप रहा तो ब्राह्मण देवता से न रहा गया, बोल उठे—"मैं हकीम हूँ, हरिद्वार में भी दो-तीन महीने इश्तिहार-बाँट कर रहा था, लोग पीछे पड़ गये कि हकीमजी यहाँ ही रहो, परन्तु हमने कहा कि हमें रुपये कमाने की आवश्यकता नहीं।" फिर स्वयं उन्होंने परीक्षा देना आरम्भ किया। यूनानी का प्रकरण कण्ठ से सुनाकर उन्होंने कहा कि वैद्यक में भी वह निपुण हैं। यह कहकर 'भाव प्रकाश में' दिया हरीतकी का सारा अध्याय तोते की तरह रटा हुआ सुना दिया। इसी पर ही बस न हुई, पश्चिमी चिकित्सा का भी दावा किया और उर्दू के 'मैटीरिया मेडिया' का एक भाग सुनाने लग गये। मैंने बहुतेरा कहा कि मुझे उनके ज्ञान पर विश्वास आ गया, लेकिन उन्होंने एक न सुनी और अपनी सारी कहानी सुनाकर दम लिया। फिर भी क्या दम लिया ? नहीं; बोले—"आपने पूछा नहीं कि मैंने हरिद्वार में क्यों इश्तिहार दिया ?" मैंने उत्तर दिया कि इसकी कुछ आवश्यकता न थी। हकीमजी बोले—"नहीं महाराज, मुझसे तो सब मित्र अपने मुँह से इश्तिहार सुनना चाहा करते हैं। जब मैं कहता हूँ कि लेकर पढ़ लो तो यही कहते हैं कि आपके सुनाने में हमें आनन्द आता है, मैं आपको भी सुना देता हूँ।" यह कहा और सारे का सारा इश्तिहार रटा-रटाया, सुना दिया। मैंने कहा—"आप बड़े गुणी हैं।" उत्तर मिला—"आपको अभी हमारे सब

गुण मालूम नहीं हुए, हम बालब्रह्मचारी हैं। हमने विवाह ही नहीं किया।" मेरी दृष्टि में उनका मान स्थापन होने लगा और मैंने कहा—"तब तो इस गिरे हुए समय में आप एक आदर्श पुरुष हैं! आप अवश्य गुरुकुल में पधारकर वहाँ के शिक्षाक्रम का अवलोकन करें।" मेरा कथन सुनकर देवता जी बहुत चकराये और बोले—"मैं तो विवाह करना चाहता हूँ। मेरे कई कुएं हैं और भूमि की आमदनी बहुत होती है। एक कठिनाई है, हमारे देश में वट्टे-सट्टे का विवाह होता है। जिस घराने में सम्बन्ध ढूंढता हूँ वहीं से उत्तर मिलता है कि हमारे कुमार के लिए लड़की दिलवाओ तो तुम्हारा भी विवाह हो सकता है। परन्तु हमारे कुल में दूर-समीप कोई लड़की नहीं है, फिर विवाह कैसे होता?" फिर मेरी ओर झुककर धीरे-धीरे बोले—"यदि आपके आस-पास कोई ब्राह्मण-कन्या हो तो मेरा विवाह करा दीजिए। रुपये की कुछ पर्वाह नहीं, हजार-दो हजार भी खर्च हो जाए तो तैयार हूँ!" ज्यों-ज्यों बूढ़ा बोलता जाता था मेरे मुंह पर आश्चर्य और घृणा का भाव स्पष्ट होता जाता था, परन्तु उसे कुछ पता न चला। मैंने कहा—"महाशय! श्मशान की तैयारी करो! यह क्या बातें कर रहे हो? तुम्हारी आयु क्या विवाह की है?" उत्तर घड़ा-घड़ाया था—"आप मेरी आयु क्या समझते हैं? अभी मेरी आयु २५ वर्ष की है। इससे अधिक नहीं!" मैंने कहा—"मैं ६० वर्ष का हूँ, मेरे-अपने शरीर का मुकाबिला करो।" देवता मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए बोले—"अभी चार महीने बहुत बीमार रह चुका हूँ, नहीं तो आप मेरे शरीर को देखते।" फिर न जाने उसे क्या ध्यान आया और खड़े होकर चलते-चलते बोले—"सच आप तो गुरुकुल में ब्रह्मचर्य का पालन कराया करते हैं, आपको विवाह के झगड़ों से क्या वास्ता?" बूढ़ा तो चला गया परन्तु मेरे मुँह से अनायास निकला—

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरंकितं शिरः।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते॥

शरीर और शरीर के सब अंग जितना ही शिथिल हो जाते हैं, तृष्णा उतनी ही जवान होती जाती है।

सच है—संसार-चक्र आशा के धुरे पर ही चल रहा है। तब क्या आशा ही जीवन है? यदि संसार-चक्र में चक्कर काटते रहना ही जीवन है तब तो आशा ही जीवन हो सकती है। नहीं तो कवि का कथन ठीक ही प्रतीत होता है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशं सुखं सुष्वाप पिंगला॥

बूढ़े हकीम की आशा का कुछ ठिकाना है? मुझे बतलाया गया कि बच्चे तक उसका उपहास करते हैं, परन्तु वह आशा में ही मग्न रहता है।

हममें कितने हैं जो इस 'आशानन्द' हकीम के अनुयायी नहीं? आशानन्द

की कहानी पर सभी हँसेंगे और उसकी निर्बुद्धिता पर शोक करेंगे, परन्तु समय आने पर क्या सौ मे से एक भी वीर निकलेगा जो तृष्णा का शिकार न हो जाये ?

संसार में आधे से ज्यादा दुःखो का कारण झूठी आशा है। टूटी हुई खटिया पर लेटे अफीमची की तरह कितने ही युवक हवाई किले खड़े करते और उन्हें टूटा हुआ देखते हैं।

नवशिक्षित युवक अपने हाथ में किसी महापुरुष का जीवन-चरित्र लेता है, उसका ध्यान उन साधनों और तपों की ओर नहीं खिंचता जो तैयारी के समय उसने किये। यदि चरित्रनायक धार्मिक संशोधक है तो युवक एकदम अपने-आप को लाखों का पूज्य देव बना हुआ देखना चाहता है। यदि नेपोलियन का जीवन पढ़ता है तो जागते स्वप्न में एकदम विजयी सेनापति बन जाता है। मुझसे एक ब्रह्मचारी ने बिना किसी भूमिका के पूछा—"हम नैपोलियन कैसे बन सकते हैं ?" मैं इसका क्या उत्तर देता ? चुप-सा रह गया। कुछ काल के पश्चात् ब्रह्मचारी को क्रियात्मक उत्तर मिल गया, और उसने 'आशा' को असली रूप में देख लिया।

आशा दुःखदायिनी नहीं, यदि उसमें स्वार्थ का आवेश न हो; स्वार्थ ही उसे परम दुःखदायी बना देता है। धर्मपरायण मनुष्य कभी झूठी आशा नहीं बाँधता, इसलिये उसे दुःख नहीं होता। बच्चे के मरने का दुःख इसलिये होता है कि उसके सदा जीते रहने की झूठी आशा बाँधी गई थी। व्यापार में १ लाख रुपये की आशा बाँधने पर उसे ९० हजार मिलने से जितना दुःख है उतना ही आनन्द उस आदमी को १०) मिलने से होता है जिसकी कभी रुपये कमाने की आशा ही नहीं बँधी थी। संसार में वैसे ही कुछ कम दुःख नहीं है कि आशा बाँधकर उनके पूरा न होने से अथाह दुःख-सागर में डुबकियाँ लेता फिरे। मनु भगवान् के इस उपदेश से कि "ब्राह्मण अपमान को अमृत के तुल्य ग्रहण करे और मान से विष की तरह भागता रहे" इस स्थान में शिक्षा लेनी चाहिये। जिस मनुष्य ने अपने किसी काम का आश्रय नहीं लिया और झूठी आशा को भी विष के तुल्य त्याग दिया है और जिसने निराशा को अमृतवत् अपनाया है वही अमर जीवन की ओर चलता है। आशारहित मनुष्य का जीवन समता का जीवन है, उसमें उतार-चढ़ाव नहीं होता। जहाँ द्वन्द्व है वहाँ दुःख है और जहाँ उतार-चढ़ाव हैं वहाँ द्वन्द्व अवश्य हैं। झूठी आशा बाँधना 'कुमति' का चिह्न है और आशाओं से सर्वथा मुक्त हो जाना 'सुमति' का प्रमाण है। गोस्वामी तुलसीदास ने सच कहा है—

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपद निधाना।।

मैं मान्य बन सकता हूँ, जगत् में प्रशंसा प्राप्त कर सकता हूँ, मुझमें क्या नहीं जो उन मनुष्यों में था जिनकी कीर्ति सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो रही है ? अभिमान

से युवक का सिर ऊँचा हो जाता है, सभाओं में जाता है तो करतालिका-ध्वनि की आशा में चारों ओर नजर घुमाता है, लेकिन कोई भी उसकी ओर आँख भरकर नहीं देखता। जब कुछ समय पश्चात् एक साधारण आकृति का आदमी सादे, स्वच्छ, स्वदेशी वस्त्र पहने नीचा सिर किये सबके पीछे बैठने लगता है तो मण्डप में खलबली मच जाती है। गड़बड़ देख सामयिक प्रधान उस ओर तिरछी निगाह डाल कुछ बोलने को ही है कि आगत साधारण वस्त्रवाले, सिर नीचे किये युवक पर दृष्टि पड़ती है। सारी सभा एकदम उठ खड़ी होती है, करतालिका-ध्वनि से सभा-मण्डप गूंज उठता है। युवक को वेदी पर लाया जाता है और जनता एक स्वर से बोलती है—

'बोलो अनाथों, निराश्रयों के सेवक ब्रह्मचारी सर्वानन्द की जय!' युवक न ग्रेजूएट है, न धनाढ्य है, न बहुत शारीरिक बल रखता है और न ही इसका दिमाग ऊँचा उड़ता है, प्रत्युत नीचा सिर किये, बिना किसी फल की आकांक्षा के इसने प्लेग-पीड़ित (माता, पिता, बन्धु, पति-पत्नी से त्यागे हुए) नर-नारियों की सेवा की है। दिन-रात एक करके इसने कई निराश्रित बालकों को बचाया है। जिन्हें हकीम-वैद्य-डॉक्टर भी त्याग गये उन्हें अपने प्रेम से मृत्यु-मुख में जाते-जाते इसने खींच लिया है। यहाँ न दलील की जरूरत, न अपील की आवश्यकता, भरे हुए हृदय वह निकले हैं, और उस शुद्धात्मा की परिक्रमा कर रहे हैं।

पाठकवृन्द! श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग तुम्हारे सामने हैं। भगवान् तुमको सुमति दे कि तुम सच्चे मार्ग का ही अवलम्बन करो।

(६)
कल्याणकारी सत्य का आचरण करो!

साँच को आँच नहीं। हम तो खरी-खरी ही सुनायेंगे, हम कुछ उठा न रक्खेंगे। कोई बिगड़ा या कुढ़ा, हमें तो ज्यों का त्यों कहने का प्रयोजन है। इन शब्दों से आज भारतवर्ष का नभ-मण्डल गूंज रहा है। आज सभी सत्यवादी हैं। सम्पादक और पत्र-प्रेरक, उपदेष्टा और अनुगामी सभी सचाई की बुनियादी पर वाग्जाल का प्रसाद खड़ा कर रहे हैं। चारों ओर से यही शब्द सुनकर युवक को भी साहस हुआ और उसने समालोचना की रंगभूमि में प्रवेश करते हुए उच्च स्वर से कहा—

सत्ये नास्ति भयं क्वचित्।

युवक आर्यसमाज का सभासद् है, दृढ़ वैदिक धर्मी है। फिर पुराने निरर्थक नाम से घृणा क्यों न होती? 'लट्टूमल' भला यह भी कोई नाम है। अज्ञानवश माता-पिता ने ऐसा नाम रख दिया; अब सार्थक नाम रक्खेंगे। हमने सत्य के प्रकाश

का बीड़ा उठाया है, इसलिये आज से 'सत्यकाम' हमारा नाम हुआ।

महाशय सत्यकाम पग-पग पर सचाई की खोज में रहते हैं। एक उपदेशक महाशय एक महिला से बातचीत कर रहे थे। महिला का पति धन कमाने के लिए विदेश में गया था। ब्रह्मदेश(वर्मा)में वह डॉक्टर था। उपदेशक जी अभी ब्रह्मा से प्रचार करके आये हैं। देवी अपने पति का समाचार पूछ रही है। युवक के पास एक पुराने पापी आ पहुँचे और कुहनी मारकर कान में कहा—'कुछ देखा ? ऐसे उपदेशक हैं ! ' युवक चकित-सा रह गया। पुराने पापी ने कहा—'देखो औरत का चेहरा प्रसन्न है, पराई स्त्री को यह प्रसन्न करनेवाले उपदेशक हैं।' उस समय उपदेशक बतला रहे थे कि देवी के पति डॉक्टर साहब के सदाचार की धूम है और राजरोगी को राजी करने पर उन्हें जनता की ओर से विशेष प्रशंसापत्र तथा चाँदी के हवन-पात्र मिले हैं। इसपर देवी का मुख आह्लाद से भर गया था। परन्तु युवक ने पुराने पापी की विषमयी वाणी को सुना और निश्चय कर लिया कि उपदेशक महोदय गिरे हुए व्यभिचारी हैं। पुराने पापी ने चलते समय कहा—'हम लोग तो नीच हैं, हौसला नहीं रखते। आप निडर महात्मा हैं, पाप का भण्डा फोड़ना चाहिये।'

"हम सत्य को छिपा नहीं सकते"

हम सत्यकाम हैं। हम सारे जहान में इस पाप को प्रसिद्ध कर देंगे। उसी दिन से श्री सत्यकाम जी ने अपने और बेगाने, सबमें ढिंढोरा पीटना शुरू कर दिया। देवी अपने तीन बच्चों समेत जब दूसरे सप्ताह आर्यसमाज के साधारण अधिवेशन में गई तो स्त्रियों का व्यवहार बदला हुआ देखा। पतिव्रता सती देवी कुछ न समझ सकी। उपदेशक महाशय दौरे पर चले गये। देवी को कोई पूछनेवाला न रहा। प्रधान, मन्त्री सबकी त्योरियाँ बदल गईं और सत्यवादी 'सत्यकाम' का मिशन पूरा हुआ। कृतकार्यता के मद ने अन्धा कर दिया। पुराने पापी ने पगड़ी उतरवानी चाही, उतरवा दी। उपदेशक ने लौटकर जब यह जन-अपवाद फैला हुआ देखा तो हैरान हो गया। परन्तु कहे क्या ? और कहे किससे ? यदि एक को समझावे तो वह आगे इस प्रकार बात चलायेगा—'घटना तो मान ली, शेष भी ठीक ही होगा।'

तीन महीने के बाद डॉक्टर साहब बर्मा से लौटे। उनके पास घर का सारा समाचार उपदेशक जी भेजा करते थे। धर्मपत्नी पतिव्रत-धर्मपालन में वैसा ही दत्तचित्त थी जैसे पत्नीव्रत-धर्म में डॉक्टर साहब। घर में बधाई और प्रसन्नता का राज्य हुआ। इस रंग में भंग डालने के लिए पुराने पापी डॉक्टर के पास पहुँचे और सत्यकाम की करतूत स्वयं वर्णन कर दी। डॉक्टर केवल सदाचारी ही न थे, प्रत्युत बुद्धिमान् भी थे। उन्होंने सत्यकाम से मिलकर प्रेमपूर्वक सारा हाल पूछा और कहा—"युवक ! उपदेशक जी तो मेरे सच्चे भाई हैं, मेरी प्रार्थना पर ही वह मेरे घर का सारा समाचार भेजते रहे। क्या तुमने स्वयं कुछ देखा या सुना था ?

या तुमने किसी के बहकाने से ऐसा अपवाद फैलाया ?" युवक की आँखें खुल गईं, उसे सब-कुछ स्मरण हो आया और व्याकुल होकर पूछा—"डॉक्टर जी ! आपके कथन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने पाप किया है, परन्तु मैंने जो कुछ कहा अपने ज्ञान के अनुसार सत्य ही कहा, उससे हानि अवश्य बहुत हुई। फिर भी मुझे भ्रम है कि जब अपने अन्तःकरण के निश्चयानुसार मैंने सच बोला तो मैं पापी कैसे हो सकता हूँ ?"

डाक्टर साहब ने तत्काल ही पातञ्जल योगदर्शन का व्यास-भाष्य खोला और द्वितीय साधनपाद के सूत्र ३० पर नीचे का भाष्य पढ़ने लगे—

'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथादृष्टं यथानुमितं तथा वाङ्म। न इचेति। परत्र स्वबोध संक्रान्ये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या ता भवेदिति। एवा सर्वभूतोपकारार्थ प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैवमप्याभि-धीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्य प्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।'

'जिसमें मन और वाणी यथार्थ रहें। जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो, जैसा सुना हो वैसा ही अपने मन और वाणी को रखना चाहिए। दूसरे मनुष्य में अपने ज्ञान की प्रेरणा को जो वचन कहा जाये, वह छल-कपट-भरा, भ्रम में डालने वाला और निरर्थक न हो। सब प्राणियों के उपकार के वास्ते कहा गया हो, प्राणियों के नाश के वास्ते न कहा गया हो, यदि वह कहा हुआ वाक्य प्राणियों के नाश का हेतु हो तो सत्य न होगा। उसके अनुसार आचरण करने से पाप ही होता है। पुण्य के नाम से जो स्वार्थ साधन किया जाता है इस अपुण्य के कृत्य से मनुष्य अत्यन्त कष्ट पाता है। इसलिये परीक्षा करके जिसमें सब प्राणियों का हित हो वह सत्य बोले।'

ज्यों-ज्यों डॉक्टर महाशय भाष्यादि पढ़ते जाते थे, सत्यकाम की व्याकुलता बढ़ती जाती थी। समाप्ति पर शान्त होकर उसने डॉक्टर महोदय को नमस्कार किया और क्षमा की प्रार्थना की। डॉक्टर ने कहा—'प्रिय आर्य युवक ! क्षन्तव्य कुछ है ही नहीं तो क्षमा की प्रार्थना क्या ! तुमने सत्य का वास्तविक स्वरूप देख लिया, मुझे सब-कुछ मिल गया।

सत्यकाम नदी के किनारे एकान्त में जा बैठा। उसके हृदयपट पर गत तीन-चार मास की घटनाओं के चित्र खिंचते गये। उसने आश्चर्य से देखा कि जिसे उसने पुण्य समझा था वह अपुण्य ही था। पुण्य-पाप की तुलना परमात्मा के लिए है, अल्पज्ञ निर्बल मनुष्य क्या तुलना कर सकेगा ?

सत्यकाम ने उसी समय अपने जीवन पर दृष्टि डाली तो उसमें बीसियों कमियाँ दिखाई दीं। अपनी निर्बलताओं की सूची देख उसका हृदय भर आया और उसने अपने हृदय को परमात्मा के आगे झुकाकर आत्म-सुधार की मानसिक

प्रतिज्ञा की, और इस लोकोक्ति का मन से पाठ करता हुआ लौटा—'तुझको पराई क्या पड़ी, अपनी नबेड़ तू।'

(७)
आश्रमादाश्रमं गच्छेत्

"आवश्यकता है चतुर्थाश्रमियों की, जो आर्यसमाज के मन्तव्यानुसार वैदिक धर्म का उपदेश करें।" इस प्रकार के विज्ञापन आज आर्यसामाजिक अखबारों की शोभा को बढ़ा रहे हैं। चित्ताकर्षक और मनोरंजक शीर्षक देकर आर्य अखबारों ने संन्यासाश्रम की पूर्ति की आवश्यकता को बड़ी मर्मभेदक अपीलों द्वारा बतलाया। अपील का असर क्या हुआ, यह जानना आवश्यक है।

बूढ़े डिप्टी साहब ने ५६ वर्ष की आयु में बूढ़ों के नाम की पुकार पढ़ी। बुड्ढो! तुम संसार के विषयों में लिप्त हो रहे हो? बहुत कमाया, बहुत खाया और खिलाया, अब तो कुछ परोपकार कर लो! संन्यास लेना तुम्हारा कार्य है।" आयु के दो वर्ष कम लिखाकर ५६ में ५४ बने हुए डिप्टी साहब अभी एक वर्ष की रियायत और लेने की फिक्र में थे। अखबार की अपील काम कर गई और नौकरी का समय बढ़ाने की तृष्णा को जवाब देकर पैन्शन लेने को तैयार हो गये। पैन्शन लेकर सीधे अखबारवाले के पास, दीक्षा लेने के विचार से लाहौर पहुँचे तो क्या देखते हैं कि बुढ़ापे पर जवानी की लहर चल रही है और सम्पादकाचार्य जी मुतस्त्रीक होते हुए भी मूँछों पर मेंहदी लगाये और उन्हें ऊपर चढ़ाये गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। उधर से निराश होकर धर्म की प्यास बुझाने के लिए आर्यसमाज के वृद्ध पुरुषों की ओर झुके और उपनिषद् तथा योग का सार जानना चाहा। वहाँ किसे अवकाश था? बूढ़े से बूढ़ा वोटों (Votes) के हासिल करने और विपक्षी दल को गिराने की फिक्र में लगा हुआ है। तब बूढ़ा पैन्शनर एक ठण्डी साँस भरकर लौट आया और फिर उसने आर्यसमाज का द्वार न देखा।

बूढ़े डिप्टी का दृष्टान्त आगे रखकर एक 'पुरजोश नौजवान' अधिकार पर प्राण देनेवाले एक पेन्शनवर के पास पहुँचा और विवश होकर बोला, 'कैसा सच्चा सज्जन, रत्न, धर्म की रक्षा के लिए मिल रहा था! आपस का लड़ाई-झगड़ा देख समाज से उपराम होकर चला गया। यह पाप किसके सिर चढ़ेगा? पैन्शनर अधिकारी बोले—'अरे छोकरे! जब हम सरकारी नौकरी करते थे तब तो हमारे पीछे पड़कर तुम लोगों ने हमें यहाँ बुलाया, अब हमें धत्ता बतलाना चाहते हो? अरे! सामाजिक क्षेत्र में तो जवानी हमपर अब चढ़ी है, अब कैसे छोड़ दें।' युवक निराश होकर लौट आया।

बूढ़े सम्पादकाचार्य की अपील जब कुछ फल न लाई तो जवान सम्पादक ने

अपील शुरू की—'आर्यसमाज के नौनिहालो ! सब-कुछ तुम्हीं ने करना है। जब बूढ़े नहीं हिलते तो तुम मैदान में निकलो और संन्यास लेकर अपना तन, मन, धन वैदिक धर्म पर न्योछावर कर दो। बूढ़ों की प्रतीक्षा मत करो ! ऋषि दयानन्द ने कब गृहस्थ लिया था ? यदि वह बुढ़ापे की प्रतीक्षा करते तो धर्मप्रचार कैसे होता ? नौजवान उपस्नात(under-graduate)को जोश आया और वह दृढ़व्रती होने के लिए सम्पादक महाशय की शरण में पहुँचे। वहाँ वेतन के १५० रुपये गिनवाए जा रहे थे। गृहस्थ के सब भोग विद्यमान थे। बिरादरी के साथ सम्बन्ध स्थिर रखने की सभाएँ हो रही थीं। विपक्षी अखबारनवीस के विरुद्ध मन्सूबे गढ़े जा रहे थे। युवक स्तंभित हो गया, क्या पूछे और किससे पूछे ? युवक की यह दशा देख एक अनुभवी स्वतन्त्र विचारक ने पूछा—'युवक ! आश्चर्य में क्यों डूब रहे हो ? क्या अचम्भा देखा ?' युवक ने उत्तर दिया—'महाराज ! अचम्भे की क्या कहूँ ? इन सम्पादक जी की दर्दनाक अपील पढ़ मैं संन्यास लेने आया था, यहाँ रंग-ढंग देखकर विस्मित हो गया हूँ, अन्धा अन्धे का पथ-प्रदर्शक कैसे बनेगा ? इन्हें देखकर कौन युवक संन्यासी होगा ?' स्वतन्त्र विचारक बोले—'तुमने क्या तुलसीकृत रामायण नहीं पढ़ी ? नहीं तो अब पढ़ो। गोस्वामी जी लिखते हैं—

नारि मुई घर सम्पति नासी।
मूंड मुँडाय भये संन्यासी।।

इनकी धर्मपत्नी जीवित है, बिरादरी में मान है, परमेश्वर की दया से घर में ऋद्धि-सिद्धि सभी कुछ है, फिर यह संन्यासी कैसे हो ?' युवक निराश हो लौटा और पढ़ाई में चित्त लगाने को तैयार हुआ। लेकिन उखड़ा दिल क्या फिर जमता है ? युवक के मानस-पटल पर उस कृतकार्यता का चित्र अंकित हो चुका था जोकि उसे होनेवाली थी। एक सुन्दर युवक, केश छेदन कराये और भगवा चोला पहने सभा-मण्डप में पहुँचता है, करतालिका-ध्वनि से सभामण्डप गूँज उठता है। संन्यासी निडर हो बुराइयों पर कोड़े लगा रहा है और जनता चित्रवत् बैठी है। पापी अनुताप कर रहे हैं और उनके जीवनों में पलटा भी आ रहा है। कहाँ वह दिव्य चित्र और कहाँ किरोसीन लैम्प के सामने फिर से रटना !

व्याकुल युवक घर जाकर भी कुछ पढ़-लिख न सका। एकदम शिखर से गिर पड़ना किसे व्याकुल नहीं कर देता ! एक वृद्ध वैदिक धर्मी सज्जन जो समाचार-पत्रों और सामाजिक झगड़ों से अलग हैं, युवक के अन्दर आये परिवर्तन को देखते हैं, एकान्त में ले-जा बड़े प्रेम और सहानुभूति से बातें करते हुए उसका सारा हाल जान लेते हैं। एक उच्च विचार उठाकर उसे नीचे पटक देना युवक को पाप-कर्म प्रतीत होता है, इसीलिये वह उदासीन है। वृद्ध महाशय उसे अपने घर ले जाकर मनुस्मृति देते हैं। युवक पढ़ता है—

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।। ६ । ६०
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्मकारणम् ।। ६ । ६६

"जो संन्यासी बुरे कर्मों से इन्द्रिय-निरोध, रागद्वेषादि दोषों का क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है। मूर्खों से दूषित किये हुए भी जो धर्म करता है वह चाहे किसी आश्रम में हो, समदर्शी होने से संन्यासी है। केवल धर्म-चिह्न (काषाय वस्त्र) धर्म का कारण नहीं।" युवक के पुराने संस्कार जाग उठे और वह गाने लगा—'जब रंगा नहीं उस रंग में तो क्या गहने रँगने से।' वृद्ध न गद्‌गद होकर आशीर्वाद दिया और युवक विदा हो अपने मन्तव्य में लग गया

व्यष्टि तथा समष्टि धर्म

स्फुट लेख

(१)

स्वाध्याय के बाह्य नियम

यजुवद के तैत्तिरीयोपनिषद् के द्वितीय अनुवाक में शिक्षा की व्याख्या की है—

"ओम्—शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानाः। इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।"

अर्थ—परमात्मा का निज नाम लेकर शिक्षा हम कहेंगे। (हे शिष्यो ! सुनो !) अकारादि वर्ण[1], उदात्तादि स्वर[2], ह्रस्वादि मात्रा[3], आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न[4], शान्तिपूर्वक मध्यम वृत्ति से वर्णों का उच्चारण और परस्पर वर्णों का मेल (संहिता) इस प्रकार से शिक्षाध्याय कहा है।

गुरु के वाक्यों को सुनकर शिष्य शिक्षा लेना आरम्भ करता है, तब आरम्भ में ओम् का ध्यान करके मंगलाचरण करता है।—**"सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम्"**। हम दोनों—शिष्य और गुरु—का यश साथ ही प्रचरित रहे और हम दोनों का ब्रह्मतेज (वेद से प्राप्त हुआ तेज) साथ ही हो।" अर्थात् स्वाध्याय का आरम्भ करने के पहले शिष्य को श्रद्धापूर्वक यह वाक्य बोलने चाहिएँ।

अब देखना चाहिए कि यजुर्वेद के प्रातिशाख्य में (कात्यायन ऋषि ने) क्या उपदेश दिया है। प्रातिशाख्य के प्रथम भाग में पहले शब्द, रूप, प्रयत्न, स्थानादि का वर्णन करके सोलहवें सूत्र में कहते हैं—

ओंकार स्वाध्यायादौ

स्वाध्याय का आरम्भ ओंकारपूर्वक करना चाहिए, यह सूत्र का तात्पर्य है। मनु महाराज ने भी कहा है—

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
क्षरत्योङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते॥

—॥ अ० २। श्लोक ७४॥

'वेद पढ़ने के प्रारम्भ में सदा प्रणव (ओ३म्) का उच्चारण करे और अन्त में भी। यदि पूर्व में और अन्त में प्रणव का उच्चारण न करे तो उसका पढ़ा हुआ

धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है।' यह ठीक ही है। जो पाठ श्रद्धा के बिना किया जाता है उसका स्मरण चिरस्थायी नहीं होता। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है—

ओंकाराथकारौ ॥१७॥

स्वाध्याय के आदि में जो ओंकार के उच्चारण की प्रतिज्ञा है वह अखण्ड्य नहीं क्योंकि उसके तुल्य ही फल 'अथ' शब्द का भी है। मनु ने भी कहा है—

ओंकारश्चाथकारश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मंगलावुभौ॥

यह ठीक है परन्तु इनमें से—

ओंकारं वेदेषु ॥१८॥

ओंकार का उच्चारण वेद के स्वाध्याय के आदि में करने की ही विधि है। और—

अथकारं भाष्येषु ॥१९॥

भाष्य के स्वाध्याय के आदि में "अथ" शब्द के प्रयोग की विधि है। चार संहिता—मूल वेद के अतिरिक्त जितने भी (ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, उपांगादि) ग्रन्थ हैं वे सब वेद के भाष्यरूप हैं।

अब स्वाध्याय की तैयारी का वर्णन है

प्रयतः ॥२०॥

स्वाध्याय के प्रयत्न के बाह्य साधन क्या हैं? इसपर भाष्यकार **'उव्वट'** कहते हैं—**'प्रयतः शुचिरुच्यते; पादशौचाचमनादिना शुचिरधीयीतेत्यर्थः'**॥ स्वाध्याय का आरम्भ करने से पहले हाथ-पैर आदि धोकर आचमन से कण्ठ-शुद्धि करनी चाहिए। फिर—

शुचौ ॥२१॥

शुद्ध तथा एकान्त देश में अध्ययन करना चाहिए। न केवल अकेले विद्यार्थी के लिए एकान्त देश में अध्ययन करने की विधि है प्रत्युत गुरुकुल तथा अन्य विश्व-विद्यालय भी स्वच्छ एकान्त देश में होने चाहिएँ। इसका फल आत्मा की शुद्धि होगा और बिना आत्म-शुद्धि के स्वाध्याय का उद्देश्य ही प्राप्त नहीं होता। इसी-लिए कहा है—

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः॥

जब आत्मा को स्थिर कर लिया और एकान्त स्थान भी प्राप्त हो गया तब आसन की विधि कही जाती है—

इष्टम् ॥२२॥

जिस आसन (बैठने के प्रकार) में बैठकर स्वाध्याय में विघ्न न पड़े, उसी

आसन का अभ्यास करना चाहिए। औंधे लेटकर कोई पुरुष सूक्ष्म विचारों को अपने अन्दर स्थान नहीं दे सकता; जैसे आराम-चौकी पर बैठकर व्यायाम करने की चेष्टा निष्फल है। इसलिए ऐसे आसन पर बैठकर स्वाध्याय करना चाहिए जिससे स्वाध्याय में विघ्न न होकर पूरी सफलता प्राप्त हो।

परन्तु क्या सब ऋतुओं में एक-सा स्वाध्याय हो सकता है? नहीं! ऋतु-भेद से स्वाध्याय के समय में भी परिवर्तन होगा। दृष्टान्त के तौर पर सूत्रकार कहते हैं—

ऋतुं प्राप्य ॥२३॥

भाष्य—'हेमन्तमृतुं प्राप्य रात्र्याश्चतुर्थप्रहरेऽधीयीत।'

हेमन्त (बहुत जाड़े की) ऋतु में रात के चौथे पहर में उठकर पढ़े। इससे स्पष्ट विदित होता है कि हेमन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य सब ऋतुओं में रात को पढ़ना मना है, और उस ऋतु में भी पहली रात पढ़ने के लिए वर्जित है। फिर पढ़ने में विशेष नियम का पालन—

योजनान्न परम् ॥२४॥

भाष्य—"अधीयानो योजनात् परमध्वानं न गच्छेत्।"

अर्थात् पढ़ते हुए एक योजन से आगे न जायें। यह विधि विचित्र प्रतीत होगी। परन्तु जब यह नियम है कि गुरुकुल नगर से एक योजन की दूरी पर होना चाहिए, तब समझ में आ जाता है कि जहाँ भ्रमण करता हुआ पाठ पर विचार करता रहे वहाँ विचारते-विचारते सीमा से बाहर न निकल जाय। विद्यार्थी-जीवन में भोजन कैसा करना चाहिए—

भोजनं मधुरं स्निग्धम् ॥२५॥

भाष्य—"मधुररसप्रायं घृतप्रायं चान्नं भुञ्जीत।"

अर्थात् मधुर-रसप्रधान और घृतप्रधान अन्न का भोजन करना चाहिए। रूखा, तीखा, खट्टा आदि भोजन का तो मधुर शब्द से ही खण्डन हो गया। फिर भी जहाँ मस्तिष्क को ठीक रखने तथा शारीरिक बल की स्थिरता के लिए घृत की आवश्यकता है वहाँ रसप्रधान भाजी-दाल आदि के सेवन से गरिष्ठ भोजन का भी निषेध हो गया। ब्रह्मचारी के लिए सब प्रकार के हानिकारक तथा काम-क्रोधादि को उत्तेजित करनेवाले भोजन मना हैं।

(२)

संन्यास-विच्छेद वा उद्धार?

वर्णाश्रम-व्यवस्था वैदिक धर्म का मौलिक सिद्धान्त है। आर्य सभ्यता का यही आधार था और संसार की अन्य सभ्यताओं से इसका भेद जतलानेवाला यही मुख्य धर्म है। इसलिए यदि आर्य वैदिक धर्म की सामयिक स्थिति का पता

लगीनी हो तो यह जानने की आवश्यकता है कि उस समय वर्णाश्रम-व्यवस्था की क्या दशा है।

वर्णों की इस समय क्या दशा है? इसपर कई बार विचार हो चुका है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की व्यवस्था गुण-कर्मानुसार इस समय नहीं होती —यह सभी विचारशील सज्जन मानते हैं और इसी के साथ यह भी अनुभव कर रहे हैं कि गृहस्थाश्रम की अधोगति का कारण भी यही है। जन्म पर जातियों का निर्भर जिस देश में हो वहाँ अराजकता (Anarchism) और नास्तिकता (Nihilism) का राज्य हो जाता है। यूरोप और अमेरिका में जहाँ-जहाँ कुशासन और नास्तिकता का दौर-दौरा दिखाई देता है वहाँ इसका कारण धनियों, अमीरों तथा राजकुमारों के स्वार्थ में ही ढूंढना पड़ता है। भारतवर्ष में भी इस समय अराजकता तथा नास्तिकता को दूर करने के लिए एक साधन है, और वह यह कि जात-पात के गढ को चकनाचूर करके गुण-कर्मानुसार वैदिक वर्ण-व्यवस्था की फिर से स्थापना की जाय।

यह काम इस समय बड़ा कठिन प्रतीत होता है। ब्रह्म-समाज, भ्रातृ-समाज, यह समाज और वह समाज, यहाँ तक कि आर्यसमाज भी वेदशास्त्र का शस्त्र हाथ में लेकर प्रयत्न कर चुका, परन्तु किसी का भी वश न चला। बिरादरियों के मगरमच्छों ने इन सबको पेट में धरकर डकार तक न ली। बड़े-बड़े जोशीले सुधारक नौजवान जब बिरादरी के सामने हुए तो उसकी एक झपट भी सहने की शक्ति उनमें न दिखाई दी। उस समय समझ में आया कि जिसकी बुनियाद खोखली हो वह प्रासाद कब तक खड़ा रह सकता है? जहाँ ब्रह्मचर्यरूपी कंकरीट ही बुनियाद में नहीं कूटा गया वहाँ गृहस्थरूपी महल कैसे ठहर सकता है? आर्य जनता की आँखे खुल गईं।

चारों ओर से ब्रह्मचर्याश्रमों के खोलने की पुकार मच गई। गुरुकुल खुले और काम होने लगा। गुरुकुल कांगड़ी में वायुमण्डल ही ऐसा हो गया कि देखने-वालों की दृष्टि में वैदिक वर्ण-व्यवस्था की स्थापना तथा पुनरुद्धार का समय समीप दिखाई देता है। परन्तु परिणाम यहाँ भी निकलता दिखाई नहीं देता, यदि काम सावधान होकर न किया गया। अपने-अपने परिवारों के प्रभाव यहाँ के स्नातकों पर भी शीघ्र पड़ते हैं। जिनके माता-पिता दृढ़ सुधारक हों, उन्हीं से सुधार हुआ है। अन्य किसी को भी यह दृश्य दिखाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ कि वह धर्म पर रहे, नियम भाव से अपने मन्तव्य को कार्य में परिणत कर सके।

गृहस्थ की व्यवस्था ठीक नहीं—उसका प्रभाव ब्रह्मचर्याश्रम पर बिना पड़े नहीं रह सकता। यह अव्यवस्था कैसे दूर हो?

इस प्रश्न का उत्तर भी हमें प्राचीन काल में ही ढूंढना पड़ेगा। आर्यजाति में

जब-जब धर्म-मर्यादा से जनता डाँवाडोल हो च्युत होने लगी, तभी-तभी उस मर्यादा को स्थिर रखने के लिए चतुर्थाश्रमी संन्यासियों ने ही बीड़ा उठाया। इस समय भी ब्रह्मचर्य और गृहस्थ की बिगड़ी दशा को मर्यादा में बाँधने और निर्भय हो धर्म-प्रचार करने के लिए संन्यासी ही आगे होने चाहिए थे। परन्तु संन्यासाश्रम की इस समय क्या अवस्था है ? भगवान् कृष्ण ने कहा है—

'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।'

आजकल हम गृहस्थियों से बढ़कर संन्यासियों को कामनाओं का दास देखते हैं। आर्यसमाज ने जो संन्यासी उत्पन्न किये और ऋषि दयानन्द ने जो संन्यास का लक्षण बतलाया उसपर विचार करना पीछे के लिए छोड़कर यहाँ यह दिखलाना अभीष्ट है कि जिन शंकराचार्य महाराज के आदेशानुसार आजकल के बालक दशनामी संन्यास धारण करते हैं उनके मत में भी संन्यासाश्रम का क्या गौरव था।

चतुर्थाश्रम को संन्यासाश्रम कहते हैं। उसमें रहनेवालों के, धर्म-भेद से, दस नाम हैं। 'बृहच्छङ्कर विजय' में उनका इस प्रकार वर्णन है—

तीर्थाश्रमवनारण्यगिरिपर्वतसागराः ।
सरस्वतीभारती च पुरीति दश कीर्तिताः ।।

तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी—ये दस प्रकार के संन्यासी हैं। अब क्रमशः उनमें से भी प्रत्येक का लक्षण करते हैं—

१. तीर्थ लक्षण

त्रिवेणी संगमे तीर्थे तत्त्वमस्यादि लक्षणे ।
स्नायात्तत्त्वार्थभावेन तीर्थनामा स उच्यते ।।

अर्थ—**'तत्त्वमसि'** आदि महावाक्य जिसका स्वरूप है, त्रिवेणी-संगम-तीर्थ में सत्य वाक्यार्थ को समझकर जो स्नान करता है, उसको 'तीर्थ' संन्यासी कहते हैं।

२. आश्रम लक्षण

आश्रमग्रहणे प्रौढ़े आशापाशविवर्जितः ।
यातायातविनिर्मुक्त एतदाश्रमलक्षणम् ।।

अर्थ—आशा आदि बन्धनों से रहित व्यावहारिक गमनागमन से पृथक् संन्यासाश्रम ग्रहण में उत्कट इच्छावाला, 'आश्रम' नाम का संन्यासी कहाता है।

३. वन लक्षण

सुरम्ये निर्झरे देशे वने वासं करोति यः ।
आशापाशविनिर्मुक्तः वननामा स उच्यते ।।

अर्थ—वन में शान्त रमणीय जलमय प्रदेश में, सब आशाओं को छोड़कर जो वास करता है उसे 'वन' नामक संन्यासी कहते हैं।

४. अरण्य लक्षण

अरण्ये संस्थितो नित्यमानन्दनन्दने वने।
त्यक्त्वा सर्वमिदं विश्वं अरण्यं लक्षणं किल॥

अर्थ—सांसारिक सब पदार्थों को छोड़कर आनन्दप्रद उत्तम वन में जो नित्य निवास करता है वह 'अरण्य' नामक संन्यासी कहाता है।

५. गिरि लक्षण

वासो गिरिवरे नित्यं गीताभ्यासे हि तत्परः।
गम्भीराऽचलबुद्धश्च गिरिनामा स उच्यते॥

अर्थ—उत्तम पर्वत में जिसका निवास हो और गीता का अभ्यास करता हो, स्थिरबुद्धि, दूरदर्शी 'गिरि' नाम का संन्यासी होता है।

६. पर्वत लक्षण

वसेत्पर्वतमूलेषु प्रौढ़ो यो ध्यानधारणात्।
सारात्सारं विजानाति पर्वतः परिकीर्तितः॥

अर्थ—जो पर्वत-गुफाओं में रहता हुआ ध्यान-धारणा (योगशास्त्रोक्त) से अचल होकर सार को (बल-बुद्धि-वैभव से परमात्मा को) जानता है वह 'पर्वत' नामी संन्यासी कहाता है।

७. सागर लक्षण

वसेत्सागरगम्भीरो न च रत्नपरिग्रहः।
मर्यादश्च न लंघेत् सागरः परिकीर्तितः॥

अर्थ—समुद्र के समान गम्भीर, धनरत्न आदि का न लेनेवाला और शास्त्रीय मर्यादा में रहनेवाला 'सागर' नामक संन्यासी कहाता है।

८. सरस्वती लक्षण

स्वरज्ञानवशी नित्यं स्वरवादो कवीश्वरः।
संसारसागरे साराभिज्ञो यो हि सरस्वती॥

अर्थ—स्वरोदय के जाननेवाला और स्वर के बल से रहनेवाला, संसार-समुद्र के सार को परखनेवाला 'सरस्वती' नामक संन्यासी कहाता है।

९. भारती लक्षण

विद्याभारेण सम्पूर्णः सर्वभारं परित्यजेत्।
दुःखभारं न जानाति भारती परिकीर्तितः॥

अर्थ—ज्ञानभार से पूर्ण सांसारिक सर्वभारों को छोड़ता हुआ जो मनुष्य दुःख-सुख को कुछ नहीं समझता वह 'भारती' नामक संन्यासी कहलाता है।

१०. पुरी लक्षण

ज्ञानतत्त्वेन सम्पूर्णं पूर्णतत्त्वपदे स्थितः।
परब्रह्मरतो नित्यं पुरीनामा स उच्यते॥

अर्थ—यथार्थ ज्ञान को उपलब्ध कर पूर्णज्ञानी, स्वरूप को पहचाननेवाला, परब्रह्म में सर्वदा लीन रहनेवाला 'पुरी' नामक संन्यासी कहलाता है।

शंकर स्वामी ने इन दश नामों में से किसी को भी स्वयं ग्रहण नहीं किया था। उनके पीछे विद्यारण्य स्वामी ने ही बुनियाद डाली प्रतीत होती है। उन्होंने जिस लिए यह नामभेद किया वह गनांक के छः श्लोकों से विदित है। परन्तु आज क्या दशा है? अनादित्रय को माननेवाले आर्यसमाजी पण्डित भी लोभ के कारण यदि संन्यास लेते हैं तो वे भी तीर्थ की उपाधि धारण करते हैं। तब क्या 'तत्त्वमसि' आदि नवीन वेदान्तियों के माने हुए महावाक्यों पर उनको विश्वास है? विश्वास से क्या मतलब! यहाँ तो काम चलाने से मतलब है। विशेषाश्रम नामधारी जिन व्यक्तियों को व्यवहार से अलग हो, आशापाश से मुक्त हो, हरि-भजन करना चाहिए था, वे स्वयं तृष्णा के दास बने रहे हैं। 'वन' नामधारी कामाश्रमों में निवास कर रहे हैं। आनन्दरूपी 'अरण्य' में जिनका निवास होना चाहिए था उन्हें राज-रोगों से पीड़ित होकर हाहाकार मचाते देखा गया है। 'गिरियों' को गम्भीर और अचल बुद्धि धारण किये गीताभ्यासरत देखने के स्थान में छुरी चलाते और बदमाशों में नाम लिखाते पकड़ा गया है। 'पर्वत' गुफाओं में रहने के स्थान में हुण्डी-पत्री की कोठियाँ चला रहे हैं। 'समुद्र' नाम-धारियों ने समुद्र के गम्भीर भाव को त्यागकर मतविरोध के कारण दिन-रात गाली देना ही अपना कर्म बना लिया है। स्वरवादी कवीश्वर के स्थान में निगुरे अक्षर-शून्यों ने 'सरस्वती' की उपाधि धारण कर ली है। 'भारती' संसार को भार से मुक्त कराने के स्थान में मनुष्यजाति पर अधिक बोझ बन रहे हैं। 'पुरी' पूर्ण-ब्रह्म में लीन होने के स्थान में, मूर्तियों के पुजारी और अपना रुपया ब्याज पर ऋण चढ़ाने की चिन्ता में निमग्न हैं।

वर्तमान नामधारियों की यह दशा देखकर ही शायद बाबा नानक के अवधूत पुत्र ने उदासीन होकर इनसे किनारा किया था; परन्तु वहाँ भी उदासियों के

छोटे-बड़े और मँझले अखाड़े के साथ निर्मले आदि अनेक पन्थाई मठ बना बैठे हैं। वैरागियों की 'रामासरे' जुदी ही धूनी जल रही हैं। 'दादूपन्थी', 'कबीर-पन्थी', 'सुथरे शाही' इत्यादि अनेक कुपन्थियों की भरमार है। इनमें शायद ही कोई ऐसा हो जो शास्त्र के विचार में अपना थोड़ा-सा भी समय व्यतीत करता हो। इन सब साधुओं में प्रतिशतक एक भी साक्षर साधु कठिनाई से दिखाई देता है, और वह भी अपनी स्वार्थसिद्धि में लगे हुए हैं। दीन गृहस्थों से टुकड़ा छीनकर लाखों निकम्मे भगवेपोश पल रहे हैं और बदले में उन करोड़ों लुटे हुए दीन गृहस्थों को एक नेक सलाह भी नहीं देते। धर्म की मर्यादा-स्थापन करने के स्थान में अधर्म और अराजकता का राज्य फैला रहे हैं। उत्तम-से-उत्तम योग्य पदार्थ जिन्हें प्राप्त हों वे इन्द्रियों को कैसे वश में कर सकते हैं ?

इस दुर्दशा को देखकर सैंकड़ों विचारशील पुरुष पुकार उठते हैं कि संन्यास-आश्रम को समूल ही नष्ट कर देना चाहिए। उनकी सम्मति में भगवावेश-धारी सृष्टि के मूलोच्छेद में ही भारत का कल्याण है। परन्तु वे एक बात भूल जाते हैं—चार आश्रमों का विभाग स्वाभाविक तथा आवश्यक है, इसलिए संन्यास का मूलोच्छेद भी मनुष्य की शक्ति से बाहर है। इसके साथ ही एक प्रकार का संगठन हमारे सामने है, इसका नाश असम्भव है। जो श्रद्धा अन्धविश्वासी करोड़ों प्रजाओं में जमी हुई है उसे क्या गृहस्थ दूर कर सकेंगे ?

इस अन्धविश्वास पर कुठाराघात करने के लिए भगवेपोश साधुओं की ही आवश्यकता होगी। उन्हीं में से कर्मवीर उत्पन्न होकर उसका सुधार करेंगे। संन्यास का मूलोच्छेद करने की आवश्यकता नहीं, बल्कि मूलोच्छेद उस धूर्तता का करना चाहिए जिसने लाखों आर्य पुत्रों को आलसी और विषयी बनाने के साथ-साथ करोड़ों ही सद्-गृहस्थों को अन्धकार के गड्ढे में धकेल दिया है।

संन्यास की महिमा का दृश्य दिखानेवाले संन्यासी कभी-कभी भूमि पर आ जाते हैं और प्रजा को अन्धकार के गड्ढे में से निकालकर यथार्थ ज्ञानरूपी प्रकाश के सूर्य का दर्शन करा जाते हैं। ऋषि दयानन्द उन्हीं महात्माओं में से एक थे। उन्होंने संन्यास के यथार्थ स्वरूप की न केवल अपने ग्रन्थों में व्याख्या ही की प्रत्युत अपने जीवन में सार्थक करके दिखाया। आर्यसमाज को उन्हीं का अनु-करण करना चाहिए। आर्यसमाज में इस समय भी कुछ विद्वान् संन्यासी हैं। यदि वे मिलकर संन्यासाश्रम का सुधार करना चाहें तो उनके लिए कृतकार्य होना कुछ कठिन नहीं। संवत् १९६६ में अर्ध-कुम्भी के समय एक पन्थाई विद्वान् ने एकान्त में अपने पापों को स्वीकार कर पश्चात्ताप किया और मुझसे साधुओं के लिए पाठशाला-स्थापन करने में सहायता माँगी। यह भी साथ ही मान लिया कि पन्थ तथा संन्यासियों के दस नाम का भेद सब झूठा है। मुझसे उन्होंने पाठविधि तथा प्रबन्ध के नियम निर्धारित करने में भी सहायता माँगी। मैंने उन्हें उत्तर

दिया, 'स्वामी जी महाराज ! आपके पास डेढ़ लाख की सम्पत्ति है। यह सारी सम्पत्ति देकर और अर्थ की दासता से मुक्ति लाभ करके पाठशाला कुछ धार्मिकों और विद्वानों की समिति को सौंप लंगोट कसकर 'ओ३म्' का झण्डा हाथ में ले लो। एक ईश्वर, एक 'वेद', एक संन्यास-आश्रम की घोषणा करते हुए सिंहनाद करो। पन्थों को छोड़कर सहस्रों तुम्हारे पीछे लग जाएँगे और फिर तुम्हारे द्वारा वैदिक धर्म का वास्तविक प्रचार सर्वसाधारण में हो जाएगा।' पन्थाई महात्मा ने उस दिन से फिर मेरे साथ उस विषय में बातचीत न की। अब मैं आर्यसमाज के संन्यासी-मण्डल से उसी प्रकार का एक निवेदन करता हूँ। आपमें से कई यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जो साधु आर्यसमाज की ओर झुकते हैं उनके पढ़ाने का प्रबन्ध नहीं है और जो संन्यासी बीमार हो या कुछ काल स्वाध्याय व आराम करना चाहे उसके लिए कोई आश्रम नहीं। इसलिए उन्हें विशेष गृहस्थों की शरण लेनी पड़ती है और इसीलिए उन्हें कभी-कभी अपने निष्पक्ष विचारों को दबाना भी पड़ता है। मेरा उत्तर यह है—'आपमें से जिनके पास जितना भी धन-सम्पत्ति है उसका नकद कर लो और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम से पर्याप्त भूमि खरीदकर उसके मध्य भाग में एक पुस्तकालय तथा सभा-भवन बनवाकर पहले २०-२५ अलग कुटियाँ बनाकर, उनमें सब भाइयों को जमा कर लो। एक त्यागी गृहस्थ को कोषाध्यक्ष बनाकर सारा आर्थिक प्रबन्ध उससे कराओ। आपमें से एक-दो विद्वान् बारी-बारी चार-चार मास के लिए आश्रम में रहकर पढ़नेवालों को तैयार करायें और शेष सब नाक की सीध पर चारों ओर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए चले जायें। किसी सभा, सोसायटी वा संस्था की सहायता न लें, स्वतन्त्र होकर सत्य का प्रचार करें, तब संन्यासाश्रम का भी उद्धार होगा और शेष जगत् का भी सुधार हो सकेगा। यदि आप लोग चाहते हैं कि संन्यासाश्रम समूल नष्ट न हो जाय तो आपको अपने जीवन से उसका गौरव और उसकी आवश्यकता दिखलानी होगी।

(३)
मनुष्य-जाति का सुधार कैसे हो ?

भारतवर्ष विशेषतः नवभारत की दृष्टि अपने सुधार तथा पुनरुद्धार के लिए यूरोप की ओर लगी हुई थी। युवा भारत ने समझ लिया था कि अपने शिक्षकों, अपने आदर्श 'दैवी जाति' के संचालकों का अनुसरण करना ही अपनी जाति के उद्धार का साधन सिद्ध होगा। यथार्थ यूरोप से भी इनके विरुद्ध प्रतिवाद उठता रहा और प्राचीन आर्यों के विचारों को संसार का भावी उद्धारक बतलाया जाता रहा। फिर भी भारत-निवासियों को होश न आया। अब वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध में यूरोपियन सभ्य जातियों के आचरणों ने सिद्ध कर दिया है कि यूरोपियन

सभ्य जातियाँ स्वयं गुमराह हैं। वे दूसरों की रहबरी क्या करेंगी ? अन्धा अन्धे को कैसे मार्ग दिखला सकता है ?

यूरोप और अमेरिका के विचारक अब मान रहे हैं कि वर्तमान पश्चिमीय सभ्यता को सर्वथा बदल देने से ही मनुष्य-जाति का सुधार होगा। इस सभ्यता को बदलने के लिए आवश्यकता है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के आदर्श को ही बदल दिया जाय। जहाँ पशुभाव से स्त्री-पुरुष का संग होगा वहाँ व्यभिचारी, डाकू और घातक सन्तान उत्पन्न होगी। जहाँ परमात्मा की पवित्र जननशक्ति को लक्ष्य में रखते हुए पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए गर्भाधान संस्कार होगा वहाँ धार्मिक, न्यायपरायण, परोपकारी सन्तान उत्पन्न होगी।

अभी तक यूरोपियन सुधारकों की दृष्टि उस उच्च शिखर पर नहीं पहुँची जहाँ पहुँचकर प्राचीन आर्य ऋषियों ने मर्त्यलोक के निवासियों को उपदेश दिये थे। बृहदारण्यक उपनिषद् के आठवें अध्याय के चौथे ब्राह्मण में जो उत्तम दैवी सन्तान उत्पन्न करने की विधि बतलाई गई है उसे अमेरिका के सन्तान-विद्या के जाननेवाले डॉक्टरों ने अब कहीं समझने की कोशिश आरम्भ की है।

हमारे नवशिक्षित इन नई Eugenics की पुस्तकों पर मोहित हो रहे हैं। इन पुस्तकों को पढ़ने से लाभ अवश्य है परन्तु इन्हें पढ़ते हुए सावधान भी अवश्य रहना चाहिए। यद्यपि दोनों प्राचीन आर्य तथा अर्वाचीन यूरोपीय पद्धतियों का प्रकार एक ही है तथापि दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं और इसलिए साधनों में गिर जाने की सम्भावना है। प्राचीन आर्य-पद्धति के अनुसार ब्रह्मचर्य-पालन धर्म है इसलिए सब अवस्थाओं में पालन करना ही चाहिए। गृहस्थ को २५ वर्षों में केवल दस बार ही सन्तानोत्पत्ति क्रिया करनी चाहिए परन्तु यूरोपियन Eugenics में अधिक बार स्त्री-संग करना इसलिए निषिद्ध है कि स्त्री-पुरुष दोनों के शरीर निर्बल हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि अधिक संग से जिन स्त्री-पुरुषों में शारीरिक दुर्बलता न आवे उन्हें इस नियम के पालने की आवश्यकता नहीं। Problems of Sex नामी एक पुस्तक प्रोफेसर टायसन और गॉडीज़ ने लिखी है। ग्रन्थकर्ता लिखते हैं कि सब स्त्री-पुरुषों के लिए संग के एक-से नियम नहीं हो सकते; क्योंकि किसी समय अभ्यासी खिलाड़ी से भी बढ़कर एक शारीरिक बल रखनेवाला अशिक्षित मनुष्य व्यायाम दिखा सकता है। उन प्रोफेसरों ने परिणाम की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि उनका कथन माना जाय तो जो जितना सहन कर सके उतना स्त्री संग करे, परन्तु इसका सन्तान पर क्या प्रभाव पड़ेगा और दोनों के भावी आत्माओं की क्या दशा होगी इसे नहीं सोचा।

सन्तान-शुद्धि और उसके द्वारा मनुष्य-जाति के पुनरुद्धार के काम में धर्म बड़ी सहायता दे सकता है, परन्तु इस समय सम्प्रदायों और मतों का बड़ा जोर है। पादरी मेयर साहब ने जातीय पुनरुद्धार पर मजहब का प्रभाव जतलाते हुए

और ईसा मसीह की श्रेष्ठता बतलाते हुए भी यह मान लिया है कि मजहब को कुछ आगे चलने की आवश्यकता है। वह लिखते हैं कि जैसे मजहब ने यह आज्ञा दी है कि अमुक-अमुक सम्बन्धियों के साथ विवाह नहीं करना चाहिए, वहाँ क्यों न वह (मजहब) आगे चले ! और यदि कहें कि "किसी ऐसे व्यक्ति को विवाह न करना चाहिए जो किसी मानसिक वा शारीरिक रोग में ग्रस्त है या जो जानता है कि उसमें पागलपन वा मिर्गी का पैतृक विष मौजूद है जिससे किसी निर्दोष स्त्री-पुरुष को यह रोग न लग जाय और ऐसी सन्तान उत्पन्न हो जो जीते हुए भी मृतक समान है।" पादरी साहब को ऐसा निराशापूर्ण लेख न लिखना पड़ता यदि वे ईसाई मजहब की संकुचित परिधि से बाहर निकलकर वैदिक धर्म की शिक्षा को पढ़ते। मनु भगवान् ने कैसी पवित्र और उच्च शिक्षा दी है—

> महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
> स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥
> हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
> क्षय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ अ० ३।६-७

'चाहे कितने ही धन-धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि में समृद्ध कुल हो, तो भी विवाह-सम्बन्ध में निम्न दश कुलों को त्याग दे। जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम, बवासीर, क्षय, दमा, खाँसी, विकृत आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठ युक्त हों उन कुलों की कन्या या वर के साथ विवाह नहीं होना चाहिए।' इसका कारण ऋषि दयानन्द बतलाते हैं—'क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करनेवाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं।'

अयोग्यों के विवाह का कारण सच्ची शिक्षा का अभाव है। पहले जब तक यह विश्वास न हो कि मनुष्य-जाति का उद्धार हो सकता है तब तक इस काम में सुधारकों की प्रवृत्ति होना ही कठिन है। जनसाधारण प्रायः यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि भाग्य को कोई नहीं बदल सकता। जब बना हुआ भाग्य संचित कर्मों का ही समूह है तब जहाँ कुकर्मों के आधिक्य से बुरा भाग्य प्रारब्ध बन गया वहाँ उत्तम कर्मों के प्राबल्य से अच्छा प्रारब्ध भी बन सकता है। ऐसा दृढ़ विश्वास होकर जब विद्या के प्रकाश में काम करना आरम्भ किया जायगा तो बिना अधिक प्रयास के ही परिवर्तन आरम्भ हो जायगा।

हमारी जाति में इस समय यही कमी है कि इस प्रकार के अपूर्व विश्वास का अभाव है। सच्चा विश्वास पर्वतों को चीरता और लोहे के तवों में छेद कर देता है—परन्तु दृढ़ श्रद्धा जब हो तब न। ब्रह्मचर्य के बल पर और उसके महत्त्व पर श्रद्धा न हो तो मनुष्य-जाति का सुधार कठिन है। किसी कवि ने कहा है—

श्रुतिमात्ररसाः सर्वे प्रधान पुरुषेश्वरः।
श्रद्धामात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा ।।

जब ब्रह्म और उसका ज्ञान 'वेद' भी श्रद्धा के लिए अग्राह्य नहीं, फिर उसका आश्रय लेकर कौन-सा कठिन दुर्ग है जिसपर सदाचारी मनुष्य विजय नहीं प्राप्त कर सकता ? श्रद्धा का आवेश बिना सचाई के नहीं होता।

श्रद्धासम्पन्न मनुष्य सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में पागल-सा दिखाई देता है, परन्तु संसार में पाप और अविद्या के दुर्ग गिरानेवाले पागल ही हुआ करते हैं। ब्रह्मचर्य और पवित्रता को स्थापन करने में ऐसे ही मनुष्य कृतकार्य हो सकते हैं। जिन्हें इनकी श्रेष्ठता पर पूर्ण विश्वास हो, वही दूसरों को इस पवित्र मार्ग पर चला सकते हैं।

जहाँ राजनैतिक कृतकार्यता के सामने सतीत्व तथा शुद्धता का कुछ भी ध्यान न रक्खा जाय, सामयिक सफलता के लिए धर्म का बलिदान कर दिया जाय, वहाँ राजनैतिक, सामाजिक वा जातीय सफलता भी चिरस्थायी नहीं होती। स्वजाति पर विदेशियों की कुनीति का ऐसा ही प्रभाव पड़ रहा है। कुछ समय पूर्व यवनों में इस विचार का खुला प्रचार था कि काफिर की स्पिरिट को दबाने के लिए द्विजों की स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करना चाहिए। वह भाव इस समय भारत में फैलता जाता है। चोरी से चोरी तथा झूठ से झूठ को जीतने का प्रचार हो चला है। इस भयानक अवस्था में यह प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है कि पवित्रता धर्म है और इसलिए उसको बड़े-से-बड़े व्यक्तिगत, सामूहिक तथा राष्ट्रीय लाभ पर बलिदान करना, अपने सर्वस्व का नाश करना है। परमेश्वर करे ऐसे पागल पैदा हों जो मनुष्यों को ब्रह्मचर्य और सदाचार की पवित्र वेदी पर मानापमान तथा सर्वपाशवीय भावों को स्वाहा करना सिखावें।

(४)

जातीय आत्म-विचार की आवश्यकता

आत्म-विचार की आवश्यकता व्यक्तियों को ही नहीं, मनुष्य-समाजों और जातियों को भी है। मैं अभी न्यूयॉर्क (अमेरिका) का एक मासिक पत्र पढ़ रहा था; उसमें अंगहीन सन्तान उत्पन्न करने से बचने के विषय का एक लेख देखा। लेखक ने विस्कांसिन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर गुयर (Prof. M. T. Guyer) की पुस्तक 'Being well Born' में से उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि अंगहीनों के विवाह से संसार में बहुत-सी आपत्तियाँ फैलती हैं। प्रोफेसर गुयर की सम्मति है कि अंगहीनों का विवाह ही न होना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो दो समान अंगहीनों का विवाह तो सर्वथा ही त्याज्य है। वह लिखते हैं कि गूँगे, बहरे यह दोष पैतृकदाय में ही प्राप्त करते हैं और इस प्रकार समान दोषवालों का

विवाह उनकी सन्तानों को दोषयुक्त कर संसार में दु:ख का बढ़ानेवाला होता है। उनकी सम्मति में जो गूँगे-बहरों के शिक्षणालय हैं उनसे बड़ी हानि हो रही है। समान अंग-विहीन स्त्री-पुरुष जब परस्पर मिलते हैं तो स्वभावत: (अन्य सम्बन्ध न मिलने पर) उनका आपस में सम्बन्ध हो जाता है जिससे बहुत ही दु:खदायी परिणाम निकलते हैं। इसलिए प्रोफेसर महोदय ने इस विषय पर पुस्तक लिखी है ताकि 'विवाह' विषय पर ठीक प्रकाश पड़कर यथार्थ ज्ञान फैलने से अयोग्य पुरुष इस विवाहरूपी विशेष पवित्र सम्बन्ध से बचें।

मालूम होता है कि अमेरिका जैसे स्वतन्त्रता-प्रिय और जागृत देश में भी सर्वसाधारण अयोग्यों के रोकने में प्रवृत्त नहीं होते। इसलिए गुयर लिखते हैं— "हम अपने उत्तम कोटि के मनुष्यों को सहस्रों की संख्या में कटवाने के लिए युद्ध-क्षेत्र में भेजने से संकोच नहीं करते, जब हमारे उस वहमी विचार का अपमान होता है जिसे जातीय सम्मान कहते हैं; परन्तु हम इस दैव दुर्वियोग को सर्वथा भूल जाते हैं, जब अयोग्य पुरुषों को सन्तानोत्पत्ति से वंचित करने के प्रस्ताव से उनकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप को सुनकर आपे से बाहर हो जाते हैं।' समाज ने कुछ मनुष्यों की स्वतन्त्रता छीनना आवश्यक समझा है, किन्तु उनके सम्बन्ध में हम स्वतन्त्रता छीनने की कोई शिकायत नहीं सुनते। यदि बटुवे को चुरानेवाले या घोड़े इत्यादि वस्तुओं को चुरानेवाले को कानून द्वारा रोकने की आवश्यकता है तो क्या उस मनुष्य को रोकने की आवश्यकता नहीं है जो सारे परिवार के रक्त को विषयुक्त कर पुश्तों तक सारे वंश को विषमय बना देते हैं?

"इस समय की एक सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि विवाह-सम्बन्धी सचाइयों की शिक्षा देकर स्त्रियों में जागृति उत्पन्न की जाय। यत: सबसे अधिक हानि स्त्रियों को ही पहुँचती है, इसलिए एक बार पता लग जाने पर अपनी शारीरिक रक्षा के लिए वे अपने भावी वरों से उत्तम स्वास्थ्य का प्रमाण अवश्य माँगा करेंगी। सन्तानों का सम्पूर्ण भविष्य स्त्रियों पर ही अवलम्बित है और उन्हीं की हाँ वा ना पर विवाह का फैसला होता है, इसलिए सन्तान में होनेवाले गुण और अवगुणों का निश्चय उन्हीं के हाथ में है। युवा कुमारियों को यह अनुभव कर लेना चाहिए कि नष्ट-चरित्र वा दुराचारी युवक वास्तव में शारीरिक स्वास्थ्य का स्वामी नहीं होता और अपनी भावी पत्नी और सन्तान के लिए भयानक सिद्ध होता है, चाहे उपन्यास उसका कैसा ही मनोरंजक और कल्पित चित्र क्यों न खींचे।"

आर्य-जाति की दशा, अमेरिका की दशा से अधिक भयानक है। भेद केवल इतना है कि उनकी आँखें खुली हुई हैं और हम अपनी दशा पर कुछ विचार नहीं करते। जिस भयानक राजरोग को समझकर अमेरिका ने उसकी चिकित्सा प्रारम्भ कर दी है, उसको हमारे पूर्वजों ने अनुभव किया था और इसलिए ऐसी आश्रम-

व्यवस्था स्थापित की कि रोग जाति से सदा दूर रहता था। ब्रह्मचर्याश्रम की स्थिति इसलिए थी कि बालक-बालिकाओं के गृहस्थ-काल उपस्थित होने तक उन्हें सच्चे गृहस्थ के योग्य बनाया जावे। आर्य-जाति के बच्चे आज २० वर्ष की आयु तक ही जिन शक्तियों को नष्ट कर देते हैं उनकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध गुरुकुलों में होता था। जो गिरता था उसे भी आचार्य जानता था और जो नहीं गिरता था उसे भी जानता था। आर्यों का राज्य-शासन और जनता की सम्मिलित सम्मति ही ऐसी थी कि आचार्य की आज्ञा लिये बिना जो युवक विवाह के पवित्र सम्बन्ध के लिए आतुर होता उसे कोई भी ब्रह्मचारिणी स्वीकार करने के लिए तैयार न होती थी। भगवान् मनु लिखते हैं—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ ३।४

"गुरु की आज्ञा ले स्नान और यथाविधि समावर्तन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (द्विज) अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे।"

उस समय गुरु की आज्ञा का बन्धन ऐसा दृढ़ था जिसका मुकाबिला आजकल के बड़े-से-बड़े राजनियम भी नहीं कर सकते।

आर्य-जाति की कन्याओं में इस समय पूर्ण जागृति उत्पन्न करना कठिन है। लाखों में कोई ऐसी विरली विदुषी निकलेगी जो संस्कारों के उच्च तत्त्व को समझ सके। इनके द्वारा इस रोग को दूर करना कठिन है जो इस समय फैल रहा है। विषयासक्त पुरुष, स्त्रियों को केवल विषय-भोग का साधन समझते हुए अपांग, निर्बल सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं। अबोध बालक भयंकर रोगों से पीड़ित हो रहे हैं, कोई पूछनेवाला नहीं है। पिपासाकुल कोई बनिये का लड़का यदि चमार के घड़े का पानी पी ले तो उसे बिरादरी से पृथक् कर दिया जाता है, वह पैतृक सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाता है। परन्तु यदि वही लड़का हुक्के का ज़हर चढ़ा और शराब के कनस्तर लुटाकर अपनी धर्मपत्नी को विषमय करने के अतिरिक्त पागल सन्तान उत्पन्न करता है तो उसे पैतृक सम्पत्ति से अलग करने का किसी को साहस नहीं होता।

भारतीय नवयुवको! आर्य-जाति के पुत्रो! क्या तुमने कभी सोचा है कि तुम अपनी जाति को किस रसातल में पहुँचा रहे हो? विदेशियों से शिक्षा लेकर तुमने अपने स्रोत को ही भुला दिया है। तुम अपने-आपको देश-भक्त कहते हो, भारत को माता पुकारते हो, 'वन्देमातरम्' के नाद से अन्तरिक्ष को व्याप्त कर देते हो तो क्या तुम्हारी कर्त्तव्य-परायणता की पराकाष्ठा हो गई? क्या तुमने कभी यह भी सोचा है कि 'वन्देमातरम्' के इस प्रकार से माता को कुछ शान्ति भी हुई या नहीं? जितनी अंगहीन, निर्बल, रोगग्रस्त सन्तान उत्पन्न हो रही है, माता का दुःख दिन-रात उतना ही बढ़ता जाता है। तुम्हारे अन्दर के नेत्र यदि

खुले होते और तुम माता के मलिन मुख को देख सकते तो तुमको निश्चय हो जाता कि सन्तान का नाश करनेवाले, माता के पुत्र नहीं हो सकते।

आर्य युवको! जरा विचार तो करो कि क्या शास्त्रार्थ या वाद-विवाद में अन्य मतावलम्बियों को चुप करा देना ही वैदिक धर्म की ठीक सेवा है? प्राचीन आचार्यों का अभाव है और नवीन आचार्यों के पास अधिकार नहीं। क्या तुम्हारी सम्मिलित शक्ति आर्य युवकों के लिए आचार्य का काम नहीं दे सकती? मैं जानता हूँ कि जब कोई आर्य युवक २४ वर्ष की आयु से पहले विवाह करता है तो तुम अपने अमल से उसे बतला देते हो कि उसने बुरा काम किया है। मैं चाहता हूँ कि तुम अपने संगठन को अधिक विस्तृत तथा दृढ़ करो। आर्यकुमार सभाओं में बूढ़े और गृहस्थ दखल देना छोड़ दें। इन सभाओं के संगठन से एक भी अविवाहित युवक अलग न रह जाय। अपना मुख्य नियम यह बना लें कि मद्यादि मादक द्रव्यों (तम्बाकू सहित) का सेवन और मांस-भक्षण करनेवाले उनकी सभा के सभासद् न बन सकेंगे। सब यह प्रतिज्ञा करें कि उनमें से कोई विवाह न करेगा जबतक कि विवाह से एक वर्ष पहले सर्व प्रकार के छोटे-छोटे व्यसनों से भी मुक्त न हो लेगा। प्रत्येक प्रतिज्ञा करे कि यदि उसको कोई भी बीमारी होगी (चाहे कितनी छिपी हुई क्यों न हो) तो वह विवाह करने से इनकार कर देगा। प्रमेह-रोगग्रस्त तथा अन्य रोगों से पीड़ित स्वार्थवश यह समझ लेते हैं कि विवाह से उनके ये रोग दूर हो जायेंगे। परन्तु यह भारी भूल है। यदि यह सम्भव भी हो तो एक स्वस्थ देवी के शरीर और मन को नाश करना पिशाचत्व से कम नहीं समझा जाना चाहिए।

आर्य युवको! यदि तुम्हारे नियमों के विरुद्ध कोई भी युवक (चाहे सभा का सभासद् हो वा नहीं) विवाह करना चाहे तो उससे प्लेग की तरह बचो। उसका ऐसा बहिष्कार करो कि वह फिर अगुवा बनकर समाज में न बैठ सके। इस पवित्र कर्त्तव्य के पालन से तुम भारतमाता के ऋण से उऋण हो सकोगे।

(५)
कितने अवसर बिसार दिये!

यह कहावत लोक-प्रसिद्ध है कि एक बार बादशाह अकबर ने बीरबल से कहा कि जब वह हिन्दुओं के सब सिद्धान्त मानते हैं तो उन्हें क्यों न हिन्दू बना लिया जाय? बीरबल ने अपनी लोक-प्रसिद्ध प्रकृति के अनुसार उत्तर के लिए ४ दिनों की मोहलत माँगी। जब तीन दिनों तक दरबार से बीरबल को अनुपस्थित पाया तो दरबारियों से उसका पता पूछा। एक ने बतलाया कि बीरबल तीन दिन से यमुना-तट पर एक खेल खेला करते हैं। बीरबल का बिछोड़ा अकबर के लिए असह्य हो जाता था क्योंकि वह बीरबल के वाक्चातुर्य पर मोहित थे। बादशाह

सलामत स्वयं यमुना-तट पर पधारे। देखते क्या हैं कि बीरबल एक गधे को साबुन आदि से खूब मल-मलकर धो रहा है। अकबर ने हँसकर पूछा, 'यह क्या मसखरापन कर रहे हो ?' उत्तर मिला, 'जहाँपनाह! इस गधे को घोड़ा बना रहा हूँ।' बादशाह सलामत बोले, 'अबे बेवकूफ ! कभी गधा भी घोड़ा बना है ?' हाजिरजवाब बीरबल ने कहा, 'तब बादशाह सलामत ! कभी मुसलमान भी हिन्दू बना है ?' विदूषक का यह भण्डेलापन तो चल गया, परन्तु यह कोई उत्तर न था; क्योंकि गधे और घोड़े में जातीय भेद है जबकि हिन्दू और मुसलमान एक ही मनुष्य-जाति के सभ्य अंग हैं।

बीरबल का वह ३०० वर्ष पुराना उत्तर अबतक आर्य जाति के संकुचित विचारों का उदाहरण है। यदि उस समय अकबर को आर्य जाति में मिला लिया जाता तो न औरंगजेबी जमाना आता और न भारत की वह दुर्दशा होती जो आचार-हीन मुगल बादशाहों के नीचे रहने से हुई, और न जाने उस वीरता का कदम उठाने पर आज संसार में कैसा पलटा खाया हुआ होता ! वह अकबर जिसने अपने सारे जीवन में पक्षपाती मोहम्मदी मत से किनारा रक्खा, अपनी मृत्यु के समय मुसलमान मुल्ला को बुलाकर 'कलमा' पढ़ता है; क्योंकि आर्य-जाति के संकुचित विचार रखनेवालों ने उसे धर्म-भाई मानकर अंगीकार न किया। जो बर्ताव आर्य सभ्यता के कुञ्जीबरदार आर्यजाति ने अकबर के साथ किया था वही बर्ताव उसका अबतक विदेशी हितचिन्तकों के साथ जारी है। आर्य सभ्यता के पुराने आदर्श पर मोहित होकर कितने भद्र पुरुष बाहर से मातृभूमि के (भारत के) सेवक बनकर आये, परन्तु आर्य जाति ने उनको अपने से अलग ही रक्खा और अन्त को वे, प्रबल इच्छा रखते हुए भी, भारतमाता की वह सेवा न कर सके जो वे हममें मिलकर कर सकते।

अकबर के मन्तव्य

अकबर के मन्तव्यों का (जिन्हें वह दिन-रात कार्य में लाता था) वर्णन पढ़कर कौन इनकार कर सकता है कि वह एक आदर्श आर्य सुधारक नहीं था ? सैयद मुहम्मद लतीफ ने आगरे का जो वर्णन किया है, उसमें उन्होंने अकबर का इतिहास उस समय के मूल ग्रन्थों में से दिया है। लतीफ महाशय के उस ग्रन्थ में से उद्धरण देकर यह दिखलाना बहुत सुगम है कि अकबर हिन्दू व मुसलमान साम्प्रदायिक न था, प्रत्युत शुद्ध आर्य धर्म के समीप पहुँचा हुआ था।

हिन्दू धर्म के सिद्धान्त पैतृकदाय से ही अकबर को मिले थे। अकबर गर्भ में ही था जब उसके पिता हुमायूँ को अमरकोट के राजा रणप्रसाद की शरण लेनी पड़ी। उसी अमरकोटाधीश के घर में १५ अक्टूबर १५४२ ईसवी के दिन अकबर का जन्म हुआ। हुमायूँ यहाँ तक उदार हो चुका था कि चित्तौड़ के राणा उदय-

सिंह की माता कर्णवती का 'रक्षाबन्ध भाई' बना था, और उसे बहादुरशाह के विरुद्ध सहायता भी दी थी, इसलिए यह स्वाभाविक बात थी कि अकबर के अन्दर हिन्दुओं से घृणा न हो।

अकबर को सबसे पहले 'कयामत' के मसले पर सन्देह हुआ। "उसने कयामत के मसले को जवाब दे दिया और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास स्थिर किया। वह इस लोकोक्ति का दिल से अनुमोदन करता था कि 'कोई भी ऐसा मत नहीं है जिसमें जीवात्माओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने दृढ़ता से जड़ न पकड़ी हो।' ब्राह्मण इस सिद्धान्त के समर्थन की साक्षी के लिए पुस्तकें रचते थे।" (पृष्ठ २१०) वह पुनर्जन्म के विरुद्ध सज़ा-जज़ा से इनकारी था, और जिनों, फरिश्तों तथा अदृश्य जगत् के प्राणियों के अस्तित्व से इनकारी था (पृष्ठ २१०)। अकबर के समय गायत्री मन्त्र में सूर्य की उपासना का विधान ही समझा जाता था, इसलिए श्रीमान् सबसे बड़े प्रकाश सूर्य की पूजा करते थे, जिसकी, शेष सब प्रकाश प्रजा है और उन्होंने सात विविध रंगों के वस्त्र धारण करना आरम्भ किये जोकि सप्ताह में विशेष दिनों पर सातों ग्रहों के रंगों के अनुसार पहनते थे(पृष्ठ २१०)। और एक आज्ञा दी गई कि प्रातः-सायं, मध्याह्न तथा रात्रि-समय चार बार सूर्य-पूजा हुआ करे। वह नित्य सूर्य की ओर मुँह करके १००१ सूर्य के नामों का संस्कृत में जप करते थे और हिन्दू चिह्न (चन्दन का टीका) माथे पर लगाते थे। उन्होंने अपने मत का नाम 'तौहीदे इलाही' रक्खा था और हिन्दू-मुसलमान दोनों में से चेले बनाते थे (पृष्ठ १६१)। इस्लामी नमाज़ संकुचित और अशुद्ध बतलाई जाकर छोड़ दी गई और रोज़ों (भूखे मरने) को तक़लीदी (अन्धविश्वास) कहकर मना किया गया। ईरान के अग्नि-पूजकों तथा ब्रह्म के अनुयायियों की प्रार्थनाएँ अधिक विस्तृत तथा फलदायक समझी जाकर जारी की गईं। (इस तौहीदे इलाही मत के) सभासद् मांसभक्षण से निवृत्त रहते, अपने जन्म-दिवस पर उन्हें उसके समीप जाने की भी मनाई थी (पृष्ठ २१३)। उसने गौ-मांस का खाना मना किया। उसका विश्वास था कि गाय को मारना पाप है और वह गोबर को शुद्ध समझता था। वैद्यगण अपनी पुस्तकों में यह सिद्ध करने के लिए उदाहरण देते थे कि गोमांस स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और बहुत-सी बीमारियों को उत्पन्न करनेवाला है (पृष्ठ २१०)। फादर अक्वावा एक पादरी ईसाई था, जिसने २७ सितम्बर १५८२ ई० के एक पत्र में लिखा था—"बादशाह आए दिन कई बातें करके दरबार में हलचल मचा देते हैं। अन्य बातों में वे सूर्य व चाँद की पैदा की हुई वस्तुओं की स्तुति करते हैं और शनि तथा आदित्यवार को मांस सर्वथा छोड़ देते हैं—(इन दिनों) प्रायः बाज़ार में मांस नहीं बिकने पाता और आदित्यवार को कुछ भी मांस खाने को नहीं मिलता (पृष्ठ २१४)।"

मांसभक्षण तो अकबर ने छोड़ ही दिया था, परन्तु ज्ञात होता है कि वह

सब उत्तेजक पदार्थों से भी परहेज़ करता था। "श्रीमानों ने न केवल गोमांस न खाने की शपथ ले ली है प्रत्युत लहसुन, प्याज और दाढ़ों को भी (जवाब दे दिया है)। दिवाली के त्योहार पर जब हिन्दू लोग गौ की पूजा करते हैं तब बहुत-सी गौएँ सजाकर श्रीमानों के सामने लाई जाती हैं।......दाढ़ी मुँडाना बादशाह की दोस्ती और प्रेम का बड़ा चिह्न समझा जाता था और इसलिए यह आम रिवाज हो गया था। हिन्दू-रुचि के विरुद्ध बातें सब छोड़ दी गईं और घंटियों के बजाने का रिवाज जारी किया।"

"हिन्दू विचारों के अनुकूल आचरण करने में अकबर बुद्धि से काम लेता था और निरक्षर होते हुए भी उसका कोई काम बुद्धिशून्य न था। इसके लिए एक उदाहरण ही काफी है—जंगली सूअर और चीते के मांस खाने की आज्ञा थी, इस बुनियाद पर कि खानेवाले आदमी में इन जानवरों का बहादुरी का अंश प्रविष्ट हो जायेगा (पृष्ठ २१६)।"

"अकबर को जल से बड़ा प्रेम था। वह जल को अमृत समझता था; गंगा-जल पर तो वह मोहित था—'चाहे घर पर हो अथवा यात्रा में, वह गंगाजल का ही सेवन करता था जोकि खासी हुई सुराहियों में 'सारन' से आता था जो गंगा-तट पर सबसे समीप स्थान था, जबकि दरबार आगरे में वा फतहपुर में होता; और गंगा-तट से जल भेजने के लिए विश्वासपात्र मनुष्य नियत थे। श्रीमानों का भोजन वर्षा के जल से बनता था, अथवा यमुना वा चनाव से लाये हुए जल से (जब बादशाह पंजाब में होते), परन्तु थोड़ा गंगाजल उसमें अवश्य मिलाया जाता (पृष्ठ २२३)।"

"अकबर अपने भोजन में त्यागी तथा अल्पाहारी था। उसने मांस त्याग रक्खा था और उसे हाथ लगाए बिना अकबर को महीनों बीत जाते थे। वह प्रायः चावल, दूध और मिठाई पर ही गुज़ारा करता था, और २४ घण्टों में एक बार से अधिक भोजन नहीं करता था (पृष्ठ २२२)।"

"अकबर के दयालु स्वभाव का एक उदाहरण देकर लेख के इस भाग को समाप्त करता हूँ—सन् १५८० ई० में एक बार अकबर 'दस्तरखान' पर बैठा था, उसे एक विचार सूझा (वह यह था) कि जहाँ मैं भोजन का आनन्द ले रहा हूँ वहाँ बहुत-से भूखे मनुष्य भी होंगे, जिन्होंने इस भोजन को अत्यन्त लालसा से देखा होगा। जिसपर ऐतिहासिक (मिर्ज़ा निज़ामुद्दीन अहमद) पूछता है—"तब वह कैसे खा सकता था जब भूखे भोजन से वंचित थे ?" उसी समय उसने (अकबर ने) आज्ञा दी कि जो भोजन उसके लिए बने उसमें से पहले भूखों को खिलाया जाया करे और बाद को उसके सामने परसा जाया करे। मालूम होता है कि बिना जाति और मत-भेद के उसकी दया सब ओर विस्तृत थी।

परन्तु क्या अकबर केवल प्रचलित हिन्दू-सिद्धान्तों का ही पोषक था ? वह

केवल अपने अपनाये हुए हिन्दू-धर्म का ही सुधारक न था प्रत्युत मुहम्मदी मत का भी संशोधक था।

जहाँ मद्य को मनुष्य के लिए हानिकारक समझकर वह उसको त्याज्य वस्तुओं में गिनता था, वहाँ शराब की इजाजत थी यदि वह (शारीरिक) बल बढ़ाने तथा वैद्य की आज्ञानुसार दी जावे। अपनी माता की मृत्यु पर अकबर ने स्वयं मूछें-दाढ़ी मुँडवा लीं, तब उसके मुसलमान दरबारियों ने भी उसका अनुसरण किया, और तब से ही दाढ़ी मुँडवाने की प्रथा चली। अकबर का पुत्र जहाँगीर और पौत्र शाहजहाँ भी दाढ़ी मुँडवाते रहे। दाढ़ी की प्रथा फिर से कट्टर औरंगजेब ने प्रचलित की। अकबर से पहले मुसलमान बादशाहों ने हिन्दुओं के लिए मुहम्मदी शाही चला दी थी, अकबर ने उदार हिन्दू-नीति के अनुसार यह आज्ञा दी कि हिन्दुओं के झगड़ों का फैसला विद्वान् ब्राह्मण शास्त्र-अनुसार किया करें और मुसलमानों का मुहम्मदी काज़ी। मुसलमानों में सूद का लेना भी बादशाह ने जायज़ करार दिया।

शुद्धि का महकमा भी अकबर ने खुला जारी कर रक्खा था। जो हिन्दू छुटपन में बलात्कार से बिना समझे मुसलमान बनाये गये थे, युवा होने पर उन्हें अवसर दिया जाता था कि अपने कुल में लौट जावें। किसी मनुष्य को उसके मन्तव्य के कारण तंग नहीं किया सकता था। हरएक को पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि अपना पैतृक मत बदलकर अपनी इच्छा और सुगमता के अनुसार दूसरा मत ग्रहण कर ले। यदि कोई हिन्दू स्त्री किसी मुसलमान के प्रेम से मत-परिवर्तन करती तो उसे जबरदस्ती उनके कब्ज़े से निकाल उसके परिवार के सुपुर्द कर दिया जाता। इसी प्रकार किसी मुसलमान स्त्री का किसी हिन्दू से प्रेम हो जाता था तो वह हिन्दुओं में शामिल होने से रोकी जाती (पृष्ठ २१८, २१६)। अकबर की इस व्यवस्था की ओर उन आर्य नामधारियों को ध्यान देना चाहिए जो वर्षों के व्यभिचार पर शुद्धि और विवाह का ठप्पा लगाकर समाचारपत्रों में अपने यश का गीत गवाते हैं।

"अकबर हिन्दुओं के इस रिवाज के विरुद्ध था जिसके अनुसार एक आदमी को उस स्त्री के साथ विवाह में जोड़ दिया जाता है जिसने उसे कभी देखा नहीं और न जिसका सत्संग किया है। उसका मत था कि विवाह को धर्म-सम्मत बनाने के लिए उचित है कि वर और वधू की परस्पर सहमति हो, और यदि वे नाबालिग हों तो उनके माता-पिता की अनुमति हो। जब तक वर-वधू अपने बुरे-भले के समझने के योग्य न हो जावें वह (अकबर) उनका विवाह उचित न समझता था। संसार में सदाचार की दृढ़ता के लिए अकबर विवाह को आवश्यक समझता था, परन्तु विवाह करते समय मनुष्यों का उद्देश्य विषय-भोग से उच्च होना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब दोनों के गुण-कर्म मिल जायें।"

बाल-विवाह के विरुद्ध अकबर ने कानून बनाया। १६ वर्ष की आयु से पहले

लड़की का तथा २८ वर्ष से पूर्व लड़के का विवाह न होने पावे। बहु-विवाह के वह विरुद्ध था। गर्भवती, बूढ़ी, बाँझ वा अत्यन्त बाला स्त्री के साथ सम्भोग निषिद्ध था। सती के रिवाज के विषय में यह कानून था कि बलात्कार से किसी स्त्री को न जलाने दिया जाय। परन्तु उसकी स्वतन्त्रता को न रोका जाए।

कहाँ तक लिखा जाए! यदि अकबर का आर्यजाति में प्रवेश हो जाता तो इस देश की काया ही न पलट जाती। फिर ५ उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करके उन्हीं के उपदेश को अपने जीवन का आधार माननेवाला और ब्रह्मविद्या (उपनिषद्) के आगे सारे यूरोप का सिर झुकवानेवाला दाराशिकोह ही शायद अकबर की डाली हुई बुनियाद पर एक उदार राष्ट्र का महल खड़ा करता। परन्तु इस अभागे देश के निवासियों को अभी कर्मफल भोगना था। हा! कितने अवसर बिसार दिये, आर्यसन्तान! क्या अब भी न चेतेगी?

(६)
इस अधूरे यत्न से क्या होगा?

भारतवर्ष में इस समय ३ प्रतिशत भी पढ़े-लिखे नहीं हैं। युरोपियन देशों में वह देश अभागा समझा जाता है जिसमें अनपढ़ों की संख्या एक प्रतिशत से अधिक हो। भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार की आवश्यकता को सब चिरकाल से स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु क्या मानसिक शिक्षा मात्र से इस देश का कल्याण हो सकेगा? माना कि कुछ समय से शारीरिक शिक्षा का भी प्रबन्ध हो चला है और उसकी आवश्यकता को सब समझने लगे हैं, परन्तु क्या प्रजा के शरीर और मन को बलिष्ठ करने से ही किसी राष्ट्र का कल्याण हो सकता है? जिन युरोपियन देशों को ९९ प्रतिशत शिक्षित प्रजा का अभिमान है, जिनके यहाँ शारीरिक बल बढ़ाने के बढ़िया-से-बढ़िया साधनों का विकास हो चुका है, उनकी इस समय क्या दशा है? जो सभ्यता के ठेकेदार थे और काली जातियों को पशु और असभ्य समझते थे उनका झूठ, उनका अत्याचार, उनका पिशाचत्व संसार में हाहाकार मचवा रहा है। विचारक ऐसी सभ्यता से लज्जित हो रहे हैं। वे देश, जो जुलाई सन् १९१५ ई० तक हमारे पथ-प्रदर्शक थे, अब शिक्षा की उन्नति में भी हमारे लिए आदर्श नहीं समझे जा सकते।

इन सभ्य देशों की गिरावट का कारण क्या है? मनुष्य शरीर, अन्तःकरण-चतुष्टय और आत्मा के संयोग का नाम है। पाश्चात्य जातियों ने आत्मा को बीच में से उड़ा दिया है। जब आत्मा ही न रहा तो सदाचार का क्या काम? जननेन्द्रिय की पवित्रता को भुला दिया गया। राजनैतिक विजय के लिए स्त्रियों ने सतीत्व की कुछ भी परवाह न की। पुरुषों ने ब्रह्मचर्य-पालन और वीर्य-रक्षा को कुछ न समझा। आज इसलिए हम 'सभ्य हिंसक पशुओं' का दंगल देख रहे हैं।

हम अभी तक उनका अनुसरण किये चले जाते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन इसी में समझा गया है कि कुछ दिनों तक विवाह रोक दिया जाय। गुरुकुल खुलने के तीन वर्ष बाद मिसेज एनी बेसेण्ट ने नियम बनाया कि बनारस हिन्दू कॉलेज के स्कूल में मिडिल तक कोई ऐसा विद्यार्थी प्रविष्ट न हो सके जिसका विवाह हो चुका हो। तीन वर्षों से दयानन्द स्कूल लाहौर में भी इस नियम को मिडिल तक प्रचलित किया गया है। यह तो कुछ सुधार नहीं, परन्तु यदि बी० ए० क्लास तक भी विवाहित की भरती बन्द कर दें तो भी क्या होगा? क्या पशु-जीवन बन्द हो जाएगा? क्या विवाहित जोड़े अपने कुकर्मों को बन्द कर देंगे? क्या ये कभी-कभी श्वान-परिवार को भी मात नहीं कर देते? क्या बोर्डिंग स्कूल खोलकर इस रोग का इलाज हो सकेगा? जब तक सुकुमार बालकों को जननेन्द्रिय की रक्षा और पवित्रता को स्थिर रखने की विधि न सिखाई जाएगी, तब तक विवाह न करना, वा विद्यार्थियों को वर्ष का कुछ भाग एकसाथ रखने से कुछ भी लाभ न होगा।

वर्तमान कॉलेज शिक्षा-प्रणाली कैसे विद्यार्थी तैयार करती है? आज से ४० वर्ष पूर्व जिस प्रकार काशीपुरी में कॉलेजों के विद्यार्थी व्यभिचार-दोषों से पीड़ित, लट्ठ और छुरी की लड़ाई लड़ते थे, आज भी कॉलेजों के केन्द्र-स्थानों में वही छुरी चल रही है। इसमें विद्यार्थियों का कितना अपराध है? इसपर विचार करना चाहिए। जिन्हें माता-पिता ने पशु-जीवन व्यतीत करते हुए उत्पन्न किया, जिन्हें व्यभिचारी, लम्पट, विषयी पुरुषों ने शिक्षा दी, कॉलेज में पहुँचकर जिनके सामने बड़े नेताओं का दुराचारपूर्ण जीवन रक्खा गया, उनसे आशा ही क्या की जा सकती है? कॉलेज, रावी या यमुना के इस पार हो वा उस पार इससे कुछ लाभ नहीं, जब तक कि माता-पिता के उत्तम संस्कारों से प्रभावित होकर बालक आचार्य-कुल में निवास नहीं करता। तभी तो वह उत्तम आचार्य चुनने के योग्य होगा। वेद की आज्ञा है—

'स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमा ते ऽन्येन न सन्नशे।' यजु० २३।१५

"हे ज्ञान के जिज्ञासु विद्यार्थी! स्वयं अपने शरीर को समर्थ बना, स्वयं अच्छे आचार्य को प्राप्त हो, स्वयं उसकी सेवा कर जिससे तेरा यश (कुसंग के साथ) नष्ट न हो।" कैसा पवित्र, कैसा उत्साहजनक उपदेश है! क्या कॉलेजों की वर्तमान स्थिति में कोई विद्यार्थी अपने लिए स्वयं आचार्य को स्वीकार कर सकता है? सैकड़ों में कोई एक आत्मज्ञ प्रिंसिपल दिखाई देता है, दौड़ता हुआ जिज्ञासु ब्रह्मचारी उसके पास पहुँचता है, प्रिंसिपल युवक के शुद्ध भाव को पहचानता है, परन्तु शोक! प्रविष्ट करने की नियत संख्या पूरी हो गई और एक भी और प्रविष्ट नहीं हो सकता, फिर आचार्य को कैसे चुने?

परन्तु आचार्य भी कहाँ मिलते हैं ? और बेचारे करें भी क्या ? उन्हें प्रविष्ट करते हुए विद्यार्थी की परीक्षा लेने का क्या अधिकार है ? प्रार्थी की आँखें भयानक हैं, उसका मुख पिशाचत्व का नमूना है, उसपर विषय ही विषय-भोग अंकित है; परन्तु परीक्षा की पर्ची जिसके पास है उसे इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में गुरु और चेला दोनों ही असन्तुष्ट है। वेद भगवान् का उपदेश है कि—

"कस्त्वा छयति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति । क उ ते शमिता कविः ॥" यजु० २३।३६

"कौन (तेरे अंग-प्रत्यग की परीक्षा कर) तुझे छेदन करता (अर्थात् तेरा सार जान लेता है) ? कौन तुझे उत्तम शिक्षा देता ? कौन तेरे (भौतिक और आत्मिक) अंगों को शान्ति पहुँचाता है और कौन तेरा यज्ञकर्ता तत्त्वज्ञानी कवि है ?" कहाँ यह गुरु-शिष्य का आदर्श और आजकल के बेमोल जोड़ ! जब तक जाति की शिक्षा जाति के हाथ में नहीं आती, तब तक शिक्षणालयों को राज्य के प्रबंध से अलग करके उनकी स्थिति [illegible] उनके आचार्यों के सदाचार और उच्चजीवन पर ही नहीं रक्खा जाता और जब तक माता-पिता शुद्ध भाव से सन्तान उत्पन्न करके उनमें आचार्य चुनने की योग्यता का संचार नहीं करते, तब तक वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली हमें दिनों-दिन रसातल की ओर ही लिये जायगी।

(७)

वर्णाश्रम धर्म के सुधार से ही संसार का सुधार होगा !

आज सारा संसार बोल्शेविज्म के डर से काँप रहा है। जब मित्र उसका (बोल्शेविज्म) चित्र खींचते हैं, तो स्वर्गिक दृश्य दिखा देते हैं और जब शत्रु उसकी तस्वीर बनाते हैं तो उसमें कुम्भीपाक नरक की भट्टी दिखाई देती है। बोल्शेविज्म क्या है ? एक गिरगिट की तरह रंग बदलनेवाला छलावा है। उसका वही रूप है जो 'रुद्र-धनुष' तोड़ते समय महाराज रामचन्द्र के स्वरूप का आदि-कवि तुलसी-दास ने वर्णन किया है—

जाकी रही भावना जैसी ।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

परन्तु वास्तव में "बोल्शेविज्म" है क्या ? न मित्रों का खींचा चित्र ही ठीक है और न ही शत्रुओं की खींची डरावनी तस्वीर ही दुरुस्त है। उसकी वास्तविक स्थिति इन दोनों का माध्यम है। बोल्शेविज्म एक अग्नि है और अग्नि का गुण भस्म करना है। उसकी भड़की हुई ज्वाला की लपटों में जो कुछ भी आता है, भस्म हो जाता है। वहाँ पापी और पुण्यात्मा का कुछ भी भेद नहीं रहता। उसमें अपराधी और निर्दोष में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता।

जो भी उसकी लपेट में आया, स्वाहा हो गया।

"बोल्शेविज्म" संसार के परमोद्देश्य का परम साधन नहीं। परम साधन की ओर ले-जाने के लिए यह एक भीषण परन्तु अनिवार्य यन्त्र है। संसार भोग-प्रधान हो रहा है और स्वार्थ का राज्य है। व्यक्ति से व्यक्ति और राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ के जाल में फँसकर ही, भिड़ रहा है। प्राकृतिक उन्नति का प्रासाद संसार की सभ्य जातियों में भोग और स्वार्थ की बुनियाद पर खड़ा है। निर्बलों को बलवान् खा रहा है। पशु-जाति के दृष्टांत से आज की सभ्यता अपने क्रूर कर्मों की रक्षा करना चाहती है। "जिसकी लाठी उसकी भैंस"—यह सिद्धान्त पेश किया जाता है। "निर्बल पिस जाने के लिए हैं, जीने का अधिकार सबलों को ही है"—यह आजकल की सभ्यता का मूल-मन्त्र है। परन्तु क्या पशु-सृष्टि के नियम मानवी सृष्टि पर भी लागू हो सकते हैं? आहार, निद्रा, भय और सृष्टि का बढ़ाना, इन सबमें मनुष्य और पशु समान हैं। परन्तु—

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीनः पशुभिस्समानः।

मनुष्य में धर्म ही विशेष गुण है। मननशील होने से ही मनुष्य कहलाता है। इसलिए पशु-जगत् के नियम इसपर लागू नहीं होते। यदि धर्म को तिलाञ्जलि दे दी जाय तो फिर नर और पशु में भेद ही क्या है?

संसार धर्म के उच्च शिखर से पशुत्व के निचले नरक में गिर रहा है, इसीलिए बलवान् निर्बलों को खाते जा रहे हैं। पशु धोखा नहीं देते, वे खुले वनों में इस नियम पर अमल करते हैं कि छोटे पशु बड़े पशुओं का भोजन बनाये जाते हैं। लेकिन मनुष्य मक्कारी करता है। भोग और स्वार्थ को धर्म की आड़ में ही सिद्ध करने का यत्न करता है। दूसरी जाति से लड़ाई व्यापार को अपने हाथों में लेने के लिए ही की जाती है; परन्तु आड़ न्याय और सचाई की ली जाती है। मध्यकाल में मजहब, सम्प्रदाय और रिलीजन के नाम पर यदि लहू की नदियाँ बहाई जाती थीं, तो आज न्याय और सचाई और असभ्य जातियों की रक्षा का ढोंग रचकर खून की नदियाँ बहाई जाती हैं। जहाँ मजहब के नाम पर हजारों गले कटते थे, वहाँ सभ्यता और न्याय के नाम पर लाखों कटते और करोड़ों ही घर तबाह होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

गत विश्वव्यापी युद्ध सभ्य जातियों की इसी मक्कारी का परिणाम था। उस युद्ध ने लाखों रांडें बैठा दीं, शायद दो करोड़ के लगभग देवियों को व्यभिचारणी बना दिया, दो करोड़ के लगभग मजदूरी-पेशा लोगों को रोटी से भी लाचार कर दिया और कई राष्ट्रों को असहाय बना दिया। परन्तु कोई भी रोग बिना किसी उत्तम नतीजे के नहीं आता और न कोई ऐसी आंधी है जो कुछ अच्छी वस्तुओं का

नाश करने के साथ-साथ ही बड़े संचारी रोगों को भी जड़ से उखाड़कर न बहा ले जाय।

"बोल्शेविज्म" इसी प्रकार की बड़ी आँधी है। इस बोल्शेविज्म का पिता यही विश्वव्यापी युद्ध था। एक शताब्दी से अधिक समय हो गया था कि रूस की 'ज़ारशाही' ने करोड़ों को दास और अन्त्यज बना छोड़ा था। पचासों यत्न उसके विरुद्ध किये गये, परन्तु 'ज़ारशाही' का बाल बाँका न हुआ। उधर बोल्शेविज्म की ज्वाला उठी और एक लपेट में ही उसने ज़ारशाही को भस्म कर दिया। जर्मनी में 'कैसरशाही' से छूटने की किसको आशा भी ? क्या कोई इन्कार कर सकता है कि कैसरशाही की इतिश्री उस बोल्शेविज्म की स्पिरिट ने ही नहीं की जिसने सारे संसार को ही दहला छोड़ा है ? मध्य एशिया के दसों छोटे-छोटे राष्ट्रों को एक-सत्तात्मक राज्य की गुलामी से छुड़ाकर इसी ने स्वतन्त्रता की सीधी सड़क पर चला दिया है। बोल्शेविज्म एक महती शक्ति है, जिसने अपराधी और निष्ठुर राष्ट्रों को भस्म करने का ठेका लिया हुआ है। जिसने इसके आगे सिर उठाया, उसी को इसने कुचल दिया। सचमुच बोल्शेविज्म परमेश्वर के न्याय-नियम का एक स्वाभाविक हथियार है, जिसका धर्म संसार से अन्याय और अधर्म का संशोधन करना है। पाप के घने जंगल के लिए बोल्शेविज्म जलती हुई आग है। इसका काम नाश करना है।

परन्तु जब आग से जंगल जला दिया गया तो फिर उसमें उत्तम बीज बोकर खेती उपजाने की जरूरत है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान स्वार्थ और भोग के पापमय जंगल को बोल्शेविज्म की ज्वाला जलाकर राख कर देगी। परन्तु उस निराधार सूखे जंगल में जनता कहाँ सिर छिपायेगी ? वहाँ तो धूप, वर्षा और शीत से बचने के लिए साधारण छाया भी नहीं रही, फिर मनुष्य कैसे जियेंगे ? क्या प्रकृति की समाप्ति के साथ मनुष्यों की भी समाप्ति न हो जायेगी ? इस प्रश्न का उत्तर बोल्शेविज्म के पास नहीं है। जंगल जब साफ हो गया, तब चतुर माली का काम है कि भूमि को जोतकर उत्तम बीज बोना आरम्भ करे, और जंगल को लहलहाती वाटिका में बदल दे।

वह माली वेद है, और उसकी क्रिया वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था है। एक प्रकार से सारी मनुष्य-जनता को चार आश्रमों में विभक्त करना चाहिए, इसी में कल्याण है। वेद के उपदेश पर अमल करते हुए हमारे प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभक्त किया। साधारण मनुष्य की आयु १०० वर्ष की कल्पना करके पहले २५ वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम के लिए सुरक्षित कर दिये जिससे प्रत्येक बालक पूरी तैयारी करके गृहस्थाश्रमरूपी युद्ध में सम्मिलित हो सके। दूसरे २५ वर्ष गृहस्थाश्रम में दस से अधिक सन्तान उत्पन्न न करते हुए संसार का प्रबन्ध चलाने के लिए निश्चित कर दिये। तीसरे आश्रम में २५ वर्ष

तक ब्रह्म-प्राप्ति के साधन और संसार को उपदेश करने के लिए तैयारी और अन्तिम २५ वर्षों में निडर होकर धर्म-मार्ग में सर्वसाधारण को दृढ़ करने का अधिकार। इस नियम का पालन करने के लिए और इस प्रकार भोग और स्वार्थ के जीवन से बचने के लिए वैदिक वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद डाली गई।

वेद में वर्ण-व्यवस्था की मर्यादा एक अलंकार से समझाई गई है। मनुष्य-समाज को एक पुरुष मानकर वेद बतलाता है कि उस विराट् पुरुष के—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रोऽजायत॥ यजु० ३१/११

ब्राह्मण शिर, क्षत्रिय भुजा तुल्य हैं, वैश्य ऊरु हैं और शूद्र पैर हैं। मनुष्य के शरीर के तीन जोड़ हैं—(१) गले का, (२) छाती से नीचे का, (३) जंघा के नीचे गोड़े का। ये तीन जोड़ मनुष्य के शरीर को चार भागों में विभक्त करते हैं। गले के ऊपर का भाग सिर कहलाता है, इसी भाग में ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। छठा प्राण और सातवीं एक ही कर्मेन्द्रिय अर्थात् वाणी है। तृण से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त और पृथ्वी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त जितना भी ज्ञान है वह पाँचों इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है और इसी भाग में वह कर्मेन्द्रिय है, जिसके द्वारा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ ज्ञान दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है। फिर सारे शरीर के पालन-पोषण के लिए जिस भोजन की आवश्यकता होती है वह भी इसी भाग में पिसकर प्राण की सहायता से सारे शरीर में फैल जाता है, परन्तु प्राण उसमें से अपने लिए कुछ भी नहीं रखता। तब ब्राह्मण कौन है? वही जो मनुष्य-समाज के अन्दर शिर का प्रतिनिधि है, अर्थात् जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपनी सारी शक्तियों से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है और वाणी द्वारा उसका ज्यों-का-त्यों उपदेश अन्य मनुष्यों के लिए कर देता है। इतना ही नहीं, प्रत्युत सारे संसार के लिए अर्थप्राप्ति के साधन बतलाता हुआ अपने लिए कुछ नहीं रखता, और न मानापमान के रोग से ग्रस्त होता है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना तो ब्राह्मण का काम है ही, इसके साथ ही अर्थ-संग्रह करने से उसको सर्वथा अलग रहना चाहिए। ब्राह्मण की कोई जायदाद नहीं होती, उसके पास धन जमा नहीं होना चाहिए, अपने तथा अपने परिवार के भी निर्वाह की चिन्ता न होनी चाहिए। धर्मात्मा पुरुषों के दान पर ही उसकी आजीविका निर्भर होगी। मनुष्य-समाज में ऐसे ही पुरुष शिक्षक (टीचर्स), धर्मप्रचारक (प्रीचर्स) और धर्मशास्त्र-निर्माता अर्थात् स्मृतिकार होने चाहिएँ। जहाँ उपर्युक्त तीनों काम करनेवाले अपनी जुदी जायदाद और सम्पत्ति रखनेवाले होंगे, वहाँ सच्ची शिक्षा और सच्चे धर्म का फैलना दुस्तर हो जायगा। अर्थी कहीं निष्पक्ष होकर धर्म का प्रचार नहीं कर सकता। जैसे मनुष्य-देह के शिर के स्वार्थी होने से सारा शरीर विकारी हो जाता है, वैसे ही मनुष्य-समाज

में ब्राह्मण के स्वार्थी होने से सारा समाज अपने आदर्श से गिर जाता है। ब्राह्मण को केवल अपने कर्त्तव्य-पालन पर ही सन्तोष होना चाहिए और उसे किसी भी लालच से काम करने के प्रलोभन में फंसना न चाहिए।

अभी कल की बात है कि नये संशोधित राज-नियमों के अनुसार जिन राज-सभाओं का निर्माण हुआ है उनमें से संयुक्तप्रान्तीय राजसभा के सभासदों ने गवर्नर से यह प्रार्थना की थी कि सभा के अधिवेशन की ऐसी तिथियां रक्खी जाएँ जिनसे वकील, जमींदार, व्यापारी आदि सभासदों को अपनी अर्थ-प्राप्ति के लिए भी समय मिल सके। जिन सभ्यों के ऐसे विचार हैं उनके सामने जब कोई कानून बनाने का प्रश्न आवेगा तो क्या उनका ध्यान सबसे पहले अपनी जायदाद और सम्पत्ति की ओर नहीं जायेगा ? और क्या अपनी आर्थिक लाभ-हानि का खयाल वे सर्वथा छोड़ देंगे ? यह तो इस समय की बात है, परन्तु जब पूरा स्वराज्य मिल गया तब भी यदि कानून बनानेवाले वर्त्तमान नियमों पर ही चुने गये तो देश की अवस्थाओं में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आवेगा।

मनुष्य के शरीर में जो काम बाहु का है वही मनुष्य-समाज में क्षत्रिय का होना चाहिए। शरीर के अन्दर से जो दुःख उठे अर्थात् शरीर पर जो अन्दर से आक्रमण हों उनका इलाज जहाँ बाहु द्वारा होता है, वहां बाहर से जो आक्रमण शरीर के किसी भाग पर हों उनसे भी रक्षा करना बाहु का ही काम है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज के ऊपर, अन्दर और बाहर से होनेवाले आक्रमणों का निवारण करना क्षत्रिय का धर्म है। जिस प्रकार बाहु शिर से शिक्षा पाकर और उसी की बतलाई हुई विधि से राष्ट्ररूपी देह की रक्षा करता है, बाहु अन्दर गये भोजन मे से केवल अपने-आपको दृढ़ रखने के लिए जरा-सा भाग रख लेता है, जमा कुछ नहीं रखता, इसी प्रकार क्षत्रिय भी अधिकारमात्र लिया करता है और अपना सारा बल राष्ट्र की रक्षा में लगा देता है।

ऊरु-स्थानीय वैश्य स्पष्ट ही है। शरीर के पालन के लिए जो भोजन अन्दर जाता है उसे ही खींच लेता है और फिर सारे भोजन को आमाशय में पकाकर उसका रस सारे शरीर में पहुँचाता है और फोक को बाहर निकालकर फेंक देता है। सारे शरीर के पालन के लिए सम्पत्ति उसी के पास जमा रहती है। यही कर्त्तव्य एक राष्ट्र में वैश्य का होना चाहिए। धनाढ्य भी वैश्य ही होने चाहिएँ, परन्तु वह धन उनके अपने स्वार्थ के लिए नहीं है। यदि ऊरु सारा भोजन अपने लिए ही रख छोड़े तो न केवल शरीर के अन्य विभागों को ही निर्बल कर देगा अपितु अजीर्ण से अपना भी नाश कर लेगा। इसी प्रकार यदि किसी राष्ट्र में वैश्य स्वार्थी होकर अपने लिए धन जमा करें, तो जहाँ राष्ट्र के दूसरे भागों को वे निर्बल कर देंगे वहां जनता बोल्शेविक बनकर खड़ी हो जायेगी और वैश्यों का सर्वनाश कर देगी। वैश्य का सारा धन और सम्पत्ति जनता के लिए अमानत समझनी चाहिए।

शूद्र पाद-स्थानीय है। शिर, बाहु और ऊरु के सभी कामों में सहायक पैर ही होता है। इसी प्रकार राष्ट्र में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय के सब कामों को सिद्ध करानेवाला शूद्र ही साधन होगा। पाँव यदि स्वस्थ नहीं हैं तो शिर, बाहु, ऊरु अपने कर्त्तव्य-कर्म का पालन नहीं कर सकते। जिस प्रकार सब अंगों के स्वस्थ रहने पर शरीर का स्वास्थ्य निर्भर है, उसी प्रकार राष्ट्र में सब वर्णों के अपने धर्म पर स्थित रहने पर ही राष्ट्र का कल्याण हो सकता है।

यह वैदिक वर्ण-व्यवस्था है जिसको पुनरुज्जीवित करने से बोल्शेविज्म से सड़ा हुआ संसार फिर से हरा-भरा बाग बन सकता है। इस वर्ण-व्यवस्था का पुनरुद्धार जब तक न होगा तब तक विदेशियों के सर्वथा बाहर निकल जाने से भी भारतवर्ष का वर्तमान दासता से उद्धार नहीं हो सकता। परन्तु संसार में वर्णाश्रम-धर्म का फिर से स्थापन कौन कर सकता है?

आर्यसमाज का ही अधिकार है

कि वह वैदिक वर्ण-व्यवस्था की पुनःस्थापना करे। अधिकार ही क्यों, उसका कर्त्तव्य है।

स्व० गोपालकृष्ण गोखले विषयक मेरे संस्मरण

सुप्रसिद्ध राजनैतिक संन्यासी स्व० पं० गोपाल कृष्ण गोखले से मेरी प्रथम भेंट भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में हुई, जो वहाँ दिसम्बर १९०० ई० में सम्पन्न हुआ था। गोखले भारतीय सामाजिक सम्मेलन में अपने महान् गुरु स्व० न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे का प्रतिनिधित्व करने के लिए उस समय लाहौर आये थे, जब कि न्यायमूर्ति रानडे स्वयं अस्वस्थ होने के कारण अपनी मृत्यु-शैया पर थे। श्री रानडे आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती के बड़े प्रशंसक थे। ऋषि दयानन्द के चरणों में बैठकर ही श्री रानडे ने व्यापक देशभक्ति का पाठ पढ़ा था और भारत के लूथर कहे जानेवाले ऋषि के निधन के पश्चात् उनके कार्यों में देशभक्ति की यही भावना प्रतिफलित हुई थी। अपनी मातृभूमि के सामाजिक उत्थान में रानडे के कार्य के प्रसंग में ही मैं उनके नाम से परिचित हुआ तथा उनके सम्पर्क में भी आया था। जबकि भारतीय समाज के चिन्तन की दिशा लोगों की राजनैतिक आकांक्षाओं को नेतृत्व देने की ओर संकेत कर रही थी, श्री रानडे ने अपनी अचूक दृष्टि से देख लिया था कि समाज के सामाजिक पुनर्निर्माण के अभाव में राजनैतिक प्रगति, न केवल असम्भव ही है, अपितु महान् भारत राष्ट्र के भावी हित की दृष्टि से खतरे का कारण भी हो सकती है।

एकाधिक बार मुझे उनकी उस परिपूर्ण योग्यता की प्रशंसा करने का अवसर मिला है जबकि मैंने देखा कि अनेक जटिल और उलझनभरी समस्याओं के समाधान में उन्होंने उपयुक्त प्रस्तावों के ऐसे मसौदे तैयार कर दिये जिससे कि उन प्रश्नों से सम्बन्धित परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण रखनेवाले तत्त्वों का भी समुचित समाधान हो गया। अब यह एक खुला रहस्य है कि अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन के समक्ष प्रस्तुत किये गये प्रस्तावों में अधिकांश उन्हीं के द्वारा तैयार किये गए थे।

अंग्रेजी तौर-तरीकों में दीक्षित तथा अंग्रेजी-पठित समाज के बीच रहकर उन्होंने अपने विचारशील मस्तिष्क के संतुलन को बनाये रक्खा तथा अपने निकटवर्ती साथियों को नित्यप्रति के जीवन में राष्ट्रीयता की भावना अपनाने की प्रेरणा दी।

श्री रानडे मुझसे इसलिए और भी अधिक प्रसन्न थे क्योंकि मैंने १८९९ के लखनऊ में सम्पन्न अखिल भारतीय सामाजिक सम्मेलन के अधिवेशन में उनकी पर्याप्त सहायता की थी। इसी का यह परिणाम था कि जब १९०० के अधिवेशन में वे खुद सम्मिलित नहीं हो सके, तो उन्होंने मेरे लिए एक सन्देश भेजा जिसमें कहा गया था कि सामाजिक सम्मेलन के लाहौर अधिवेशन में मैं श्री गोखले का भी सहयोग करूँ जो उनके प्रतिनिधिरूप में ही वहाँ आ रहे हैं। इससे पहले भी एक बार मैंने श्री गोखले को देखा था, उस समय जब कि १८९३ में राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में सम्पन्न हुआ था।

उस राष्ट्रीय समारोह की अध्यक्षता हेतु भारत के महान् वृद्ध पुरुष दादा भाई नौरोजी आये थे जो उससे कुछ पहले ही ब्रिटिश संसद के हाउस ऑफ कॉमन्स के सदस्य निर्वाचित घोषित किये गए थे। उस दिन जब कांग्रेस के पण्डाल में सामाजिक सम्मेलन की बैठक भी होनी थी, दादाभाई इसमें सम्मिलित होने के लिए आये। उस समय बड़ी जबरदस्त बारिश हो रही थी और सारा पण्डाल पानी से चू रहा था। सौभाग्यवश जिस स्थान पर मैं बैठा था, वह पूर्णतया सुरक्षित था और लोग दादाभाई को वहीं ले आये। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस महान् नेता ने हम लोगों से प्रसन्नतायुक्त मुद्रा में वार्तालाप आरम्भ कर दिया। चार-पांच युवक उस समय उनके निकट बैठे थे। उनके प्रेरणाप्रद वार्तालाप तथा आकर्षण का विवरण, जिसके कारण हमें अपने हृदय को उनके समक्ष खोल देना पड़ा, फिर कभी बताऊँगा, यहाँ तो मैं केवल उनके एक प्रासंगिक वक्तव्य की ही चर्चा करूँगा। श्री गोखले किसी प्रस्ताव का समर्थन करने के लिए खड़े हुए और पाँच मिनट में ही उन्होंने अपने मत के समर्थन में तथ्यों, आँकड़ों तथा अपने मन्तव्यों का ढेर लगा लिया। जिस समय श्री गोखले बोल रहे थे, भारत का यह महान् वृद्ध पुरुष चुप था और उसका दीप्तियुक्त मुख युवक गोखले के प्रति प्रशंसाभाव को ही व्यक्त कर रहा था। जब गोखले ने अपने कथन को समाप्त किया, तो नौरोजी ने अपना विशिष्ट मत इस प्रकार प्रकट किया—**यह भारत का भावी पुरुष है।**

परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी रहीं कि मैं दिसम्बर १९०० में श्री गोखले की कुछ अधिक सहायता नहीं कर सका। इसके कुछ अपरिहार्य कारण भी थे, किन्तु उस समय हम दोनों में जो मैत्रीभाव बना वह निरन्तर बढ़ता ही गया और एक समय आया जब कि मातृभूमि की सेवा के समान कर्त्तव्य-पालन में हम एक हो गये। हम प्राय: परस्पर पत्राचार करते और उन्होंने दूर रहते हुए भी प्रथम तो गुरुकुल की प्रशंसा की और उसके पश्चात् तो वे उससे प्रेम भी करने लगे। १९०६ में सम्भवत: श्री गोखले ने पंजाब तथा संयुक्तप्रान्त की यात्रा की। जिस दिन वे मेरे मूल निवासस्थान जालन्धर जा रहे थे, मुझे एक तार मिला जिसमें

उन्होंने मुझे उनसे मिलने को कहा था। उनके निराडम्बर, महत्त्वाकांक्षारहित, किन्तु मातृभूमि के एकनिष्ठ सेवक, व्यक्तिगत सचिव श्री जी० के० देवधर एम० ए० ने मेरी और उनकी मुलाकात की व्यवस्था जालन्धर रेलवे स्टेशन पर कर दी। इसलिए हमने प्रतीक्षागृह में पूरे छ: घण्टे तक बहुत रोचक तथा प्रेमपूर्ण वार्तालाप किया। तब ऐसा लगा था कि हम उन सभी तात्कालिक मसलों पर सह-मति रखते हैं और हम दोनों के बीच में इतना-कुछ समान है, जो इससे पहले तक सोचा भी नहीं गया था। वहीं पर मुझे गोखले ने बताया कि वे सक्रिय जीवन से लगभग एक पखवाड़े के लिए विश्राम लेना चाहते हैं ताकि अपनी भावी कार्य-योजना के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट मत बना सकें। मैंने उन्हें गुरुकुल में अतिथि के रूप में आकर रहने के लिए कहा, ताकि वे वहाँ शरीर और मन से पूर्ण विश्राम कर सकें।

दिसम्बर १९०७ ई० में जब वे कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए जा रहे थे, उन्होंने मुझे लिखा कि मैं, राष्ट्रीय दल के दो प्रतिद्वन्द्वी गुटों के बीच जो दरार पड़ गई है, उसे पाटने में उनकी मदद करूँ। दुर्भाग्यवश मैं समय पर सूरत नहीं पहुँच सका और जब मैं वहाँ गया, तब तक कांग्रेस का विभाजन पूर्णरूपेण हो चुका था। अतः एक महान् राष्ट्रीय सम्मेलन में सम्मिलित होने की अपेक्षा मुझे कुछ टूटी कुर्सियों और टूटे दिलों का ही सामना करना पड़ा। इससे पूर्व कि मैं उनसे भेंट करता, गोखले तथा अन्य नेता वहाँ से जा चुके थे। मैं वहाँ आर्यसमाज के काम के लिए थोड़े समय तक रुका और पुनः गुरुकुल लौट आया। घर लौटने पर मुझे गोखले का एक प्यारा-सा पत्र मिला। इससे सारी बातें स्पष्ट हो जायेंगी।

पत्र-संख्या १

दिनांक २४ का आपका कृपापत्र आज प्रातः मिला। यह जानकर मुझे खेद हुआ कि आप २७ तारीख को सूरत नहीं पहुँच सके। मैं तो आपसे भेंट करने की प्रतीक्षा ही कर रहा था। यदि ऐसा हुआ होता, तो हम दोनों मिल-बैठकर उन दु:खद घटनाओं की समीक्षा करते, जिनकी चरम परिणति सूरत में कांग्रेस के विभाजन से हुई। आप जैसे तटस्थ व्यक्ति से यह चर्चा और भी आवश्यक थी। अभी भी मैं परिस्थितियाँ जैसा मोड़ ले रही हैं, उनके कारण बहुत चिन्तित हूँ और शान्त एकान्त वातावरण में वर्तमान स्थिति पर आपसे बातचीत करने से अधिक की मेरी कोई इच्छा नहीं है। किन्तु आपकी कठिनाई मेरी भी कठिनाई है। मैं अपने कार्य से बंधा हूँ और इससे कैसे छुटकारा हो सकता है, यह नहीं जानता। मैं यहाँ से पूना और बम्बई के लिए २ फरवरी को प्रस्थान करूँगा और १२ मार्च तक पुनः लौटना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। मार्च के अन्त तक

मैं पुनः पूना जाऊँगा और फिर अप्रैल के मध्य तक मुझे कन्वेन्शन कमेटी के काम से इलाहाबाद जाना है। अन्ततः अप्रैल के अन्त तक मुझे इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान करना है, कारण कि इलाहाबाद में जब नई असेम्बली का विधान तैयार हो चुकेगा तो लन्दन में हमारे संगठन की पुनः रचना आवश्यक होगी, जो अभी सुप्तावस्था में जीवित है। इस प्रकार आप अनुभव करेंगे कि इस वर्ष मेरा गुरुकुल में आना सम्भव नहीं है। किन्तु मैं आपको यह भी विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मेरी इस अक्षमता के लिए मुझसे अधिक खेद अन्य किसी को नहीं हो सकता।

मुझे सुखद आश्चर्य होगा यदि आप स्वयं उस समय इलाहाबाद आयें जब कि ईस्टर के अवकाश में कन्वेन्शन कमेटी की बैठक होनी है। इस स्थिति में हम वर्तमान परिस्थितियों पर लम्बी बातचीत कर सकेंगे और निकट भविष्य में किस ओर विशेष प्रयत्न करना है, यह भी निर्धारित कर सकेंगे। इस आशा के साथ कि आप आनन्द में हैं, सम्पूर्ण आदर सहित,

आपका विश्वासभाजन
जी० के० गोखले

जिस समय गोखले द्वारा उपर्युक्त पत्र लिखा गया था, वे आर्यसमाज तथा उसकी प्रिय संस्था कांगड़ी स्थित गुरुकुल को भारत के भावी पुनर्जीवन का एक महत्त्वपूर्ण कारण मानने लगे थे तथा उनकी मेरे प्रति प्रेम एवं सहानुभूति, शक्ति और गहराई की दृष्टि से भी बढ़ चुकी थी। एक भी ऐसा महीना नहीं गुजरता, जब कि मुझे उनका कोई संदेश नहीं मिलता और वे ऐसे अवसर की तलाश में थे जब कि संदेह और अविश्वास के उस वातावरण को बदला जा सके, जो ब्रिटिश अधिकारियों के मन में आर्यसमाज को लेकर बन रहा था।

१९१० के अन्त में इलाहाबाद में एक विशाल प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। इसी समय यहाँ कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन सर विलियम वेडरबर्न की अध्यक्षता में होने वाला था। सर विलियम वेडरबर्न जैसे एक बुजुर्ग पर अध्यक्षता का बोझ डालना सचमुच तकलीफदेह था, इसलिए श्री गोखले को उनके सचिव के पद पर कार्य करने का दायित्व सौंपा गया। गोखले ने मुझे तुरन्त तार द्वारा इलाहाबाद पहुँचने के लिए कहा, और उन्होंने वादा किया कि आर्यसमाज के हित की रक्षा के लिए वे सर वेडरबर्न को कुछ करने के लिए कहेंगे। अतः मैं वहाँ गया और उस वृद्ध ब्रिटिश राजनीतिज्ञ से मेरा परिचय भी मेरे स्वर्गीय प्रिय मित्र ने ही कराया। उस साक्षात्कार से पूर्व की घटनाएँ अब भी मेरे मन पर अमिट रूप से अंकित हैं। जिस होटल में कांग्रेस के इस अतिथि को ठहराया गया था, शायद उस होटल का नाम राजा होटल था। वहाँ जब मैं पहुँचा तो श्री देवधर मुझे ऊपर की मंजिल में ले गए और मुझे एक छोटे-से कमरे में प्रतीक्षा

करने के लिए कहा। यह कमरा सर वेडरबर्न की बैठक के कमरे से लगा हुआ ही था। उस दिन अपराह्न में कांग्रेस के पण्डाल में सर विलियम को अपना समापन-भाषण देना था, और श्री गोखले ने उस भाषण का जो प्रारूप तैयार किया था, उसे वे पढ़कर सुना रहे थे। दोनों कमरों के बीच की दीवार इतनी पतली थी कि उस भाषण का एक-एक शब्द मैंने सुन लिया। भाषण में केवल दो-तीन स्थल ही ऐसे थे जहाँ पर सर विलियम कुछ परिवर्तन कराना चाहते थे, किन्तु जब श्री गोखले ने इस प्रतिष्ठित वृद्ध अंग्रेज के समक्ष अपनी युक्तियाँ प्रस्तुत कीं तो उन्हीं की राय मान ली गई और सर विलियम वेडरबर्न जोर से बोल पड़े —**नौजवान ! तुम हमेशा ही ठीक बात कहते हो।**

जब व्याख्यान का प्रारूप सर विलियम के द्वारा स्वीकार कर लिया गया, तो गोखले बाहर आये और मुझे सर वेडरबर्न के कमरे में ले गए। मैं उस वयोवृद्ध अंग्रेज की पितातुल्य वाणी और प्रेम को कभी नहीं भूलूंगा जो उसने मुझसे भेंट करते समय प्रकट की। इतने ही धैर्य से उन्होंने आर्यसमाजियों पर किये जानेवाले अत्याचारों की कहानी भी सुनी। अनेक खोजपूर्ण प्रश्न पूछकर श्री गोखले ने जो कुछ ज्ञातव्य था, वह मेरे से जान लिया और सर विलियम तो इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने मेरे हाथ को अपने हाथ में लेकर उद्घोषणापूर्वक कहा —मेरे साथ तुरन्त कलकत्ता चलो, लॉर्ड हार्डिंग को आपकी बात सुननी होगी ! गोखले ने पुनः हस्तक्षेप करते हुए कहा—क्या यह अधिक अच्छा नहीं होगा कि आप लॉर्ड हार्डिंग को पहले ही सारी बातें बताकर तैयार करें और तब उन्हें स्वेच्छा से ही आर्यसमाजियों के प्रतिनिधि-मण्डल से मिलने के लिए कहें ? सर विलियम क्षणभर के लिए चुप रहे और पुन: बोल पड़े—तुम्हारे युवा कंधों पर एक वृद्ध और अनुभवी व्यक्ति का सिर है। **नवयुवक, तुम सदा ठीक ही कहते हो।** सर विलियम वेडरबर्न ने अत्यन्त उदार तथा उच्च भावापन्न मन:स्थिति में वायसराय से प्रभावपूर्ण ढंग से बात की और गोखले ने मुझे कलकत्ता जाकर महामहिम वायसराय से भेंट करने के लिए कहा। इसी बीच अधिकारीवर्ग में घटित कुछ घटनाओं की मुझे जानकारी मिली, जिसके कारण मेरा कलकत्ता जाना नहीं हो सका। इसी अवसर पर गोखले ने कलकत्ता से मुझे वह पत्र लिखा जो संख्या २ पर उद्धृत है।

पत्र-संख्या २

३६, रौलैण्ड रोड
कलकत्ता
२४ मार्च १९११

प्रिय लाला जी,

मैं गत मास में या इस मास में आपकी यहाँ प्रतीक्षा कर रहा था। जब

पिछली बार हम इलाहाबाद में मिले थे, तब आपने यहाँ आने की स्वीकृति दी थी। मैं चाहता था कि सर विलियम वेडरबर्न और महामहिम नये वायसराय के बीच आर्यसमाज को लेकर जो बातचीत हुई है उसके बारे में आपको व्यक्तिशः बताऊँ तथा यह भी बताऊँ कि अनेक अधिकारियों के मन में आर्यसमाज की शासन के प्रति वफादारी को लेकर जो संदेह हैं, उनसे भी आपको अवगत करा दूँ। अब चूंकि आप तो आये नहीं, और वायसराय भी अगले सप्ताह पंजाब जा रहे हैं, इसलिए मुझे आपको यह लिखकर सूचित कर ही देना चाहिए कि सर विलियम वेडरबर्न ने महामहिम के समक्ष बड़ी दृढ़ता से इस बात को प्रस्तुत किया है कि देशभर के आर्यसमाजियों को इस बात की शिकायत है कि उनके प्रति अन्यायपूर्ण संदेह किया जा रहा है, और इसे दूर किया जाना आवश्यक है। सर विलियम ने जो कुछ कहा उसे वायसराय ने बड़ी रुचि के साथ सुना तथा उन्हें वचन दिया कि उनके द्वारा निर्दिष्ट तरीके पर वे समस्या का समाधान करने के लिए शीघ्र ही तत्पर होंगे। अतः मैं सोचता हूँ कि यदि समुचित तरीके से महामहिम के समक्ष, जब वे पंजाब आयें, आर्यसमाज की समस्या से सम्बन्धित एक संक्षिप्त निवेदन प्रस्तुत किया जाय, तो वह लाभप्रद सिद्ध होगा।

इस आशा के साथ कि आप कुशल हैं।

आपका विश्वासभाजन
गो० कृ० गोखले

गत अनुच्छेद में उल्लिखित गोखले का पत्र मुझे अत्यन्त विलम्ब से मिला और मैं उनके द्वारा निर्दिष्ट आदेश के अनुसार कार्य नहीं कर सका। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ कि उस समय मैं लॉर्ड हार्डिंग की सेवा में शिष्टमण्डल लेकर नहीं गया। मैंने श्री गोखले के २४ मार्च १९११ के पत्र के उत्तर में जो पत्र उन्हें लिखा, उसमें उनके द्वारा प्रस्तुत सुझाव को न मानने के बारे में मैंने अपने कारण बताये थे।

पत्र-संख्या ३

गुरुकुल संस्थान
(कनखल)
७ अप्रैल १९११

प्रिय श्री गोखले,

आप आर्यसमाज के लिए जो अपूर्व सेवा कर रहे हैं, उसके प्रति धन्यवाद व्यक्त करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द भी नहीं हैं। आपका २४ मार्च का पत्र गुरुकुल में आ गया था, किन्तु मैं अपने गुरुकुल की मुलतान शाखा को देखने वहाँ गया हुआ था। आपका वह पत्र २९ मार्च को एक प्रोफेसर लेकर मेरे पास आए

किन्तु तब तक शिष्टमण्डल गठित करने में पर्याप्त विलम्ब हो चुका था। महामहिम वायसराय का कार्यक्रम अत्यन्त व्यस्त था और उसमें स्वागत-समारोह और अभिनन्दन के आयोजनों की भरमार थी। हमने आपस में जो कलकत्ता पहुँचने की योजना बनाई थी, उसे मैं क्यों नहीं क्रियान्वित कर सका, इसे पत्र के माध्यम से व्यक्त करना कठिन है। मैं यह आपसे प्रत्यक्ष भेंट करने पर ही बताऊँगा।

अब आप मुझे क्या करने की सलाह देते हैं? यदि आप अनुचित न समझें तो मैं वायसराय के निजी सचिव के माध्यम से शिमला में उनसे भेंट करने का समय माँग सकता हूँ अथवा मैं अपनी समस्या से सम्बन्धित एक वक्तव्य लिखकर वायसराय के विचारार्थ भेज सकता हूँ। यदि आप शिमला-सत्र के बीच शिमला जाते हों तो क्या उस समय तक प्रतीक्षा करना हमारे लिए ठीक नहीं होगा? पूना बहुत दूर है, परन्तु यदि आप शीघ्र ही इधर आएँ तो मैं आपके समक्ष कुछ नवीन तथ्य रखना चाहूँगा, जिससे कि आप उन समस्याओं पर जिनसे आपका ही वास्ता है, पुनर्विचार कर सकें। जिस निजी भंगिमा में मैंने यह पत्र आपको लिखा है, कृपया उसके लिए मुझे क्षमा करें। आपको पत्र लिखते समय मैं अनुभव कर रहा हूँ कि यह पत्र मैंने अपने एक अत्यन्त निकट के दयालु मित्र को ही लिखा है। कष्ट के लिए क्षमा तथा शीघ्र उत्तर की कामना सहित।

आपका विश्वासभाजन,
मुंशीराम

उपर्युक्त पत्र के उत्तर में मुझे निम्न पत्र मिला—

पत्र-संख्या ४

भारत सेवक सोसाइटी
पूना सिटी
१७ अप्रैल १९११

प्रिय लाला जी,

आपका ७ अप्रैल का पत्र मुझे यहाँ मिला। मुझे यह पता नहीं है कि वायसराय की कौंसिल का शिमला-अधिवेशन इस वर्ष होगा या नहीं। यदि हुआ तो वह निश्चित रूप से सितम्बर में होगा और मैं उसमें सम्मिलित होऊँगा। तब यदि आप वहाँ आयेंगे, तो तात्कालिक परिस्थिति को देखते हुए हमें क्या करना है, इसका विचार उसी समय करना अधिक उचित रहेगा। आप जैसा मुझे लिखते हैं, वह आपकी परम कृपा ही है। मैं इसे आपकी महती अनुकम्पा मानता हूँ कि आप मुझे अपना घनिष्ठ तथा प्रिय मित्र कहते हैं। इस आशा के साथ कि आप प्रसन्न हैं। पूर्ण आदर सहित।

आपका,
गो० कृ० गोखले

पूर्वोक्त पत्र प्राप्त होने पर मैंने एक पखवाड़े के लिए पूना जाने और अपनी दिलचस्पी के विषयों पर श्री गोखले से स्पष्ट बातचीत करने का मन बनाया। मुझे याद है कि श्री गोखले ने हमारे स्नातकों के प्रथम जत्थे को प्रशिक्षण देने का विचार रक्खा था और वे चाहते थे कि ये विद्यार्थी एक वर्ष तक अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान का अध्ययन करें। इस प्रस्ताव पर निर्णय लेने के लिए मैं 'भारत सेवक सोसाइटी' के पूना-स्थित कार्यालय में जाकर उस संस्था का स्वयं अध्ययन करना चाहता था। इस सम्बन्ध में मैंने २१ अप्रैल १९११ को जो पत्र लिखा था, उसकी प्रति इस समय उपलब्ध नहीं हो रही है, किन्तु श्री गोखले ने जो उत्तर उस समय दिया, वह इस प्रकार है—

पत्र-संख्या ५

सिंहगढ़ डा० डोंगा
जिला पूना
२९ अप्रैल १९११

प्रिय लाला जी,

आपका २१ अप्रैल का पत्र मुझे कल सायं यहाँ मिला। मैं इस छोटी-सी पहाड़ी पर ग्रीष्म ऋतु से निजात पाने एक मास के लिए आया हूँ। जून के आरम्भ में पूना लौट जाऊँगा। मैं पूना में जून से अक्टूबर के अन्त तक रहूँगा। केवल सितम्बर के उन दिनों को छोड़कर, जब कि मैं वायसराय की कौंसिल की बैठक में भाग लेने शिमला जाऊँगा। अगस्त के कुछ दिनों के लिए मैं अपने प्रारम्भिक शिक्षा-विधेयक के लिए समर्थन प्राप्त करने हेतु शायद बंगाल या बिहार भी जाऊँ, किन्तु इसके बारे में अभी कुछ पक्का नहीं है।

यह कहना तो कतई आवश्यक नहीं है कि यदि आप हमारी संस्था को देखने के लिए पूना आएँ तो मुझे कितनी प्रसन्नता होगी। यदि आप आने का विचार करें, और मुझे आशा है कि आप अवश्य आयेंगे, उस स्थिति में आप मुझे पहले ही सूचित कर दें ताकि मैं आपकी सुविधा के अनुसार अपने कार्यक्रम का निर्धारण कर लूं। आदर सहित,

आपका
गो० कृ० गोखले

पत्र-संख्या ६

गुरुकुल
१२ मई १९११

मेरे प्रिय गोखले,

मैं आपके २९ अप्रैल के सदाशयतापूर्ण पत्र के लिए धन्यवाद अर्पित करता

हूँ। आर्यसमाज और ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में कोई अन्तिम धारणा बनाने के पूर्व मैं आपसे विस्तृत बातचीत करना चाहता था, किन्तु आपसे शीघ्र भेंट करने की फिलहाल कोई सम्भावना नहीं है, अतः मैं आपको और अधिक देर के लिए संदेह में नहीं रखना चाहता।

मुझे पक्का निश्चय है कि हम चाहे जैसी स्वीकारोक्ति करें, वायसराय या सरकारी अधिकारी उससे संतुष्ट होनेवाले नहीं हैं। यह निश्चय ही एक दुःखद स्थिति है, किन्तु मैंने भी दृढ़ निश्चय कर लिया है कि बिना कुछ कहे, मैं उस सबको सहन करूँगा जो भावी ने वैदिक धर्म की भाग्यरेखा में लिख दिया है। यदि मुझे आपसे मिलने का अवसर मिला, तो मैं आपके सम्मुख कुछ ऐसे कागजात प्रस्तुत करूँगा जो आपके आशावाद को भी प्रबल धक्का पहुँचाएँगे। एक प्रार्थना और है। मैंने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा-विषयक आपके विधेयक को पढ़ा है। इस विधेयक की ५, १०, १२ तथा १३वीं धाराओं को अनेक बार पढ़कर मुझे विश्वास हो गया है कि आपका यह विधेयक अपने वर्तमान रूप में (निश्चय ही अनजाने में) आर्यसमाज के उन अनेक गुरुकुलों पर कुठाराघात करेगा जो देश के विभिन्न भागों में खुले हुए हैं। हजारों आर्य केवल गुरुकुल शिक्षा-पद्धति में ही विश्वास रखते हैं। आर्यसमाज के शत्रुओं से युक्त कोई स्थानीय समिति यदि यह निश्चय करती है कि किसी गुरुकुल में पढ़नेवाले किसी बालक को शिक्षा-विषयक पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं, और इसलिए उस स्थानीय समिति ने यदि उस बालक के पिता को अपने विश्वासों के लिए दण्डित भी किया, तो उस समिति को रोकनेवाला कौन है?

मैं अपने हृदय के अन्तर्तम से, आपने आर्यसमाज के लिए जो किया है तथा मेरे प्रति जो उदारता दिखाई है, उसके लिए धन्यवाद देता हूँ। परन्तु मैं सोचता हूँ कि यदि आर्यसमाज अपने लक्ष्य के लिए कार्य करना चाहता है तो उसे इसके लिए स्वयं ही पुरुषार्थ करना होगा। सर्वशक्तिमान् दयालु पिता हमारे शासकों के हृदय में ऐसा परिवर्तन करे, जिससे कि वे दयानन्द तथा उसके अनुयायियों के उच्च ध्येय को समझ सकें। ऐसा समय जब तक नहीं आता, तब तक तो आर्यसमाजियों को वह बोझ खुद ही उठाना पड़ेगा, जो उन्होंने स्वयं की इच्छा से ही अपने ऊपर लाद लिया है।

मैं हूँ आपका विश्वासपात्र,
मुंशीराम

पत्र-संख्या ७

गुरुकुल
(कनखल)
२८ जून १९११

मेरे प्रिय गोखले,

आपका विगत पत्र जो आपने सिंहगढ़ से २९ अप्रैल को लिखा था, मुझे यथा समय मिल गया। उसका उत्तर मैंने गत १२ मई को लिखा था, मुझे उस पत्र की प्राप्ति की सूचना आज तक नहीं मिली है। मेरे पत्र-व्यवहार को सदा ही सेंसर किया जाता है। क्या आप कृपा कर मुझे बताएँगे कि मेरा पत्र आपको मिला भी या नहीं। जब तक इसके बारे में मुझे आपसे सूचना नहीं मिल जाती, मैं उस विषय पर आपको नहीं लिखूँगा, जिसका उल्लेख मैंने अपने पत्र में किया था। मुझे आशा है कि आप पुन: स्वस्थ होकर मातृभूमि की सेवा के लिए पूना आ गए हैं।

पत्रों से मुझे पता चला है कि विधायिका सभा का सत्र शिमला में सितम्बर से आरम्भ होनेवाला है। यदि आप इस सत्र में सम्मिलित होते हों, तो क्या आप कुछ घण्टों के लिए कालका नहीं रुक सकते और अपने अमूल्य समय में से १-२ घण्टे मुझे प्रदान नहीं कर सकते? मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपके इस समय का अपव्यय नहीं होगा। शीघ्र उत्तर-प्राप्ति की आशा में।

आपका,
मुंशीराम

पत्र-संख्या ८

भारत सेवक सोसाइटी
पूना सिटी
७ जुलाई १९११

मेरे प्रिय लाला जी,

आपका २८ जून का पत्र परसों सायं मुझे तब मिला जब मैं एक सप्ताह यहाँ से अनुपस्थित रहकर पूना लौटा। आपका १२ मई का पत्र भी मुझे मिल गया था और मुझे इस बात का खेद है कि मैं उसका तत्काल उत्तर नहीं दे सका क्योंकि उस समय मैं अस्वस्थ था। एक-दो दिन में मैं आपको पुन: लिखूँगा। इस बीच यह जानकर कि आप इस बात को लेकर चिंतित होंगे कि आपके पत्र मुझ तक पहुँचते हैं या नहीं, मैं आपको आश्वस्त करने के लिए यह पंक्ति लिख रहा हूँ। सम्पूर्ण आदर सहित।

आपका
गो० कृ० गोखले

पत्र-संख्या ६

भारत सेवक सोसाइटी
पूना सिटी
२० जुलाई १९११

मेरे प्रिय लाला जी,

मुझे दुःख है कि मैं आपको उतनी तत्परता से पत्र लिखने में असमर्थ रहा, जैसा मैं चाहता था। किन्तु विगत कुछ दिनों से बम्बई और पूना के बीच निरंतर घूमता रहा। परिणाम यह हुआ कि पत्र-व्यवहार के लिए बहुत कम समय मिला। मैं आपकी इस भावना को समझता हूँ कि वर्तमान में आपके द्वारा किये गये कितने ही प्रयत्न आर्यसमाज के बारे में पैदा किये गए उन शक-शुबहों को दूर नहीं कर पाएँगे जो किन्हीं क्षेत्रों में व्याप्त हो रहे हैं। और यदि आपके स्थान पर मैं होता तो मैं भी आपकी ही भाँति इसी निर्णय पर पहुँचता कि सबसे अच्छा और गरिमामय तरीका तो यही है कि आदमी अपने ही मार्ग पर सीधा चलता चला जाय और जो कुछ आ पड़े उसे धैर्यपूर्वक सहन करे। उसके साथ ही मैं यह भी आशा करता हूँ कि स्थितियाँ अब पूर्वापेक्षा अधिक अच्छी होंगी। मैं आगामी सितम्बर में शिमला जाते समय आपसे भेंट कर प्रसन्नता अनुभव करूँगा। क्या आपके लिए १० से २२ सितम्बर के बीच वहाँ जाना सम्भव होगा?

मेरे विचार से आपकी यह धारणा निर्मूल है कि मेरे शिक्षा-विषयक विधेयक से गुरुकुल विद्यालयों की कोई हानि होगी। यह मैं आपको तब बताऊँगा जब आप शिमला में मुझसे मिलेंगे। किन्तु मैं यह भी चाहता हूँ कि यदि आपको इस बिल से किसी प्रकार की हानि की आशंका हो, तो उसे दूर करने के लिए आप उचित संशोधन भी मुझे सुझायें। मैं उनपर पूरा विचार करूँगा। कृपया अपनी सुविधा के अनुसार ऐसे संशोधनों का एक प्रारूप बनाकर मुझे शीघ्र ही भेजें।

मैं आज रात को मद्रास के लिए रवाना हो रहा हूँ। वहाँ मद्रास प्रान्त के लिए प्रारम्भिक शिक्षा-संस्थान के उद्घाटन-समारोह में मुझे उपस्थित रहना है। मैं मद्रास में चार दिन तक रहूँगा और पूर्वी तट रेलवे के द्वारा कलकत्ता के लिए प्रस्थान करूँगा। बंगाल के मेरे मित्रों ने वहाँ के देहातों के लिए मेरा एक व्यस्त कार्यक्रम बनाया है और मैं अगस्त के मध्य तक पूना लौट सकूँगा। इस आशा के साथ कि आप ठीक हैं। पूर्ण आदर सहित।

आपका
गो० कृ० गोखले

ओ३म्

रामायण रहस्य कथा

(यह कथा स्वामी श्रद्धानन्द ने शिवरात्रि वि० सं० १९८३ (१९२६ ई०) में स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के प्रसंग में टंकारा में प्रस्तुत की थी।)

३५ वर्ष पूर्व टंकारा में मोरवी नरेश की उपस्थिति में

महर्षि दयानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर श्री स्वामी श्रद्धानन्द महाराज की

* रामायण की शिक्षाप्रद कथा *

कथा-उद्भव-प्रसंग

सम्वत् १९८२ (उत्तरभारतानुसार सं० १९८३) के महाशिवरात्रि के दिन महर्षि दयानन्द जी के जन्म-शताब्दी-महोत्सव के प्रसंग में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी काठियावाड़ में "टंकारा" पधारे थे। वहाँ पर एकत्रित हुए राजपूतों (क्षत्रियों) ने स्वामी जी को कुछ उपदेश देने के लिए आग्रह किया। स्वामी जी ने गहरे दुःख-भरे स्वर में उत्तर दिया—"मैं किसके सामने बोलूं? मैंने सुना था कि सौराष्ट्र में बहुत क्षत्रिय रहते हैं, किन्तु मैं यहाँ किसी क्षत्रिय को नहीं देखता।" इतना कह-कर स्वामी जी मौन हो गए। चौथे दिन उनका मौन टूटा। उनके मुख से गंगा के निर्मल प्रवाह के सदृश रामायण-कथा का अजस्र स्रोत बहने लगा। क्षत्रियों की गीता रामायण ही है और इस कथा के कहनेवालों का कष्ट भी क्षत्रियवर* श्री श्रद्धानन्द जी का था। दोनों के उचित मेल से महासंगीत का वातावरण उत्पन्न हो गया। डेढ़ घण्टे तक अखण्ड शान्ति के मध्य वह (रामायण कथा का) पुनीत प्रवाह बहता रहा।

स्वामी जी ने इस कथा को कहा, किन्तु इस (कथा) के लिए शताब्दी के कार्यक्रम में पहले से कोई निर्णय नहीं हुआ था। प्रसिद्ध कथाकार स्वामी सत्यानन्द

* श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का जन्म क्षत्रिय-कुल में हुआ था।—यु० मी०

जी रामायण की कथा करनेवाले थे, परन्तु उनके न आने से स्वामी जी (श्रद्धानन्द जी) का नाम कार्यक्रम में लिखा गया। इस प्रकार एक उत्तम योग प्राप्त हुआ।

स्वामी जी के कथा करने के पश्चात् एक प्रतिष्ठित सद्गृहस्थ ने कहा था कि स्वामी जी आज बाजी मार गये। शताब्दी-महोत्सव में सर्वोत्तम कार्यक्रम यह कथा थी।

जिस तरह स्वामी दयानन्द जी निर्भय होकर राजा-महाराजाओं को उपदेश देते थे, उसी प्रकार की निर्भीक शैली से सौराष्ट्र के राजाओं के समक्ष रामायण-रूप महासागर से संगृहीत रत्नों को निम्नलिखित शब्दों में प्रकाशित किया था।†

—युधिष्ठिर मीमांसक

† "हुतात्मा श्रद्धानन्द" से अनूदित।—यु० मी०

रामायण की रहस्य-कथा

महापुरुषों के पूजक साधु वसवाणी जी[1] ने अपने एक व्याख्यान में संसार के विश्ववन्द्य महापुरुषों की नामावली गिनाते हुए बुद्ध, महावीर, कृष्ण, क्राइस्ट, कॉन्फ्युशियस, मुहम्मद, नानक, केशव, चन्द्रसेन, राजा राममोहन राय इत्यादि कितने ही नामों का उल्लेख किया, किन्तु एक नाम भूल गये।

वसवाणी जी के श्रोतृवर्ग में से एक मुसलमान भाई ने खड़े होकर सूचित किया—"महात्मा जी ! आपने सब नाम गिनाये, उनमें सर्वश्रेष्ठ (आदर्श चरित्र) राम का नाम भूल गये। राम जैसे आदर्श चरित्र महापुरुष का दर्शन जगत् के किसी भी साहित्य में मैंने नहीं पाया।"

वसवाणी ने अपनी भूल सुधारकर जाति के आदर्श महापुरुषों के रूप में राम का नाम जनता को सुनाया।

मैं श्रद्धानन्द स्वयं रामायण का भक्त हूँ। मेरे जैसे (रामायणानुरागी) भक्त को एक समय रामायण पर मुग्ध एक अंग्रेज अफसर मिले।[2] उन्होंने रामायण का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। उस अंग्रेज सज्जन ने मुझसे कहा कि "जगत् के वाङ्मय (साहित्य) में राम जैसा (आदर्श) पात्र मुझे कहीं नहीं मिला। मैं धर्म से ख्रिश्ती हूँ, ईसा का मैं अनुयायी हूँ, फिर भी रामचन्द्र जी को एक हिन्दू भक्त जिस भाव से पूजता है उसी भाव से मैं भी राम की पूजा करता हूँ। आप रामचन्द्र जी को मर्यादा पुरुषोत्तम कहते हैं, वैसे ही मुझे भी राम पुरुषोत्तम प्रतीत होते हैं। रामचरित्र का जिसमें वर्णन है वह रामायण मुझे जगत् का अद्वितीय महाकाव्य प्रतीत होता है। राम और रामायण के परिचय से मेरा जीवन सार्थक हो गया।"

इस प्रकार की रामायण की अपूर्वता और श्रेष्ठता को मैं पूर्णतया किस प्रकार बता सकता हूँ ! उस आदर्श महापुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के जीवन की मनोहरता को मैं आपके सामने किस प्रकार पूर्णरूप से बता सकता हूँ ! रामायण-रूपी महासागर के अन्तर्हित रत्नों को पूर्णतया आपके समक्ष किसी प्रकार उपस्थित कर सकूँगा, ऐसा मुझे विश्वास नहीं। फिर भी कथा के प्रवचन में अनुभवहीन मैं

---

१. साधु टी० एल० वास्वानी।

२. यह अंग्रेज महानुभाव थे ग्राउस, जिन्होंने रामचरितमानस का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। ये बुलन्दशहर में कलैक्टर रहे थे।

आपके सामने रामायण की कथा कहने का प्रयत्न करूँगा।

हिन्दू समाज की रचना का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकाश रामायण के रचयिता वाल्मीकि के नाम से ही मिलता है। रामायण के रचयिता† ऋषि वाल्मीकि कौन थे ? वे (महर्षि वाल्मीकि) पूर्वाश्रम में भील थे। वे अपने गुणों और कर्मों से ऋषि बने थे। यही रामायण का प्रथम उपदेश है। आज तो हिन्दू समाज में वर्ण उनके जन्म के ऊपर ही निर्भर है। आज अन्त्यज-कुल में जन्म लेनेवाले हिन्दुओं को मन्दिर में पैर धरने का भी अधिकार नहीं (ब्राह्मण बनने की बात तो दूर की है), परन्तु रामायण तो पुकार-पुकारकर कह रही है कि भील भी ब्राह्मण बन सकता है। रामायण आज के पतित हिन्दू समाज को उपदेश देती है कि वर्ण जन्म से नहीं, गुण-कर्म के ऊपर आश्रित है।

राम के पिता दशरथ की तीन रानियाँ थीं। हिन्दू धर्म का एकपत्नीव्रत का आदर्श चूकने का क्या परिणाम हुआ ? राम का वनवास। अतः रामायण के नायक रामचन्द्र जी ने जीवनभर एकपत्नीव्रत का पालन किया। इस प्रकार रामायण से सब हिन्दुओं के लिए एकपत्नीव्रत-पालन के अचल सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है। आज कितने राजा लोग इस सिद्धान्त को भंग करके अनेक पत्नियाँ करते हैं और उसके परिणाम भी बिना अपवाद के कड़वे (बुरे) ही होते हैं।

राजा दशरथ की सभा में मुनि विश्वामित्र पधारते हैं। राजा सिंहासन से उतरकर ऋषि के चरण-प्रक्षालन करके स्वागत करते हैं। मुनि को राजसिंहासन पर बिठाकर स्वयं हाथ जोड़ उनके सामने (नीचे) बैठते हैं और ऋषि की आज्ञा माँगते हैं। विश्वामित्र जी कुछ कहने से पूर्व राजा को वचन से बाँध लेते हैं(वचनबद्ध कर लेते हैं) और उसके पीछे यज्ञ की रक्षा के लिए राम, लक्ष्मण, दोनों को साथ ले-जाने के लिए कहते हैं। राजा दशरथ घबराते हैं। दोनों बालक राजकुमारों (राम, लक्ष्मण) को राक्षसों से लड़ने के लिए भेजने को राजा दशरथ का मन नहीं माना। उन्होंने मुनि से विनम्र प्रार्थना की, यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं सम्पूर्ण सेना को साथ ले चलूँ। परन्तु विश्वामित्र को तो राम, लक्ष्मण दोनों की ही आवश्यकता थी। राजा दशरथ वचन से बद्ध थे। इसलिए मन न मानने पर भी राम, लक्ष्मण को महर्षि के साथ भेजा। इस प्रसंग में एक वचन-पालन का आदर्श मिलता है। सच्चे क्षत्रिय वचन के लिए अपना सिर उतार देने को तैयार थे। आज ऐसे वचन पालन करनेवाले क्षत्रिय कहाँ हैं ? आज तो क्षत्रिय राजाओं के वचन का कुछ भी मूल्य नहीं रहा। सच्चा क्षत्रिय-तेज कहीं भी नजर नहीं आता। यही हिन्दू जाति के अधःपतन का मुख्य कारण है।

† यह लोकप्रसिद्धि के अनुरूप उल्लेख है। इतिहास से ज्ञात होता है कि महर्षि वाल्मीकि भार्गव वंश के महर्षि वल्मीक के पुत्र थे अर्थात् ब्राह्मण-वंशज थे। (यु० मी०)

ब्रह्मचारी राम और लक्ष्मण ने ब्रह्मचर्य के प्रभाव से सहस्रों राक्षसों का संहार कर विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की। निर्विघ्न पूर्णाहुति कराके ऋषि के साथ सीता के स्वयंवर दरबार में गये। स्वयंवर में शिवधनुष भंग करना था। इस शिवधनुष को ब्रह्मचारिणी सीता ने एक समय खेलते हुए सरलतापूर्वक उठा लिया था, ऐसा रामायण में वर्णन है। जिस धनुष को सीता ने बालकपन में उठा लिया था उसको आर्यावर्त के सहस्रों राजाओं में से कोई भी न उठा सका। लंकापति रावण भी न उठा सका। अन्त में विश्वामित्र की आज्ञा से रघुकुल-शिरोमणि रामचन्द्र ने उठाया और धनुष के टुकड़े टुकड़े कर दिये। इस प्रसंग में ब्रह्मचर्य का प्रताप गाया गया है। आज हमारे जीवन में इस ब्रह्मचर्य का स्थान कहाँ है?

सीता ने शिवधनुष को उठाकर ब्रह्मचारिणी की शक्ति का परिचय दिया। उस समय की आर्य नारी के ओज का एक दूसरा ज्वलन्त दृष्टान्त रामायण में मिलता है—

राजा दशरथ एक समय युद्ध के लिए गये। उनके साथ रानी कैकेयी भी गई। युद्ध में रथ की नेमि (धुरी) निकल गई। कैकेयी ने अपना हाथ (धुरी-स्थान पर) रख उसे स्थिर रक्खा और छाती टेक रथ को स्थिर रख दशरथ को विजय प्राप्त कराई। भारत की देवियाँ इस प्रकार रणस्थली में जाकर विजय पाती थीं। इस कारण भारत स्वतन्त्र था। ऐसी अन्तिम रणचण्डी वीरांगना झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई थी। एक अंग्रेज इतिहास-लेखक लिखता है—"सन् १८५७ की क्रांति का झण्डा जब तक लक्ष्मीबाई के हाथ में रहा और युद्ध की व्यूह-रचना जब तक लक्ष्मीबाई करती रही, तब तक अंग्रेजों की शक्ति नहीं थी कि वे क्रांतिकारियों को पीछे हटा सकें। उस समय क्रान्तिकारियों की तलवारों से अंग्रेजों के सिर धड़ाधड़ नीचे गिरते थे और शवों को पैरों से कुचलते हुए क्रान्तिकारी आगे बढ़ते थे। जब नाना साहब ने झाँसी की रानी के हाथ से झण्डा लेकर दूसरों के हाथ में दे दिया तब क्रान्तिकारियों का पराजय हुआ।"

आज भारत में कैकेयी अथवा लक्ष्मीबाई जैसी वीरांगनायें हैं? आज भारत में रणचण्डियाँ जन्म लेती हैं? आज स्त्रियों की दशा कैसी है?

गुजरात में परदे का रिवाज है ऐसा मैं जानता था, परन्तु काठियावाड़ में भी परदे की प्रथा है, ऐसा मैं नहीं जानता था। परदे की प्रथा मुसलमानों के साथ इस देश में आई है। बारहवीं सदी में भारतवर्ष में परदा नहीं था, तेरहवीं सदी में भी परदा दिखाई नहीं देता। चौदहवीं सदी में परदा भारत में आया। इसके पश्चात् काठियावाड़ में भी परदे का प्रचलन हुआ। मुसलमान हिन्दू स्त्रियों को उठाकर ले जाते थे। उनके साथ लड़ने की हमारी शक्ति नहीं थी। इसलिये स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा के लिए परदे की प्रथा आरम्भ हुई और उसी के साथ संरक्षण की वृत्ति से बालविवाह का अनाचार आरम्भ हुआ। कन्या की रक्षा में अशक्त पिता छोटी

आयु में विवाह करने लगे। उससे आज की निर्बल हिन्दू प्रजा का जन्म हुआ है।

राजा दशरथ को वानप्रस्थ लेना था। राम का राज्याभिषेक करके उसके सिर पर राज्य का बोझा डालना था। किन्तु उस समय आजकल जैसा एकतन्त्र सत्ता का समय न था। उस समय आदर्श प्रजानियन्त्रित राज्यतन्त्र का युग था। राजा ने राज्य के प्रजाजनों को बुलाया, ऋषियों को निमन्त्रण दिया। उनके समक्ष अपनी इच्छा प्रदर्शित की। प्रजा की सम्मति पर राम का राज्याभिषेक निश्चित हुआ।

आज भी राजाओं की रानियों के अन्तःपुर हैं। आज भी राज्याभिषेक होता है। किन्तु पुरुष (राजा) के जीवनभर साथ रहनेवाली अर्धांगिनी रानी का नहीं। विलायत में राजा जार्ज और रानी मेरी एकसाथ सिंहासन पर बैठते हैं। वहाँ पति-पत्नी, राजा-रानी दोनों का राज्याभिषेक होता है, परन्तु भारत में इस तरह नहीं होता। राम-युग में आज के जैसी परिस्थिति नहीं थी। राम-युग में पुरुष और स्त्री दोनों का साथ में राज्याभिषेक होता था। उस समय दोनों जने राज्य-धुरा को धारण करते थे।

राजा दशरथ ने राज्याभिषेक की सूचना देने के लिए राम और सीता को बुलाया। दोनों ने पिता की आज्ञा के प्रति सिर झुकाया। राज्याभिषेक की तिथि निश्चित हुई। पिता (दशरथ) ने राम और सीता को राज्याभिषेक के पूर्व-दिन उपवास करने की आज्ञा दी। पूर्व-रात्रि में शिलातल पर घास की शय्या पर सोने का आदेश दिया। इस प्रकार राम और सीता दोनों ने सम्पूर्ण रात्रि तपश्चर्या में व्यतीत की। रामयुग में राज्यधुरा धारण करनेवाले प्रजापालक (राजा) को संयम का आचरण करना पड़ता था। इतना तापस जीवन अंगीकार करना पड़ता था।

और आज उस तपश्चर्या का, उस संयम का आदर्श कहाँ है? आज तो राज्याभिषेक के समय राजकुमार मदान्ध बन जाते हैं। राजा के लिए अनुचित तमाशे (जलसे) और रागरंग जुड़ते हैं। हाल में कश्मीर में राज्याभिषेक-महोत्सव मनाया जा रहा है। समाचारपत्रों में छपा कि कश्मीर-नरेश हरिसिंह ने इस प्रसंग में पाँच लाख रुपये रण्डियों और नर्तकियों के बुलाने के लिए निकाले हैं और इसी तरह पचास लाख रुपये व्यर्थ खर्च करने का कार्यक्रम बनाया है। आज हमारी ऐसी दशा है। आज हमारे राजाओं में से प्रजापति बनने की योग्यता जाती रही, प्रजापालक बनने के लिए उपयुक्त तपश्चर्या और संयम का राजाओं में अभाव हो गया है। भारत के देशी राजाओं के (नाश के) लिए स्वेच्छाचारिता की

भयंकर अग्नि अन्दर-ही-अन्दर उठ रही है[1] (वह उन्हें नष्ट कर देगी)।

राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर राम की सौतेली माता कैकेयी के हृदय में द्वेषाग्नि प्रकट हुई। जब रात में प्रसन्नचित्त दशरथ कैकेयी के महल में प्रविष्ट हुए तब कैकेयी ने राजा से पूर्व-स्वीकृत दो वर मांगे। तदनुसार राम को वनवास और भरत को राज्यगद्दी की प्राप्ति की कैकेयी ने माँग की। यह सुनकर दशरथ मूछित हो गये। सारी रात मूर्छा में बीती। प्रभात-वेला में पिता दशरथ और माता कैकेयी को प्रणाम करने के लिए राम कैकेयी के महल में आए। राम ने पिता को मूछित देखा। रामचन्द्र जी ने पिता से बार-बार आज्ञा करने के लिए कहा, फिर भी पिता कुछ नहीं बोले। तब राम को बहुत दुःख हुआ। पिता जी क्यों नहीं बोलते? मेरे से क्या अपराध हुआ? पिता जी आज्ञा करें तो मैं अग्नि में प्रवेश कर सकता हूँ, अपना सिर समर्पित कर सकता हूँ, समुद्र में डूब सकता हूँ।[2] पिता जी की आज्ञा का मैंने कभी उल्लंघन नहीं किया, फिर भी आज पिता जी मुझसे रुष्ट क्यों हैं? राम पिता के पास स्तब्ध होकर खड़े हो गये।

अन्त में कैकेयी ने अपने वचन (वरदान) की बात सुनाई और पिता के वचन-पालन के लिए चौदह वर्ष के लिए वनवास में चले जाने की आज्ञा दी। यह सुनकर राम के मुख-मण्डल की एक रेखा भी विकृत नहीं हुई। जिस आनन्द से पितृवन्दना करने के लिए आये थे उसी आनन्द से पिता की आज्ञा पालने के लिए वन में चलने की तैयारी की। कैसी उद्विग्नता से रहित योगी के समान निःस्पृहता थी? राम ने राज्य छोड़कर वन का मार्ग लिया। इस प्रसंग में पुत्र-धर्म का उपदेश (आदर्श) है। राम जैसे आज्ञापालक पुत्र आज कहाँ हैं?

राम को जब वनवास मिला, उस समय भरत जी अपने ननिहाल (मामा के घर) में थे। वे वापस आये। कैकेयी ने वात्सल्य-भाव से भरत को राजमुकुट धारण करने को कहा, परन्तु भरत ने उसे स्वीकार नहीं किया। माता को इस अनुचित कृत्य के लिए बहुत धिक्कारा। भरत अयोध्या के कुछ प्रजाजनों को साथ लेकर राम को वापस लाने के लिए चित्रकूट गये। राम ने भरत की प्रार्थना स्वीकार नहीं की और पिता की आज्ञानुसार वन में रहना ही पसन्द किया। राम की इस अस्वीकृति से शोकान्वित होकर भरत और प्रजाजन वापस लौटे।

---

१. श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की उक्त भविष्यवाणी सर्वथा सत्य हुई। सम्पूर्ण रजवाड़े आज समाप्त हो गए। थोड़े दिनों में उनका नाम-निशान भी मिट जायेगा।

२. अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जयेमपि चार्णवे।। वाल्मीकीय रामायण
अयोध्याकाण्ड १८/२८,२९

भरत ने जब तक राम वनवास से वापस न लौटें तब तक तपश्चर्या करने का और राम की पादुका सिंहासन पर रखकर राज्य चलाने का निश्चय किया। चौदह वर्ष तक राम-पादुका के अनुचर बनकर भरत ने अयोध्या का राज्य चलाया। भरत जैसे भ्रातृधर्म पालन करनेवाले भाई आज कहाँ हैं ?

भरत जब कुछ प्रजाजनों के साथ (राम को लौटाने के लिए) चित्रकूट की ओर जा रहे थे तब मार्ग में एक नदी के तट पर निषाद राजा उनके स्वागत के लिए खड़े थे। निषाद अर्थात् पञ्चम जाति (शूद्र से भी नीच) की मान्यता को अशास्त्रीय ठहराकर भरत जी ने निषादराज को गले लगाया। उसके हार्दिक स्वागत को हर्षित हो स्वीकार किया। वेद में चार वर्ण हैं, पाँचवाँ वर्ण कैसे हो सकता है ? भरत ने निषादराज और लाखों भीलों को चातुर्वर्ण्य में मिलाकर उनका उद्धार किया।

इस प्रकार भरत के मार्ग पर चलनेवाले क्षत्रिय आज कहाँ है ? आज तो सात करोड़ अछूत भरत-जैसे उदार क्षत्रिय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इन अछूतों की कितनी महान् सेवायें हैं ! यदि हमारे में कद्रदानी (कृतज्ञता) हो तो इन अछूतों को, इन भीलों को एक क्षण के लिए भी हम अपने से अलग नहीं कर सकते, इतना महान् उपकार इन अछूतों का हमारे ऊपर है।

'हिन्दूपति'' विशेषण प्रजा ने एक "प्रताप" को ही दिया।[1] प्रताप की सब सेना मुसलमान बादशाहों से युद्ध करते-करते नष्ट हो गई और प्रताप अकेले निस्सहाय हो गये। उस समय हिन्दूपति महाराणा प्रताप की रक्षा किसने की ? उन अछूत धनुर्धारी भीलों ने ही अपने शरीरों के शवों का परकोटा बनाकर महाराणा प्रताप की रक्षा की। तदनन्तर छत्रपति शिवाजी के प्राणों की रक्षा करने वाले भी अछूत ही थे। तत्पश्चात् गुरु तेगबहादुर का सिर जब शत्रु की तलवार से कटकर पृथिवी पर गिरा तब उस सिर को उठाकर यत्नपूर्वक बाँस की टोकरी में रखकर गुरु गोविन्दसिंह के पास उस मस्तक को ले-जानेवाला और भक्तिपूर्वक गुरु के सिर को उन (गोविन्दसिंह) के चरणों में अर्पण करनेवाला भंगी ही था। अछूतों की ऐसी दशा इतिहासप्रसिद्ध सेवायें हैं। आज हम उन सेवाओं का बदला किस तरह दे रहे हैं ?

राम ने पिता की आज्ञा पालन करने के लिए चित्रकूट छोड़कर आगे भीषण वन में प्रवेश किया। राम को पिता की आज्ञा थी कि चौदह वर्ष वन में तपश्चर्या करना। राम के साथ स्वेच्छापूर्वक वनवास स्वीकार करनेवाले लक्ष्मण की प्रतिज्ञा थी—चौदह वर्ष बड़े भाई की सेवा करना। राम की छाया-सदृश साथ रहनेवाली सीता ने व्रत लिया—राम के चरणों का अनुसरण कर राम के साथ

---

१. हिन्दूपति परताप पत राखी हिंदुआन की।

सब प्रकार की कठोर तपश्चर्या करूँगी। राम, लक्ष्मण और जानकी, इन तीनों ने उक्त निश्चय किस दृढ़तापूर्वक पाला, इसके अनेक उदाहरण रामायण में मिलते हैं। उसमें सबसे ज्वलन्त उदाहरण राम-सीता के अखण्ड ब्रह्मचर्य का है।

रावण ने सीता का हरण किया। राम और लक्ष्मण सीता की खोज में भटकते-भटकते वानरों की किष्किन्धा नगरी के समीप पहुँचे। सीता को पीठ पर लादकर रावण जब आकाश-मार्ग से लंका की ओर जाते हुए किष्किन्धा के पास से निकला तब वानरों के झुण्ड में सीता ने अपने कुछ गहने गिरा दिये। उनमें हाथ के (बाजूबन्द), कान के कुण्डल और पैरों के नूपुर (बिछुए) थे। वानर राजा सुग्रीव ने उन आभूषणों को राम के चरणों में रख दिया। रामचन्द्र जी उनमें से एक भूयण को भी न पहचान न सके। तब लक्ष्मण ने उन भूषणों को देखना आरम्भ किया और कहा—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वाभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥[1]

अर्थात्—मैं बाज़ूबन्द और कुण्डलों को नहीं पहचानता, हाँ नूपुरों (बिछुओं) को अच्छी प्रकार जानता हूँ, नित्य (सीता माता के) के पैरों की वन्दना करने के कारण। ये नूपुर सीता माता के ही हैं।

लक्ष्मण सीता जी के एकमात्र नूपुर (बिछुए) ही पहचान सके और राम किसी भी अलंकार को नहीं पहचान सके। इससे विदित होता है कि वनवास की चौदह वर्ष की अवधि में राम ने सीता की देह पर दृष्टि तक न डाली थी। इस अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही राम ने राक्षसों के समूह का संहार किया और रावण के सिर को नीचे गिराने का बल प्राप्त किया। आज भी ऐसा ब्रह्मचारी पैदा होवे तो संसार उसके बल से चकित हो उठे। परन्तु आज ऐसा ब्रह्मचारी कहाँ है?

सीता जी अशोक वाटिका में अकेली रहती थीं। रावण और उसके अनुचर प्रतिदिन सीता के पास जाकर अनेक प्रकार की धमकियाँ दिया करते थे। परन्तु सीता जी आँख तक ऊपर नहीं उठाती थीं। यदि सती सीता आँख उठाकर भी देख लेतीं तो राक्षस जलकर भस्म हो सकते थे। फिर भी सीता ऐसा क्यों नहीं करती थीं?

सीता जी को ढूँढने के लिए हनुमान जी समुद्र लाँघकर लंका आये और कूदते-फुदकते अशोक वन में जा पहुँचे। वहाँ देखा कि सीता जी राक्षसियों का सताना चुपचाप सहन कर रही हैं। यह देखकर हनुमान जी सोचने लगे कि क्षण-मात्र में त्रैलोक्य को भस्म करने की सामर्थ्य रखनेवाली सीता माता इतना त्रास

१. वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धा काण्ड ६/२१, २२

क्यों सहन करती हैं ? उन्होंने सीता जी के पास से राक्षसियों को भगाकर अपनी समस्या का उत्तर माँगा। सीता जी ने उत्तर दिया—

पुत्र हनुमान ! मैं अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से, अपने सतीत्व के तेज से रावण को भस्म कर सकती हूँ, किन्तु रामचन्द्र जी की अनुपस्थिति में मैं अपना यह पुण्य-संचय खर्च करना नहीं चाहती। रामचन्द्र जी जब तक मेरे साथ न होंगे तब तक अशोक वन में रहकर उनके नाम की माला फेरती रहूँगी।

हनुमान जी ने दर्शन करके और उनके ऊपर राक्षसों द्वारा किये गए अत्याचारों को देखकर सीता जी को अशोक वन में छोड़कर वापस जाना ठीक न समझा। उन्होंने सीता जी के चरणों में सिर नवाकर प्रार्थना की—हे मातः ! आपका दुःख मुझसे सहा नहीं जाता। आपको अकेला छोड़कर लौटने को मेरा मन नहीं चाहता। इसलिए आपको मैं पीठ पर बैठाकर रामचन्द्र जी के पास ले जाना चाहता हूँ।

सीता जी को ऐसी ब्रह्मचर्य की भावना से और तपश्चर्या के प्रभाव से ही लव और कुश जैसे धीर शिरोमणि पुत्रों की प्राप्ति हो सकी। आज सीता जी के आदर्शों का एक सहस्रांश भी भारत की महिलाओं के आचरण में दृष्टिगोचर नहीं होता। भारत की देवियों के जीवन में सीता जी का ब्रह्मचर्य नहीं है, सीता जी का तेज नहीं है, सीता जी की तपश्चर्या नहीं है। इसलिए आज भारत में लव-कुश के दर्शन अशक्य हैं। इसलिए भारत की आज यह दुर्दशा है।

रावण की मृत्यु हुई। लंका में रामचन्द्र जी के विजय की दुन्दुभी बजने लगी। सीता जी को अशोक-वाटिका से सजधज के साथ रामचन्द्र जी के पास लाया गया। सीता जी की विशुद्धि के लिए अग्निकुण्ड तैयार हुआ। सीता जी अग्निकुण्ड में पड़कर अपनी पवित्रता की परीक्षा देने को तैयार हुईं। तब रामचन्द्र जी सीता जी का हाथ पकड़कर बोले—देवि, ऐसा मत करो ! हम लोगों को तुम्हारी पवित्रता का पूर्ण विश्वास है। रामचन्द्र जी ने सीता जी को अपने साथ (अयोध्या के) सिंहासन पर बैठाया। सीता-राम की युगलमूर्ति सिंहासन पर शोभित हुई। रामायण पूर्ण हुई।

सारी रामायण में एक बात माननीय है। राम के युग में स्त्रियों को सब प्रकार की स्वतन्त्रता थी। स्त्री पुरुष के समान अधिकार पाती थी; इतना ही नहीं, किन्तु पुरुषों से अधिक सम्मान की अधिकारिणी मानी जाती थी। रामायण में सर्वत्र 'सीताराम' ही लिखा गया है। कहीं भी 'राम सीता' नहीं लिखा गया, अर्थात् उस समय पहले सीता और पीछे राम का नाम बोला जाता था। आज जो युरोप स्त्रियों के बहुमान के लिए संसारभर में प्रसिद्ध है, वहाँ भी स्त्रियों का राम-युग जैसा गौरवयुक्त स्थान नहीं है। विलायत आज राजा जार्ज और रानी मेरी बोला जाता है अर्थात् रानी का नाम पीछे लिया जाता है, पहले नहीं;

किन्तु राम के युग में कोई सीताराम के बदले रामसीता बोले तो वह अपराधी माना जाता था।

रामचन्द्र जी अयोध्या आए। अयोध्या के राज्यसिंहासन पर रामचन्द्र जी अभिषिक्त हुए। प्रथम बार राजसभा लगी। लंका से साथ आये वानर सुभट (वीर) राजसभा में मानार्ह (उच्च) स्थानों पर बैठे। वानर वीरों के सेनानी हनुमान जी भी अपने आसन पर विराजमान हुए। रामचन्द्र जी सब सुभटों को उनकी वीरता के लिए पारितोषिक देने लगे। सबको पारितोषिक दियें गए। किन्तु हनुमान जी को कुछ भी पारितोषिक न मिला। सीता जी को यह देखकर आश्चर्य हुआ। सीता जी ने अपने गले में से सच्चे मोतियों का महा-मूल्यवान् नवलखा हार उतारकर हनुमान जी के गले में डाल दिया। हनुमान जी उस हार के एक-एक मोती को तोड़कर नीचे फेंकने लगे। इस प्रकार महामूल्यवान् हार के पाँच-छः मोती तोड़कर फेंक दिये। सीता जी कुछ न समझ सकीं। सीता जी को हनुमान जी का यह वानर-सुलभ चापल्य देखकर दुःख हुआ। उन्होंने हनुमान जी को मोती तोड़ने से रोका।

तब हनुमान जी बोले—माता जी ! आपका यह महामूल्यवान् हार मेरे लिए निष्प्रयोजन है। मैं हार के हरएक मोती को तोड़कर भीतर देखता हूँ, परन्तु उनके भीतर कहीं भी राम नाम दिखाई नहीं देता, और जिसमें राम नाम न हो, ऐसी किसी भी वस्तु की मुझे क्या आवश्यकता ? हनुमान जी का उत्तर सुनकर सीता जी चकित हो गईं। आज ऐसे हनुमान जी कहाँ हैं ? ऐसा भक्त-शिरोमणि कहाँ है ?

राम और दयानन्द

महर्षि दयानन्द जी का जीवन मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के जीवन से अनेक अंशों में मिलता है। किन्तु रामचन्द्र जी को हनुमान जैसा सेवक मिला, और दयानन्द को नहीं मिला। इसलिए दयानन्द का जीवन-कार्य अधूरा रहा।

ऐ महर्षि दयानन्द के अनुयायियो ! ब्राह्मणो ! क्षत्रियो ! हिन्दुओ ! यदि आप दयानन्द जी को चाहते हैं, यदि आप हिन्दुत्व के उद्धार के कार्य की सहायता करना चाहते हैं, तो आप हनुमान जी जैसे सेवक बनें। राम अथवा दयानन्द के चित्र के पीछे पागल बननेवाले झूठे सेवक नहीं। परन्तु अन्तर में राम नाम रखनेवाले, और दयानन्द जी का जीवन-कार्य अपनाकर सच्चे सेवक बनो।

रामायण महाकाव्य में पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के जीवन में सब प्रकार का जीवन-धर्म लिखा है। परन्तु आज इस रामायण का पठन-पाठन नष्ट हो गया। इसलिए उसमें उपदिष्ट जीवन-धर्म के आचरण का अवकाश ही कहाँ रहा ?

भारत के क्षत्रिय वीरो ! आप अपने-आपको रघुवंश का वंशज मानते हैं, उस

रघुवंश को उज्ज्वल करने के लिए और जिस हिन्दूधर्म के रक्षक के रूप से आपका गौरवयुक्त यशोगान गाया जाता है उस हिन्दूधर्म की रक्षा करने के लिए आप सच्चे क्षत्रिय बनें। रामायण में बोधित क्षात्र धर्म को अपने जीवन में भरो।

हे भारत की देवियो! जैसे रामचन्द्र जी का सब बल सीता के आधार पर ही था, उसी तरह आज भारत के उद्धार का महान् कार्य आपके बिना, आर्य महिलाओं की सहायता के बिना सिद्ध होना अशक्य है।

ओ देवियो! तुम सीता बनो, तुम लव-कुश की जन्मदात्री वीर माताएँ बनो, तुम हनुमान जी को अपने उदर में धारण करनेवाली अंजना देवी बनो।

ऐ आर्य महिलाओं! ऐ क्षत्रियो! आप दोनों के वर्चस्व के ऊपर ही भारत के उद्धार का आधार है।[1]

---

१. यह कथा स्वामी श्रद्धानन्द ने शिवरात्रि वि० सं० १९८३ (१९२६ ई०) में स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के प्रसंग में टंकारा में प्रस्तुत की थी।

ओ३म्

वेदानुकूल संक्षिप्तमनुस्मृतिः

भूमिका

"मनु ने जो कुछ कहा है वह ओषधि की भी ओषधि है" यह ब्राह्मण-वाक्य आज समझ में नहीं आता। कारण यह है कि मनु ने क्या कहा था उसका आज निश्चय होना असम्भव-सा हो गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मनु के जिस ग्रन्थ का वर्णन है वह श्लोकबद्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि उस समय शास्त्रों के लेख की यह विधि ही न थी। मानवधर्मसूत्रों का कहीं-कहीं वर्णन अवश्य आता है, किन्तु इस समय उनका सर्वथा अभाव है। उस सूत्रग्रन्थ के आधार पर जो एक लक्ष श्लोकों का ग्रन्थ बना था, उसका भी इस समय कहीं चिह्न दिखाई नहीं देता। उसका वर्णनमात्र ही १२ सहस्र श्लोकवाली नारदसंहिता में मिलता है। उस नारद-संहिता के आधार पर जो भृगुसंहिता बनी है उसी को मनुस्मृति के नाम से प्रसिद्ध किया गया है।

जब ऐसी अवस्था है तो समझ में नहीं आता कि कुछ विद्वानों ने किस प्रमाण से वर्त्तमान मनुस्मृति के कतिपय श्लोकों को प्रक्षिप्त ठहराया है। यदि मानवधर्म-सूत्र मिल सकते तो उनके साथ मुकाबिला करके यह कहा जा सकता था कि वर्त-मान पुस्तक के कौन-कौन-से श्लोक मनु के मन्तव्य के विरुद्ध हैं। किन्तु वर्तमान दशा में ऐसा निश्चय करना असम्भव ही है।

इस मनुस्मृति में जो २२६८ श्लोक हैं उनके विषय में यह कहना कठिन है कि कब-कब और किस-किस ने उन्हें बनाया। ग्रन्थ की शैली से प्रतीत होता है कि इसका बनानेवाला न मनु और न भृगु ही है, प्रत्युत किसी तीसरे ने ही ऋषियों के नाम से यह ग्रन्थ जोड़-तोड़ करके बना दिया है। बहुत-से विद्वानों ने इस ग्रन्थ को ठीक मनु भगवान् का बनाया समझकर वे सर्वश्लोक ग्रन्थ से पृथक् कर दिये हैं, जिनमें मनु भगवान् का नाम आया है। मैंने ऐसा करना ठीक नहीं समझा, क्योंकि मेरी सम्मति में यह ग्रन्थ इन महानुभावों में से किसी का बनाया हुआ भी सिद्ध नहीं होता। यही कारण है कि मैंने लम्बी छानबीन की भूमिका अनावश्यक समझी है।

---

१. मनुर्वैयत्किंचिदवदत्तद्भेषजं भेषजताया। (छान्दोग्य ब्राह्मण)—सम्पादक।

इस ग्रन्थ का नाम मैंने वेदानुकूल संक्षिप्त मनुस्मृति रक्खा है। वेदानुकूल तो इस लिए कि अपनी बुद्धि के अनुसार मैंने एक भी ऐसा श्लोक नहीं रहने दिया जिसका आशय वैदिक शिक्षा से विरुद्ध हो, और संक्षिप्त इसलिए कि मनु ने जिन-जिन विषयों पर जिस विस्तार से कभी लिखा था, उसका चतुर्थांश भी हम लोगों तक नहीं पहुँचा है।

जिन श्लोकों को त्याज्य समझा है, उनको दो हेतुओं से इस ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया। एक हेतु तो उनके आशय का वेदविरुद्ध होना है और दूसरा ग्रन्थ के माने हुए विषयों के प्रतिकूल होना। जहाँ-जहाँ मृतकश्राद्ध तथा मद्य-मांसादि के विधानपूर्वक तथा स्त्रियों के अपमानसूचक श्लोक दिखाई दिये, उनको तथा ऐसे ही अन्य श्लोकों को वेदविरुद्ध समझकर छोड़ दिया। दूसरे ऐसे श्लोक निकाल दिये गए जो धर्मशास्त्र के विषय को प्रतिपादन ही नहीं करते। दृष्टान्त के लिए प्रथमाध्याय का सृष्टि-प्रकरण केवल इसी विचार से छोड़ा गया कि वह धर्मशास्त्र का विषय नहीं है। कूर्म्मपुराण तक में लिखा है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्॥

फिर सृष्टि-उत्पत्ति के विषय से धर्मशास्त्र का क्या सम्बन्ध?

वैदिक वर्णाश्रम-धर्म-सम्बन्धी शिक्षा गुरुकुल में देने के लिए मनुस्मृति का पढ़ाना आवश्यक था। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के लिए ही मैंने यह परिश्रम किया है। किन्तु गुरुकुल के अतिरिक्त अन्य संस्कृत की पाठशालाओं तथा धर्म के जिज्ञासुओं के लिए भी यह पुस्तक बड़ी लाभदायक सिद्ध होगी। मेरा खयाल है कि वेदविरुद्ध आशययुक्त श्लोकों के अलग करने से मनुस्मृति का गौरव बढ़ेगा और जो मान इस समय कृष्ण की गीता का हो रहा है उससे बढ़कर सन्मान मनुस्मृति और उपनिषदों के हिस्से आवेगा।

श्लोकों के विषयों की पड़ताल तथा उनके संग्रह करने में मेरे धर्म-भाई श्री पण्डित ब्रह्मानन्द जी ने मुझे बहुत सहायता दी है, जिसके लिए मैं उन्हें विशेष धन्यवाद देता हूँ। अन्तिम प्रूफ़ देखने में जो कष्ट गुरुकुलाध्यापक श्री पं० रलाराम शास्त्री जी ने उठाया है उसके लिए उनका अनुग्रहीत हूँ॥

गुरुकुलाश्रम —मुंशीराम
१३ कार्त्तिक सम्वत् १९६६ विक्रमी

भारतीय नवजागरण में आर्यसमाज तथा उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की भूमिका के अधिकृत व्याख्याकार **डा० भवानीलाल भारतीय** का जन्म राजस्थान प्रांत के अंतर्गत नागौर जिले के ग्राम परबतसर में आषाढ़ कृष्णा ३ सं. १९८५ वि. को हुआ। उनकी उच्चस्तरीय शिक्षा जोधपुर में हुई। उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में एम. ए. तथा 'संस्कृत भाषा और साहित्य को आर्यसमाज का योगदान' शीर्षक विषय पर राजस्थान विश्वविद्यालय से ही पी. एच. डी. की उपाधि ग्रहण की।

डा० भारतीय को आर्यसमाज लेखन क्षेत्र में अवतीर्ण हुए ३७ वर्ष हो चुके हैं। इस बीच उन्होंने लगभग ६० छोटे बड़े ग्रन्थों का प्रणयन, सम्पादन, अनुवाद आदि किया है। दयानन्द सरस्वती की निर्वाण शताब्दी के अवसर उन्होंने नवजागरण के पुरोधा शीर्षक दयानन्द सरस्वती का शोधपूर्ण, बृहद, जीवनचरित लिखा था। आर्यसमाज के वेदविद् विद्वानों, शास्त्रार्थ महारथियों, पत्रकारों एवं लेखकों पर अनेक अनुसंधानपूर्ण ग्रंथ छप चुके हैं। पं. लेखराम पुरस्कार, पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय स्मारक साहित्य पुरस्कार, विद्यावती शारदा साहित्य पुरस्कार तथा पं. गोवर्धन शास्त्री स्मारक पुरस्कार आदि से सम्मानित डा० भारतीय आर्यसमाज की साहित्यिक एवं अनुसंधानात्मक गतिविधियों में विगत तीन दशाब्दों से निरन्त सम्बद्ध रहे हैं।

वे आर्यसमाज की संगठनात्मक गतिविधियों में भी निरन्तर भाग लेते रहे हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के मन्त्री तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्षों तक वे अन्तरंग सदस्य तथा उपमंत्री रहे। दो दशाब्द से भी अधिक समय तक राजस्थान की कॉलेज शिक्षा सेवा में रहने के पश्चात् वे विगत सात वर्षों से पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द अनुसंधान पीठ के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर पद पर कार्यरत हैं। स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित रचनाओं के वैज्ञानिक रीति के संपादन, विवेचन तथा अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद आदि से प्रो. भारतीय की सारस्वत साधना सम्यक् रूप से परिलक्षित होती है। आर्यसमाज विषयक शोध और अनुसंधान के बारे में भारतीय एवं विदेशी विद्वान उनसे प्रामाणिक परामर्श लेने में गौरव का अनुभव करते हैं।